

## समर्पण

महाकवि कालिदास, बाण-भट्ट तथा श्रीहर्ष की स्मृति में

लक्षण एवं लक्ष्य दोनों का जब तक एक समन्वयात्मक प्रतिबिम्बन प्राप्त हो तो शास्त्रीय सिद्धान्तों (लक्षणों) का क्या मूल्यांकन ? यद्यपि जहाँ अभी तक भारतीय स्थापत्य (विशेषकर चित्र-कला) पर केवल पुरातत्वीय विवेचन हो सका, वहाँ साहित्य-निबन्धनीय इस विवेचन (दे० पृ० ११२-१२४) ने तो चित्र-कला को वितना भारतीय जीवन का अभिन्न अंग सिद्ध कर दिया है—यह सब इन तीन प्रमुख महाकवियों के कार्यों की देन है।

—शुक्ल (द्विजेन्द्र नाथ)

## निवेदन

हमारा समीक्षण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र-प्रथम भाग-भवन-निवेश-मध्यम, द्वितीय अनुवाद, मूल-पाठ तथा वास्तु-पदावली निबल ही चुका है। उसके परिशीलन से विद्वान् पाठक तथा प्राचीन भारतीय स्थापत्य में रुचि रखने वाले आधुनिक इंजीनियर तथा आर्किटेक्ट्स एवं कला-कोविद इन सभी ने अपनी प्राचीन देन का अवश्य मूल्यांकन किया होगा। भारत का यह स्थापत्य Hindu Science of Architecture कितना वैज्ञानिक और प्रबुद्ध था—इसमें अब किसी को असमंजस में पड़ने की आवश्यकता नहीं रही है। हमारे देश के बहुत से भारत-भारती के विशेषज्ञ अभी तक इन वास्तु-शास्त्रीय प्रयोगों को न वैज्ञानिक मानते रहे, न उनको समझने में सफलता मिल सकी, अतः वे यही आश्रित करते आये हैं कि वे ग्रंथ पौराणिक हैं, कपोल-बल्पित हैं अथवा अति-रजित हैं।

**भवन-निवेश**—यह ग्रन्थ एक प्रकार से भारतवर्ष के स्थापत्य में पुनरुत्थान कर सकता है। यह पुनरुत्थान भारत के आधुनिक स्थापत्य में स्वर्ण-युग Renaissance का प्रादुर्भाव प्रकट कर सकता है, यदि लोग इसको ठीक तरह से पढ़ें और इंजीनियरिंग (Civil Engineering) और आर्किटेक्चर के कोर्स में इसे सम्मिलित करें। अनुसन्धान-वर्तियों का काम अन्वेषण करना है, उसका रूप प्रकट करना है। जहाँ तक उसका उपयोग और उसकी उपादेयता का प्रश्न है, वह तो शासकों और सचालकों के हाथ में है। हमारे देश की जल-वायु के अनुकूल, संस्कृति तथा सम्पत्ता के अनुकूल, रहन-सहन-आचार-विचार-निवास-परिधान के अनुरूप जैसा भवन-निवेश हमारे पूर्वजों ने परिवर्तित किया था, वही हमारे देश के लिए अनुकूल है तथा कल्याणकारी है।

वैपरीत्याचरण से एवं पश्चिम के अध्यानुकरण से इस दिशा में महान् अनर्थ तथा क्षति की पूर्ण सम्भावना है। इस उष्ण-प्रधान देश में सीमट (पत्थर) के सम्भे तथा छतों और दीवारों महान् हानिकारक है। इसी लिए हमारे पूर्वजों ने जहाँ बड़े-बड़े उत्तुंग शिखरावलियों से विभूषित, नाना विमानों से प्रलङ्घित मन्दिर, प्रासाद, धाम, राज-बेशम बनवाये वहाँ अपने निवास के

लिए शाल-भवन ही अनुकूल समझते रहे, जिन में छप्परो (छावो) तथा मार्तिक भित्तियो तथा काष्ठ-विनिर्मित, खनित, सज्जित स्तम्भों का ही प्रयोग किया जाता रहा है। इसका आधार निम्नलिखित पौराणिक तथा आगमिक आदेश था—“शिलाकुड्य शिलास्तम्भ नरावासे न योजयेत्”।

**राज-निवेश एवं राजसी कलायें**—प्रस्तु, इस दिग्दर्शन के उपरान्त अब हम अपने इस प्रकाशन—राज-निवेश एवं राजसी कलायें—यन्त्र एवं चित्र के साथ राज-निवेश (Palace Architecture) की ओर आते हैं। इस ग्रन्थ में चित्र-कला विशेष व्याख्यात है। राज-निवेश पर इस निवेदना में विशेष निवेदन की आवश्यकता नहीं, वह अध्ययन में पड़े। जहाँ तक यन्त्र एवं चित्र का साहचर्य है, वह सब राज-संरक्षण ही आधार था।

आज तक भारतीय यान्त्रिक विज्ञान पर कहीं भी किसी ने भी खोज नहीं की। बात यह है कि यद्यपि यन्त्रों के, विमानों (जैसे पुष्पक-विमान आदि) के नाम सन्दर्भ प्राचीन साहित्य में प्राप्त होते हैं, परन्तु इस विज्ञान पर समरागण-सूत्रधार को छोड़कर कहीं पर किसी भी ग्रन्थ में आज तक यह विज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है। मैं अपने प्रमेजी ग्रन्थ—*Vastusastra Volume I—Hindu Science of Architecture* में इस यन्त्र-विज्ञान पर पहिले ही व्याख्या कर चुका हूँ। अब हिन्दी में यह प्रथम प्रयास है और पाठक तथा विद्वान् इस ग्रन्थ के परिशीलन से अपने भूत का मूल्यांकन अवश्य कर सकेंगे।

अब आइये चित्रकला की ओर। यद्यपि भारत के चित्र-कला-निदर्शन जैसे अजन्ता, वाघ सिंगरिया आदि प्रख्यात चित्र-पीठों पर जो उपलब्ध हो रहे हैं, उन पर बहुत से विद्वानों ने कलम चलाई है और ऐतिहासिक समीक्षा भी की है, परन्तु शास्त्र (Canons) और कला इन दोनों का समन्वयात्मक अथवा आधारधेय-भावात्मक (Synthetic) समीक्षण किसी ने नहीं किया है। सर्वप्रथम श्रेय डा० स्टैला कैमरिश को है, जिन्होंने चित्र-शास्त्र के प्राचीन-कीर्ति पुराणा-ग्रन्थ विष्णु-धर्मोत्तर का अंग्रेजी में अनुवाद किया तथा एक भूमिका भी लिखी। उन के बाद यह मेरा परम सोभाग्य था कि मैंने अपने डी० लिट्० के अनुसन्धान के लिए *Foundations and Canons of Hindu Iconography and Painting* जो विषय चुना था, उसी ने मुझे यह अवसर दिया कि 'समस्त चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थों जैसे भरत का नाट्य-शास्त्र, \* रत्न शिल्प, सारस्वत-चित्र-दर्पण, विष्णु-धर्मोत्तर, समरागण-सूत्रधार, अपराजित पृथ्वा, मानसोल्लास

आदि सभी प्राप्त चित्र-ग्रन्थों का परिशीलन, प्रालोडन, अनुसन्धान, गवेषण और मनन के उपरान्त हमने एक अति वैज्ञानिक तथा पाण्डितिक चित्र-लक्षण बनाया और उसको पुनः व्याख्यात्मक तथा ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दोनों परिपाटियों में एक प्रबन्ध प्रस्तुत किया।

इस प्रबन्ध (Hindu Canons of Painting) को देखकर भारत के प्रख्यात तथा धुरन्धर विद्वानों ने जैसे महामहोपाध्याय मिरासी, डा० जितेन्द्र नाथ बैनर्जी, प्रो० सी० डी० चॅटर्जी आदि ने बड़ी ही प्रशंसा की और महा तक लिख मारा—This is a land-mark in Contemporary Indology both in India and Europe

मेरे पी०एच०डी० अनुसन्धान (A Study of Bhoja's Samarangana Sutradhara—a treatise on the science of Art and Architecture) पर प्रख्यात कला-समीक्षक एवं प्रपितकीति डा० जितेन्द्रनाथ बैनर्जी तथा स्व० डा० थासुदेव शरण अग्रवाल ने अभूतपूर्व प्रशंसा ही नहीं की वरन् लखनऊ विश्व-विद्यालय को बधाई भी दी। मेरे लिए उनका यह वाक्य (The award of Ph.D. Degree is the least credit for such a scientific and conscientious labour) बड़ा प्रेरणा-प्रदायक मिष्ट हुषा, जिस से मैंने इस विषय को आजीवन निष्ठा के रूप में अंगीकृत कर लिया है। इन दोनों प्रबन्धों की वरेण्य प्रशंसा एवं कौर्ति के कारण संस्कृत के महान् सरक्षक एवं शुभ-चिन्तक डा० देशमुख (भूतपूर्व यू०जी०सी०, चेयरमेन) ने इनके विस्तृत अध्ययन-पुरस्कार दो बृहदाकार ग्रन्थों के रूप में परिणत करने के लिए दस हजार रुपये का अनुदान दिया। उसी के कारण मेरे ये दो अंग्रेजी ग्रन्थ भी प्रकाशित हो सके—

1—Vastu-Sastra Volume I—Hindu Science of Architecture with esp. reference to Bhoja's Samarangana-Sutradhara

2—Vastusatra Volume II—Hindu Canons of Iconography and Painting.

अपने अंग्रेजी ग्रन्थों में इनका पूर्ण विस्तार एवं कला और शास्त्र दोनों दृष्टियों से इनका प्रतिपादन किया। हिन्दी के पारिभाषिक साहित्य का शोध-गणेश करने का जो मैंने शीड़ा उठाया था, अपनी कृतियों से भारतीय वास्तु-शास्त्र-सामान्य-शीर्षक के छै ग्रन्थों को तो प्रकाशित कर ही चुका हूँ। अब मैं यन्त्र-विज्ञान तथा चित्र विज्ञान को लेकर इस ग्रन्थ की रचना और प्रकाशन कर रहा हूँ। जहाँ तक इन दोनों विषयों की महिमा, गरिमा और

पृथिमा का सम्बन्ध है वह अध्ययन में देखिए। घन घन में हमें यह भी सूचित करना है कि भारत-परकार शिक्षा-सचिवालय में जो अनुदान इन ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए १९५६ में मिला था, उसके सम्बन्ध में हम पहले ही सूचना दे चुके हैं और अध्ययन में भी इसका कुछ मंजूर है, तथापि मैं समझता हूँ कि यह समझना है कि अब लगभग १० वर्ष पुराना यह अनुदान कैसे उपयोग किया जा रहा है। पहला कारण तो यह था कि अनुदान की विधि स्वल्प थी, पत्र-व्यवहार से भी कोई लाभ नहीं हुआ तो हमारे सामने समस्या उठ गयी हुई कि इसको निम्नलिखित दे दूँ कि पुरानी प्रेरणा (तत्पनऊ वाली जिसने द्वार उत्तर-प्रदेश सरकार से प्राप्त अनुदान से जो चार प्रकाशन किये थे) से उसी तरह से करूँ कि न करूँ। यद्यपि न हम में सर्व-साध, न कौतिल, न इलास, क्योंकि जब तक कोई वैधानिक सिफारिश न हो तब तक डा. धर्मन-पूर्व अनुसन्धानों की साहित्य-मेरे-देमी, ललित-कला-मेरे-देमी बनो पूछेंगी। उनके अपने-अपने महाकाव्य होते हैं, मैं जैसी सम्मति देते हैं, वैसे ही व्यक्ति पुरस्कृत होते हैं। हमारे देश में कोई National Screening Committee तो है नहीं जो इन निर्णयों की स्वीकृति कर तथा अनुसन्धान व्यक्तियों को सामने लाये। अतः मुझे यह वाक्य स्मरण आया :—

“संगीतं गृह्यति नः परिपालयति”

सः स्वस्थः) मिली, अतः अपने अनुसन्धान आदि कार्य में जो अनुद्विग्न होकर प्रवृत्त हो सका, यही स्वस्थता है। मेरी सबसे बड़ी विजय लाला जी के आगमन से सत्य का प्रकाश हुआ। ऐसे स्थिर-प्रज्ञ तथा धीर, गम्भीर एवं प्रभावित व्यक्ति ही इतने बड़े विश्वविद्यालय का सञ्चालन कर सकते हैं। कामना है कि यदि तीन टर्म तक उप-कुसपति पद को शोभित करने रहें तो संस्कृत का यह दूसरा अनुसन्धान दश-ग्रन्थ-शिल्प-शास्त्र-अनुसन्धान-आयोजन जिसे इस पंजाब विश्वविद्यालय ने स्वीकृत कर ही लिया, यू० जी० सी० को First Priority Proposals For Fourth Five Year Plan में भेजा है और यू० जी० सी० ने भी समझदारी से इसको यदि मान लिया, अनुदान स्वीकृत किया तो देश-देशान्तर, द्वीप-द्वीपान्तर में इस अनुसन्धान से एक नया युग एवं नयी भविष्यता का प्रादुर्भाव होगा। देखें क्या होता है। यह विधि-विधान है। मानव न रोक सकेगा न बना सकेगा।

अंत में यह भी सूचित करना परमावश्यक है कि बड़े सौभाग्य की बात है कि पंजाबियों में एक संस्कृतज्ञ सिक्ख श्री त्रिलोचन सिंह से साक्षात्कार हो गया जो यूनिवर्सिटी कैंपस के समीप प्रेस चला रहे हैं। इस सरदार ने बमाल कर दिया और बड़े उत्साह और लगन से कार्य किया है। सरदार त्रिलोचनसिंह अपनी वचन-बद्धता के लिए पूर्ण प्रयास कर रहे हैं।

जहां तक कुछ अशुद्धियों का प्रश्न है वह स्वाभाविक ही है। जब ग्रन्थकार प्रूफ को पढ़ता है तो अशुद्ध को भी शुद्ध पढ़ जाता है। साथ-ही-साथ हमारे देश में जो छापेखाने हैं उनमें बड़े ही विरले कुशल प्रूफ-रीडर मिलते हैं। अतः आशा है कि पाठक कुछ यत्र-तत्र-सर्वत्र जहां पर छापे की अशुद्धियां हैं, उनकी अपन प्राप ठीक कर लेंगे। जहां तक पारिभाषिक शब्दों का प्रश्न है, उसकी तालिका— शुद्ध तालिका (दे० शब्दानुक्रमणी) से प्रत्यक्ष है।

अस्तु अन्त में यह ही कहना है—

गच्छत स्खलन क्वापि भवत्येव प्रमादतः।

हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः॥

## प्रकाशन-विवरण

उत्तर-प्रदेश-राज्य तथा केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय में प्राप्त अनुदान एवं निजी व्यय से प्रकाशित एवं प्रकाश्य—

समरागण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रीय—भारतीय-वास्तु-शास्त्र-सामान्य-शीर्षक  
निम्न दश-ग्रन्थ-प्रकाशन-मायोजन :-

उत्तर-प्रदेश-राज्य की सहायता से

१. वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश
२. प्रतिमा-विज्ञान
३. प्रतिमा-लक्षण
४. चित्र-लक्षण तथा हिन्दू-प्रासाद—चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि

केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय से

भवन-निवेश—(Civil Architecture)

प्रथम-भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय-भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु-वर्दावली

राज-निवेश एवं राजसी . कलायें—यन्त्र एवं चित्र (Royal Arts  
Yantras and Citras)

प्रथम-भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय-भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु-शिल्प-चित्र-वर्दावली

प्रासाद-निवेश (Temple Art and Architecture)

प्रथम भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु-शिल्प-वर्दावली

# विषय-सूची

## प्रथम खण्ड—अध्ययन

समरांगण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रीय राज-निवेश तथा राजसी कलायें

उपोद्घात

राज-निवेश

राज-निवेशोचित—भवन-उपभवन-उपकरण

राज-विलास—नाना यन्त्र

राजसी कलायें—चित्र-कला

उपोद्घात—ललित-कलाओं का जन्म एवं विकास—वेद एवं उपवेद—  
स्थापत्य-वेद—समरांगण-सूत्रधार एक-मात्र वास्तु-ग्रन्थ, जिसमें भवन-कला, नगर-  
कला, प्रासाद-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, यन्त्र-कला सब व्याख्यात हैं;

समरांगण-सूत्रधार का अध्ययन—एवं उसके विभिन्न भागों के  
अध्ययन की योजना तथा अन्त में उसका नवीनीकरण, राज-संरक्षण में प्रोत्साहित  
स्थापत्य—चतुर्धा स्थापत्य अर्थात् स्थपति-योग्यताएँ एवं स्थपति-कोटि-चतुष्टय,  
अष्टांग-स्थापत्य; शिल्पियों की चार कोटियाँ—स्थपति, मूर्तिसाही, वर्धक तथा  
संक्षक, चित्र-पद का अर्थ—चित्र, चित्रार्थ, चित्रानास; पुनः परिमार्जन अर्थात् भवन-  
निवेश-सम्बन्धी समरांगणीय प्रथम-भाग के बाद द्वितीय भाग का परिमार्जित  
एवं वैज्ञानिक संस्करण-पद्धति से अध्यायो की तालिका का नवीनीकरण;

अध्ययन के प्रमुख स्तम्भ—राज-निवेश एवं राज-निवेशोचित भवन,  
उपभवन एवं उपकरण, यन्त्र-विधान तथा चित्र-विधान;

राज-निवेश—राज-निवेशाग—कक्षा-निवेश—भलिन्द-निवेश, राज-भवन-  
तत्त्व; राज-निवेश-उपकरण—सभा, अश्वशाला, राज-शाला, शयनासन आदि;

राज-विलास (नाना-यन्त्र)—यन्त्र-घटना, यान-मात्रिका अर्थात् यन्त्र-  
मातृका का अर्थ (Interpretation), प्राचीन यान्त्रिक विज्ञान, यन्त्र-गुण, यन्त्र-  
विधा—आमोद-यन्त्र, सेवा-यन्त्र एवं रक्षा-यन्त्र, शोला-यन्त्र, विमान-यन्त्र;

राजसी कलायें—चित्र कला:—

चित्र-शास्त्रीय-ग्रन्थ; चित्र-कला का उद्देश्य, उद्भव तथा विषय—



पङ्क तथा अष्टाग; चित्र-विधा—सत्य, वैणिक, नागर, मिश्र, विद्ध, अविद्ध, धूली, रस, भाव; र्तिका; भूमि-बन्धन—कुट्य-भूमि-बन्धन, पट्ट-भूमि-बन्धन, पट्ट-भूमि-बन्धन; चित्राधार एव चित्रमान—अण्डक-प्रमाण, रूप-मान, मानोत्पत्ति, चित्र-प्रमाण-प्रक्रिया (Iconometry), समलम्बित मान (Vertical measurements)—मस्तक-सूत्र, केशान्त-सूत्र-आदि गुल्फान्त-सूत्र, भूमि-सूत्रान्त, लेप्य-कर्म-मार्तिक लेपन, स्निग्धानुलेपन; आलेख्य-कर्म—वर्ण एव कूर्चक, कान्ति एव विच्छिस्ति (छाया, कान्ति, क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त); शुद्ध-वर्ण (मूल-रंग), मिश्र-वर्ण (अन्तरित-रंग), रंग-द्रव्य—स्वर्ण-प्रयोग—पत्र-विन्यास तथा रस-क्रिया; पञ्च-विध धूर्चक; त्रिविधा लेखनी—तूलिका, लेखनी, विलेखा; वर्तना—क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त; वर्तना-प्रभेद; त्रिविध—पत्रजा, ऐरिक तथा विन्दुज; चित्र एवं रस—एकादश चित्र-रस, अष्टादश रस-दृष्टिया; चित्र-कला तथा काव्य-कला, नाट्य-कला, नृत्य-कला तथा भावाभिव्यक्ति—ध्वनि; चित्र-शैलिपां (पत्र एव कण्टक के आधार पर)—चित्र-पत्र—पङ्क-विध—नागरादि-यामुनान्त; चित्र-पत्र-कण्टक-प्रष्ट-विध—कलि-प्रभृति भंग-चित्रकान्त; चित्र-शैलिया—देव-शैली, यक्ष-शैली, नागर-शैली, चित्रकार एवं उसकी कला, चित्र-गुण, चित्र-दोष;

चित्रकला के पुरातत्वीय एवं साहित्यिक निदर्शनों एवं संदर्भों पर  
एक विहंगावलोकन

पुरातत्वीय उपोद्घात—पुरातत्वीय निदर्शन—पूर्व-ईसवीय तथा उत्तर-ईसवीय; पूर्व-ईसवीय—प्राग्-ऐतिहासिक तथा ऐतिहासिक; प्राग्-ऐतिहासिक—कामूर-पर्वत श्रेणी, विन्ध्य-पर्वत-श्रेणी, अन्य पर्वत श्रेणिया—मध्य-प्रदेश, मिर्जापुर-उत्तर-प्रदेश के समीपीय कन्दरायें, ऐतिहासिक—पूर्व-ईसवीय—सिर-गुजा क्षेत्रीय—जोगी मारा कन्दरा; ईसवीय-उत्तर—बौद्ध-काल, हिन्दू-काल, मुसलिम-काल, बौद्ध-काल—अजन्ता—नाना गुफाओं में प्राप्त चित्र तथा काल-निर्धारण एवं विषय-वर्गीकरण, मरक्षण, चित्र द्रव्य एवं चित्र-प्रक्रिया—वर्ण-विन्यास एवं तूलिका, चित्र-शास्त्र एवं चित्र-कला, सिधल-श्रीप-सिगारिया, घाघ; हिन्दू काल—जैन-ग्रन्थ-चित्रण, जैन-चित्र; राजपूत-चित्र-कला, पञ्जाब (कागरा की राजपूती कला); मुगल चित्र कला ।

साहित्यिक उपोद्घात—वैदिक वाङ्मय, पालि वाङ्मय, रामायण एवं महाभारत, पुराण, शिल्प-शास्त्र, काव्य तथा नाटक—कालिदास, बाण-भट्ट, दण्डी, मकभूति, माघ, हर्ष-देव, राजसेखर, श्रीहर्ष, घनपाल, सोमेश्वर सूरि ।

अन्य-चित्रण

## द्वितीय खण्ड—अनुवाद

### प्रथम-पटल—प्रारम्भिका

४०	वेदी-नमन	५-६
४१.	पीठ-माग	७-८

### द्वितीय-पटल

राज नियम एवं राज-निवेदोचित-भवा उपभवन तथा उपकरण

४२	राज-निवेद	११-१४
४३	राज-गृह	१५-२२
४४	सभा	२५
४५	गज-शाला	२६-२७
४६	घटव-शाला	२८-३३
४७	नृपायतन	३४-३५

### तृतीय पटल -शयनासन विधान—यर्धवि-वीशस

८	शयनासन-संक्षण	३६-४२
---	---------------	-------

### चतुर्थ-पटल—यन्त्र-विधान

यन्त्र-वक्षण, यन्त्र सङ्ग-निर्वचन, यन्त्र-वीज, यन्त्र-प्रकार यन्त्र-गुण, यन्त्र-विधा, यन्त्र घटना, यात्रिक-विज्ञान की परम्परा परम्परा वीशस, गुरुप-दश, वास्तु कर्म, उत्तम तथा धी, यन्त्र-विज्ञान-गुणि ।

४६	यन्त्र-विधान	४५-५१
----	--------------	-------

### पञ्चम-पटल—चित्र लक्षण

चित्र-प्रसादा, चित्रोद्देश, चित्राग, भूमि-वर्णन नव्य-रमादिक, घण्टक-प्रमाण आदि एवं चित्र-रमादि ।

५०	चित्रोद्देश	६५
५१	भूमि-वर्णन	६६-६८
५२	लेख्य-रमादिक	६९-७०
५३	घण्टक-प्रमाण	७१-७२
५४.	मानोत्पत्ति	७३-७४
५५	चित्र रस एवं दृष्टिमा	७५-७७

### षष्ठ-पटल—चित्र एवं प्रतिमा के सामान्य लक्षण

चित्र एवं प्रतिमा दृश्य, निर्माण विधि, प्रतिमा-मानादि—अगोपाग-प्रत्यग, प्रतिमा-विशेष—हस्तादि, सोरसानादि, पिशाचादि, दशादि—सामान्य संक्षण एवं

रूप-ग्रहण-संयोगादि-भक्षण; प्रतिमा-दोष-गुण-निरूपण; प्रतिमा-मुद्रा —  
 ऋग्वागतादि-स्थानक मुद्राए, वैष्णवादि-परीर मुद्राए, वनावादि ६४ समुत्त-  
 मगुण-नृत्य मुद्राए—

१६. प्रतिमा-भक्षण	८१-८४
१७. देवादि-रूप-ग्रहण-संयोग-भक्षण	८५-८६
१८. पद्म-गुण-वर्ण-भक्षण	८७-८८
१९. दोष-गुण-निरूपण-भक्षण	८९-९०
२०. ऋग्वागतादि-स्थान-भक्षण	९१-१०४
२१. वैष्णवादि-स्थानक-भक्षण	१०५-१०७
२२. वनावादि-चतुर्णाष्ट-रूप-भक्षण	१०८-१२३

**प्रथम खण्ड**

**अध्ययन**

राज-निवेश एवं राजसी कलायें  
यन्त्र एवं चित्र

उपोद्घात—ललित कलाओं का जन्म एवं विकास एक-मात्र केवल पूर्व-मध्य-कालीन अथवा उत्तर-मध्य-कालीन नहीं समझना चाहिए। यद्यपि ललित कलाओं में विशेषकर चित्र-कला, प्रस्तर-कला आदि के स्मारक-निदर्शन इसी काल में विशेष रूप से पाए जाते हैं, परंतु पुरातत्त्ववीय अन्वेषणों तथा प्राचीन साहित्य से ये कलाएँ ईसा से बहुत पूर्व विकसित हो चुकी थी। भारतीय सृष्टि में भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों उत्कर्षों के पक्षों पर हमारे पूर्वजों ने पूर्णरूप से अभिनिवेदन प्रदान किया था। वैदिक काल में नाट्य, संगीत, नृत्य तथा आलेख्य पूर्णरूप से प्रचलित थे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है भरत का नाट्य-शास्त्र है। जनानुरजन एवं जनता में उपदेशात्मक, मनोरञ्जनात्मक, ज्ञानात्मक गायकों के द्वारा प्रचार करने के लिए ब्रह्मा ने नाट्य वेद की रचना की जो पाचवे वेद के नाम से प्रकीर्तित किया गया।

वात्स्यायन का काम सूत्र भौतिक विकास का एक महान दर्पण है जिसमें नागरिकों के लिए अनुष्णपिष्ट-शला-सेवन एक प्रकार से इनके जीवन और सामाजिक सम्प्रदाय का अभिन्न एवं अनिवार्य अंग था। स्टला क्रैमरिश ने विष्णुधर्मोत्तर के अनुवाद की भूमिका में जो लिखा है—'Every citizen had a bowl and brush'—वह वास्तव में बड़ा ही सार्थक एवं सत्य है। इन चौंसठ कलाओं में नृत्य, वाद्य, गीत, आलेख्य के साथ साथ नाना अन्य शिल्प-कलाओं का भी संकीर्तन है जिसमें प्रतिमाला, यत्र-मायिका आदि भी परिगणित हैं। इससे इन कलाओं को यदि हम भिन्न भिन्न वर्गों में वर्गीकृत करें, तो न केवल तथाकथित ललित-कलाओं, जैसे प्रमुख छै कलाएँ—काव्य, नाट्य, नृत्य, संगीत, चित्र (आलेख्य), शिल्प एवं वास्तु ही उस समय ललित कलाओं के रूप में नहीं सम्यक् थी, बरन् व्यावसायिक एवं औपजीविक कलाओं (Commercial and Professional Arts) को भी पूर्ण संरक्षण तथा प्रोत्साहन प्राप्त था। पुष्पास्तरण, पुष्प-विकल्पन, नेपथ्य विकल्प, दारु-कर्म, तक्षक-कर्म धातु-वाद प्रतिमाला, यान-मायिका आदि सभी इन्हीं दो कोटियों में आती हैं।

राजाओं के दरबार को ही सर्व प्रमुख ध्येय है, जिसने इन सभी कलाओं को उन्नति में महान् योगदान दिया।

हम यह भी नहीं विस्मृत कर सकते कि हमारा देश केवल घम और दर्शन की ओर ही नज़रें नदी जागरूक रहा। वैज्ञानिक एवं परिभाषिक शास्त्रों को भी

इस देश में पूरे रूप से प्रोत्साहन और सरक्षण प्रदान किया गया। कोई भी सस्कृति और सभ्यता आध्यात्मिक और भौतिक दोनों उन्नतियों के बिना जीवित नहीं रह सकती। इसी लिए धर्म की परिभाषा में बड़े सूभ-बूभ के महर्षि कपिल ने जो निम्न प्रवचन दिया वह कितना सार्थक है :—

“यतोऽभ्युदय-नि श्रेयससिद्धिः स धर्मः”

दुर्भाग्य का विलास है कि आधुनिक सस्कृत-समाज वैदिक, पौराणिक, धर्म-शास्त्र, ज्योतिष, व्याकरण, दर्शन आदि शास्त्रों के प्रतिरिक्त अपने अत्यन्त प्रोन्नत एवं प्रबुद्ध वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक शास्त्रों से अपरिचित है। वेदों का तो अब भी प्रचार है, किन्तु उपवेद भी ये कि नहीं—इसका बड़ा ही न्यून ज्ञान एवं प्रचार है। उपवेदों में आयुर्वेद और घृणवेद के प्रतिरिक्त अन्य दोष उपवेदों का शायद ही किसी को ज्ञान हो। हमारे ऋषि-महर्षि और पूर्वज बड़े ही परिवर्तन-शील तथा काल-दर्शक थे। परन्तु हम इतने महान् परिवर्तन शील समय में यदि अब भी रुढ़ि-वादी एवं काल-प्रतिक्रिया-शून्य वादी रहे तो हम अपनी सस्कृति के प्रति कितना धोखा दे रहे हैं कि हम प्रत्येक दिशा में योह्य का प्रधानकरण कर रहे हैं और अपनी सारी यात्री को विस्मृत कर चुके हैं।

जहाँ चार वेद थे वहाँ चार उपवेद भी थे। ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद था, यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद था, सामवेद का उपवेद गान्धर्व-वेद था, जिसमें नृत्य, नाट्य, संगीत आदि सभी प्रौढि को प्राप्त कर चुके थे, घृणवेद का उपवेद-स्थापत्य वेद था, इसी उपवेद में पारिभाषिक विज्ञान जैसे Engineering, Architecture आदि तथा यन्त्र-विज्ञान भी काफी प्रकर्ष को प्राप्त कर चुके थे। इस प्रकार एक शब्द में यह कहा जा सकता है शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, व्याकरण, इन छै बदांगों के साथ उपयुक्त चार उपवेदों के द्वारा प्रायः सभी विज्ञानों (Pure, Positive and Technical) का जन्म एवं विकास हुआ।

धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव विरचित समराङ्गण सूत्रधार ही एक-मात्र पूर्व-मध्यकालीन, अधिकृत उपलब्ध शिल्प-ग्रन्थ है, जिस में स्थापत्य की प्रायः सभी प्रमुख कलाओं का प्रतिपादन है। अन्य प्राच्य वास्तु-शिल्प-ग्रन्थों में केवल भवन-कला, नगर-कला, मूर्ति-कला के प्रतिरिक्त अन्य कलाओं की व्याख्या नहीं प्राप्त होती है। शिल्प रत्न एक प्रकार से अर्वाचीन ग्रन्थ है, जो उत्तर मध्यकाल के बाद लिखा गया था, उसमें भी इन तीनों कलाओं के साथ चित्र-कला का भी वर्णन है। इसी तरह अपराजित-पूक्षा में भी इन चार प्रधान स्थापत्य कलाओं का प्रतिपादन है।

समरागण-सूत्रधार ही एकमात्र ग्रन्थ है जिसमें निम्न छहो कलाओं का अधिकृत विवेचन है :—

- |               |              |
|---------------|--------------|
| १ भवन-कला     | २ नगर-कला    |
| ३ प्रासाद-कला | ४ मूर्ति-कला |
| ५ चित्र-कला   | ६ दन्त-कला   |

अपराजित-पूजा को छोड़कर ग्रन्थ ग्रन्थों में जैसे मानसार एवं मयमत आदि में भवन-कला में भवन केवल विमान अथवा प्रासाद है। इस प्रकार से ये ग्रन्थ (Civil Architecture) से सर्वथा भूय है। समरागण-सूत्रधार ही हमारे देश में (Civil Architecture) का स्थापक ग्रन्थ है। बू कि यह स्तम्भ आलेख्य एवं यन्त्र से सम्बन्ध है, अतः इस विषयान्तर पर पाठक हमारे भवन-निवेश को देखें।

समरागण-सूत्रधार का अध्ययन :—अस्तु इस उपोद्घात के उपरान्त हमें समरागण-सूत्रधार के अध्ययन की ओर विद्वानों को आकर्षित करना है। भारत सरकार ने भारतीय-वास्तु-शास्त्र दश ग्रन्थ-प्रकाशन-आयोजन में अवश्य जिन छे ग्रन्थों के लिए अनुदान स्वीकृत किया था उसके अनुसार अपनी पुनः परिष्कृत योजना में निम्न प्रकाशन व्यवस्था की है :—

- |                  |  |
|------------------|--|
| १—भवन-निवेश      | भाग प्रथम—अध्ययन एवं अनुवाद<br>भाग द्वितीय—मूल एवं वास्तु-पदावली |
| २—प्रासाद-निवेश  | भाग प्रथम—अध्ययन एवं अनुवाद<br>भाग द्वितीय मूल एवं शिल्प-पदावली  |
| ३—दन्त एवं चित्र | भाग प्रथम—अध्ययन एवं अनुवाद<br>भाग द्वितीय—मूल एवं चित्र-पदावली। |

टि० १—प्रथम प्रकाशन (भवन-निवेश) के अनुसार ग्रन्थ-कलेवरानुरूप कुछ परिवर्तन भी अपेक्षित हो सकता है।

भवन-निवेश के दोनो भाग प्रकाशित हो चुके हैं। अब इन चारों भागों के प्रकाशन की व्यवस्था की जा रही है तो उपर्युक्त व्यवस्था में थोड़ा सा परिवर्तन अनिवार्य हो गया है। इन अवशेष चारों भागों को निम्न रूप प्रदान किया है जिसमें सहती निष्ठा के साथ तथा सतत प्रयत्न एवं अध्यवसाय के साथ इन चारों ग्रन्थों को प्रकाश बना सका हूँ, वे अवश्य ही विशेष उपयोगी सिद्ध होंगे तथा हमारे पूर्वजों की पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक देन का मुत्पाकन भी हो सकेगा।



सर्व-प्रमुख सिद्धान्त यह है कि हम राज-भवन को प्रासाद-निवेश में शिल्प-शास्त्रीय दृष्टि से सम्मिलित नहीं कर सकते। इस पर प्रासाद-निवेश में जो हमने पण्डित प्रमाणों से इस सिद्धान्त को दृढ़ किया है वह वही पठनीय है। पुनश्च चित्र और यन्त्र ये सब ललित कलाएँ राज-भवन के अभिन्न अंग थे। अतएव चित्र एवं यन्त्र को हमने, राज-निवेश, राज-भवन-उपकरण, राज-भोगाचित विलास-श्रीङ्गाद्यो में सम्मिलित किया है। आलेख्य अर्थात् चित्र-कला एवं यन्त्र जैसे आमोद, सेवन, आरपाल, योग, विमान, धारा एवं दोला आदि यन्त्रों का एकत्र व्यवस्थापन कर हम तृतीय खण्ड को द्वितीय खण्ड के रूप में प्रकल्पित कर दिया है। भारतीय स्थापत्य का सबसे प्रमुख शास्त्रीय एवं स्मारक प्रोत्सास प्रासाद-शिल्प (Temple Architecture) है। वह एक प्रकार में चर्मोन्नति तथा विलास है अतः उसको अग्निम अर्थात् तृतीय खण्ड में व्यवस्थापित किया है। अतः जैसा ऊपर मकेन किया है कि प्रथम विभागीकरण से थोड़ा अन्तर होगा—अर्थात् तृतीय अध्ययन द्वितीय अध्ययन के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। अतएव रिम्न अवशेष चारों भागों की तालिका उद्धृत की जाती है :—

- |                    |   |
|--------------------|---|
| १ यन्त्र एवं चित्र | भाग-प्रथम—अध्ययन एवं अनुवाद।                  |
| २ यन्त्र एवं चित्र | भाग-द्वितीय—मूल एवं वास्तु-शिल्प-चित्र-पदावली |
| ३ प्रासाद-निवेश    | प्रथम भाग अध्ययन एवं अनुवाद।                  |
| ४ प्रासाद निवेश    | मूल एवं शिल्प-पदावली।                         |

राज सरक्षण में प्रोत्सहित स्थापत्य —इस उपोद्घात के अन्तर अथ हम इस भूमिका में यन्त्र एवं चित्र पर शास्त्रीय दृष्टि से थोड़ा सा विचार अवश्य प्रस्तुत करना चाहते हैं। स्थापत्य को हम तीन तरह से समझने की कोशिश करें :—

- अ चतुर्धा स्थापत्य अर्थात् स्थापति-योग्यताएँ  
 ब स्थापति-कोटि-चतुष्टय  
 स अष्टांग स्थापत्य

जहां तक 'अ' और 'स' का प्रश्न है वह हम अपने भवन-निवेश में पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं। अतः यहां पर इन दोनों की अवतरणा आवश्यक नहीं। यहां पर स्थापति-कोटि-चतुष्टय की अवतरणा अनिवार्य है। मानसार, मयमत आदि तथा समराङ्गण-सूत्रधार आदि शिल्प एवं वास्तु ग्रन्थों ने निम्न विहित शिल्पियों की चार कोटियाँ प्राप्त होती हैं :—

१ स्थपति	(Architect-in-Chief)
२ सूत्र-शाही	(Engineer)
३ वर्धकि	(Carpenter)
४ तक्षक	(Sculptor)

जहां तक इस ग्रन्थ का सम्बन्ध है उसमें स्थपति, वर्धकि और तक्षक की कलाओं का विशेष साहचर्य है। राज निवेशोचित एव राज-भोगोचित केवल चित्र-कलाएँ (आलेख्य एव पाषाणजा तथा घातुजा) ही अनिवार्य अंग नहीं थी वरन् राज-भवनो में शयन अर्थात् बाय्या, आसन अर्थात् सिंहासन आदि, पादुका, कपड़े आदि फर्नीचरों का भी इन कलाओं में वर्धकि का कौशल माना गया है। अतः हम इस ग्रन्थ में शयनासन-सम्बन्धी अध्यायों को भी लाकर इस परिमार्जित संस्करण से वैज्ञानिक व्यवस्था प्रदान की है।

समरागण-सूत्रधार में परिमार्जित संस्करण का जहां तक भवन-निवेश का सम्बन्ध था यह हम भवन-निवेश के अध्ययन में पहले ही कर चुके हैं। अब यहां पर इस भाग में आने के ग्रन्थ-अध्यायों के परिमार्जित संस्करण-तालिका उपस्थित करेंगे, परन्तु इससे पूर्व हम एक मौलिक आधार पर विद्वानों और पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है।

'चित्र' पद का अर्थ एकमात्र आलेख्य नहीं है। स्थापत्य कौशल की दृष्टि से चित्र का पारिभाषिक एव शास्त्रीय अर्थ प्रतिमा है। इसीलिए पुराणा में (देखिए विष्णुधर्मोत्तर), आगमों में (देखिए कामिकागम) तथा अन्य दार्शनिक शिल्प-ग्रन्थों (जैसे मानसार, मयमत आदि) में सभी में चित्र अर्थात् प्रतिमा के निर्माण में तीन आधार-भौतिक (Fundamental) आकारानुरूप प्रकार बताए गए हैं—

१ चित्र	(Fully Sculptured)
२ अर्ध-चित्र	(Half Sculptured)
३ चित्राभास	(Painting)

पुनः परिमार्जन—अतएव हमने चित्र के विवेचन में समरागण का प्रतिमा-ग्रन्थ-कलेवर भी चित्र-निवेश के साथ व्यवस्थापित किया है। अतः अब हम समरागण के इस अध्ययन में अध्यायों के परिमार्जित संस्करण की दृष्टि से जो व्यवस्था की है, उसकी यह तालिका अब उद्धृत कर जाती है।

भवन निवेश में हमने समरागण के ८३ अध्यायों में से ३६ अध्यायों की वैज्ञानिक पद्धति से जो परिमार्जित एव संस्कृत अध्याय तालिका प्रस्तुत की है—वह

वहीं द्रष्टव्य है। यहां पर चालीसवें अध्याय से यह तालिका प्रस्तुत की जाती है। इसकी अवतारणा के पूर्व प्रमुख विषयो पर भी प्रकाश डालना उचित है, जो तीन खंडों में प्रविभाज्य हैं।

- घ राज-निवेश १. प्रारम्भिका;  
 २. राज-निवेश एवं राज-भवन;  
 ३. राज-भवन-उपकरण—सभा, अश्व-शालादि,  
 ४. राजभवनोचित पर्णोच्चर—शयनासनादि,  
 ५. राज-विज्ञासोचित—यन्त्रादि।

व. राज-सरक्षण में प्रवृद्ध कलाएँ—चित्र-कला (Painting)

स राज-पूजोपयोगी-प्रतिमा-शिल्प—प्रतिमा कला (Sculpture)

### झ. राज-निवेश

परिमाजित महत्वा	अध्याय-शीर्षक	मौलिक तत्त्वा
	प्रथम पटल—प्रारम्भिका	
४०	वेदी-तक्षण	४७
४१	पीठ-भान	४०
	द्वितीय पटल—राजनिवेश राज भवन एवं उपकरण	
४२	राज-निवेश	१५
४३	राज-गृह	३०
	राजभवन-उपकरण।	
४४	सभाष्टक	२७
४५	गज-शाला	३२
४६	अश्व-शाला	३३
४७	नृपायतन	५१
	तृतीय पटल—शयनासनादि—विधान	
४८	शयनासन-तक्षण	२६
	चतुर्थ पटल—यन्त्र-विधान	
४९	यन्त्राध्याय	३१
	पञ्चम पटल—चित्र-संस्कार	
५०	चित्रोद्देश	७१
५१	भूमि-बन्धन	७२

५२	लेप्य-वर्मादिक	७३
५३	अण्डक-प्रमाण	७४
५४	मानोत्पत्ति	७५
५५	रस-दृष्टि	८२
५६	प्रतिमा-लक्षण	७६
५७	देवादि-रूप-ग्रहरण-सयोग-लक्षण	७७
५८	प्रतिमा-प्रमाण—रच-पुरुष-स्त्री-लक्षण	८१
५९	चित्र-प्रतिमा-गुण-दोष-लक्षण	७८

प्रतिमा-मुद्रायें :—

अ शरीर-मुद्रायें :—

६०	ऋजुशायनादि-स्थान-लक्षण	७९
----	------------------------	----

ब पाद-मुद्रायें :—

६१	वैष्णवादि-स्थानक-लक्षण	८०
----	------------------------	----

स हस्त-मुद्रायें :—

६२	पताकादि-चतुष्पष्टि-लक्षण	८३
----	--------------------------	----

राज-सरक्षण में पल्लवित एवं विवक्षित इन मलित वलाग्रो की ओर थोड़ा सा उधोछात एवं इस ग्रन्थ की परिमार्जित संस्करण की ओर पाठको एवं विद्वानों का ध्यान दिलाकर अब हम इस अध्ययन की ओर जा रहे हैं। इस अध्ययन में हमें निम्नलिखित तीन स्तम्भों पर प्रकाश डालना है :—

- १ राज-निवेश एवं राज-निवेशोचित भवन, उप-भवन एवं उपकरण ;
- २ यन्त्र-विधान ;
- ३ चित्र-विधान ।

धेंते तो हमने अपने इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड (मनुवाद) में इन विषयों को निम्नलिखित षट् पटलों में विभाजित किया है, जो शास्त्रीय विषय-वैशिष्ट्य की ओर तबेन तरता है :—

प्रथम पटल—प्रारम्भिका—वेदी एवं पीठ ।

द्वितीय पटल—राज-निवेश एवं राज-निवेशोद्धारण ।

तृतीय पटल—मयनासन-विधान ;

चतुर्थ पटल—यन्त्र-विधान ;

पंचम पटल—चित्र-कर्म ;

षष्ठ पटल—चित्र एवं प्रतिमा के सामान्य धर्म ।

परन्तु अध्ययन की दृष्टि से यथा-सूचित-स्थपति-कोटि-चतुष्टय के अनुसार राज-निवेश स्थपति का कौशल है, शयनासन वर्धकि का कौशल है, यन्त्र तो वर्धकि एवं स्थपति दोनों के कौशल, हैं, ये स्वतः सिद्ध होते हैं। चित्र-कर्म तक्षक (Sculptor) और चित्र-कार (Painter), दोनों में विभावित हो सकता है। इस दृष्टि से हमने स अध्ययन को केवल तीन ही स्तम्भों में परिशीलन समीचीन समझा। पहले हम राज-निवेश से रहे हैं, जिसमें राज-निवेश, राज-भवन, राज-निवेश-उपकरण तथा राजोचित शयनासन तथा राज-विलासोचित यन्त्र भी गताये हैं। अतः इस प्रमुख स्तम्भ में, इन सभी सहायक स्तम्भों पर अलग अलग कुछ विचार करेंगे।

यतः राज-निवेश एवं सलित कलाय एक प्रकार से आश्रय-आश्रयि-भाव-निवन्धन हैं, अतः सलित-कलाओं जैसे चित्र एवं प्रतिमा का पूर्ण समन्वय असम्भाव्य है, जब तक इस राजाश्रय की देन को हम स्मरण न करें।

### राज-निवेश

राज-प्रासाद के निवेश में सर्व-प्रमुख अंग बधायें (Courts) थीं। रामायण (देखिए दशरथ और राम के राज-प्रासाद-वर्णन) और महाभारत में भी वैसी ही परम्परा पाई जाती है। राज-प्रासादों में बधायों का सन्निवेश मध्य-कालीन एवं उत्तर-मध्य-कालीन किसी भी राज-प्रासाद को देखें तो उनमें बधायों का सर्व-प्रमुख अंग दिखाई पड़ेगा। राज-निवेश में राज-निवेश-वास्तु का दूसरा प्रमुख अंग स्तम्भ बहुत सभायें, शालायें, सभा-मण्डप सभा-प्रक्षोष्ठ थे। जहां तक भूमिवाओं (Storeys) का प्रश्न है वह समराज्य-सूत्रधार की दृष्टि से राज-भवन में कोई वशिष्ट्य नहीं रखनी। समराज्य-सूत्रधार में राज-निवेश त्रिविध परिकल्पित किया गया है—शासनोपदिक् अर्थात् राजधानी और राज्य-संचालन की दृष्टि से किस प्रकार से राज-निवेश परिकल्पित करना चाहिए; आवासोपदिक् अर्थात् आवास की दृष्टि से राजा-रानियाँ विशेषकर महिषी, राजकुमार, राज-माता, अमात्य, सेनापति, पुरोहित आदि के वंशों के सस्यान आदि; पुनश्च राज-निवेश को तीसरी आवश्यकता विनाश-भवन है। समराज्य-सूत्रधार में राज-भवनो को दो वर्गों में वर्जित किया गया है—निवास-भवन तथा विलास-भवन।

जहां तक निवास-भवनों का प्रश्न है उनमें बधायें अर्थात् शाखाएं अतिरिक्त आदि विशेष महत्व रखते हैं। उनमें भौमिक भवनों (Storeyed Mansions) का कोई स्थान नहीं। परन्तु विलास-भवनों में भूमियों को अवश्य निवेश प्रदान

किया गया है। आवास की दृष्टि से वास्तु-शास्त्र-दिना भूमिकाओं का प्रयोग इस उष्ण-प्रधान देश में उचित नहीं माना गया। हाँ विज्ञान-भवनो में भूमियों का न्याय-सोभा-मात्र तथा वास्तु-विच्छिन्ति-वैभव की दृष्टि से उत्तुङ्ग विमानकारों के कलेवर की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण माना गया है। चित्र-शास्त्राएँ, नृत्य-शास्त्राएँ, संगीत-शास्त्राएँ आदि भी भौमिक विमानों के सदृश परिकल्पित की गई थी। ये सब विज्ञान-भवन हैं।

मयमत और मानसार में जो विमान-वास्तु अथवा शाला-वास्तु का प्रतिपादन है, वह एक प्रकार में दाक्षिणात्य परम्परा का उद्बोधक है। हमारे देश में दो प्रमुख स्थापत्य-शैलियाँ विकसित हुईं एक नागर, दूसरी द्राविड। द्राविड-कला भागो और असुरों की प्रति-प्राचीन कला से प्रभावित हुई। उत्तुङ्ग विमान शैलीयम, प्रसाद-शिखिरावलि-आभा से चोतित इन भवनो का विकास विशेषकर दक्षिण भारत की महती देन है। नाग और असुर महान् कुशल तक्षक थे। डा० जायसवाल ने अपने ग्रन्थ में इस ऐतिहासिक तथ्य पर विशेष कर भारशिव नागों पर पूर्ण प्रकाश डाला है। ये शुभ एवं बाकाटक वध से बहुत पूर्व माने जाते हैं। पुरातत्त्वीय ग्रन्थेपणो (मोहेनजोदरो, हड़प्पा आदि) के निदर्शनों से भी यह परम्परा पुष्ट होती है। नागर वास्तु-विद्या के विकास पर वैदिक सत्कृति का विशेष प्रभाव है। शालाएँ ही उत्तरापथ की किसी भी भवन की अप्रजा थी। शालाओं एवं शाल-भवनो के जन्म एवं विकास के सम्बन्ध में हमने इस ग्रन्थ के प्रथम अध्ययन (देखिए भवन-निवेश) में बड़ी ही मनोरंक कहानी तथा ऐतिहासिक तथ्यों का विश्लेषण किया है। मयमत और मानसार को देखें तो उत्तरापथीय यह शाला-वास्तु इन दाक्षिणात्य ग्रन्थों में विमान-वास्तु की गोद में खेलने लगा। विमानों के सदृश शालाएँ भी भौमिक कल्पित की गईं। शिखर तथा अन्य विमान भूपाएँ भी उनके भग बन गईं।

अस्तु समरागण-सूत्रधार की दृष्टि से राज-प्रासाद के निवेश में शालाओं के साथ अलिन्द (बह्याएँ) तथा स्तम्भ विशेष महत्व रखते हैं। इस अध्ययन के द्वितीय खण्ड (अनुवाद) में जो राज-निवेश एवं राज-गृह इन दो अध्यायों में जो विवरण प्राप्य हैं, उनसे यह औपौद्घातिक सिद्धान्त पूर्ण पुष्टि को प्राप्त होता है।

कोई भी भवन वास्तु-कला की दृष्टि से पूर्ण नहीं माना जा सकता, जब तक भव्य आकृति के लिए कुछ न कुछ विच्छिन्नियों का अनिवार्य रूप से विन्यास

न बताया जाय । नागर-शैली के अनुसार राज-प्रासाद-स्थापत्य में महाद्वार, प्रतोली, घट्टालक, प्रावार, वप्र और पग्घा इन साधारण निवेश-क्रमों के साथ जहाँ तक विच्छित्तियों का प्रदन है, उनमें तोरण, सिंह-कूर्ण, निर्यूह, गवाक्ष, बितान और लुमाओ की मूपा एक प्रकार से अनिवार्य मानी गई है ।

प्राधुनिक विद्वानों ने बितान-वास्तु (Dome-Architecture) को फारस की देन (Persian Contribution) मानी है । इसी प्रकार से स्थापत्य पर कलम चलाने वाले लेखक धारागृहों, साजवर्दी जैसे रंगों को भी फारस की देन मानते हैं । यह सब धारणाएं भ्रान्त हैं । साजवर्दी का हमने अपने चित्र-लक्षण (Hindu Conons of Painting) में विष्णु-धर्मोत्तर के 'राजावन्त' से, तथा उत्तर-प्रदेश के पूर्वीय इलाकों में सजावर शब्द के प्रचार से, जो समीक्षा की है, उसमें इस भ्रान्ति को दूर कर दिया है । अब आइए बितान की ओर । बितान का अर्थ Canopy है और लुमाओ का अर्थ एक प्रकार से पुष्प-विच्छित्तियाँ हैं । बितानों के प्रकार पचीस माने गये हैं और लुमाएँ सप्तधा परिबीजित की गई हैं । समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र ११वीं शताब्दी का एक अपिष्टत वास्तु-ग्रन्थ है । उससे पहले इस देश में फारस का प्रभाव नगण्य था । उत्तर-मध्यवाल (विशेष कर मुगलवाल) में फारस की बहुत सी परम्पराओं ने यहाँ पर अपने पैर जमाए, परन्तु इन वास्तु-व्यवस्थाओं का पूर्ण परिपाक हो चुका था । मानवद ने भी अपराजित-पृच्छा की भूमिका में इस तथ्य का परिपोषण किया है । पारा-गृह तो हमारे देश में प्राचीन काल से राज-प्रासादों के प्रमुख अंग थे, परन्तु उन्हें फारस की देन मानना भ्रामक है । अस्तु, इस उपोद्घात के बाद राज-प्रासाद के नाना निवेशांगों पर दृष्टि डालना उचित है ।

### राज-निवेशांग

- |                     |                         |
|---------------------|-------------------------|
| १. निषाग            | ८. वाद्य-शास्त्रा       |
| २. पर्माधिकरण-स्थान | ९. बन्दि-मागध-वेरग      |
| ३. कोष्ठागार        | १०. चर्मपुष्प-शास्त्रा  |
| ४. पणि-भवन, वनु-भवन | ११. स्वर्ण-चर्मन्ति-भवन |
| ५. मर्ताण           | १२. गुप्ति              |
| ६. धारणा-भवन        | १३. प्रेसा-गृह          |
| ७. भोजन-स्थान       | १४. रथ-शास्त्रा         |

१५. गज-शाला	३८. शाट्य-शाला
१६. वापी	३९. चित्र शाला
१७. अन्तःपुर	४०. भेषज-मन्दिर
१८. कीडा-दोला-आलय	४१. हस्ति-शाला (२)
१९. महिषी-भवन	४१. शीर-गृह—गोशाला
२०. राज-परनी-भवन	४३. पुरोहित-सदन
२१. राजकुमार-गृह-भवन	४४. अभिषेचनक-स्थान
२२. राजकुमारी-भवन	४५. अश्व-शाला—मन्दुग
२३. अरिष्टा-गृह	४६. राज-पुत्र-वदस
२४. अशोक-वनिका	४७. राज-पुत्र-विद्याभिनय-शाला
२५. स्नान-गृह	४८. राज-मानु-भवन
२६. धारा-गृह	४९. शिबिका-गृह
२७. लता-गृह	५०. शय्या-गृह
२८. दारु-शैल, दारु-गिरि	५१. आसन-गृह—सिंहासन-भवन
२९. पुष्प-दीधी—पुष्प-वेश्म	५२. कासार तथा लडाग आदि
३०. मन्त्र-कर्मन्ति-भवन	५३. नलिनी-श्रीधिका
३१. पान-गृह	५४. राज-मातुल-निकेतन
३२. कौण्डागार (२)	५५. राज-पितृव्य-भवन
३३. आयुध-मन्दिर	५६. साम-त-वेश्म
३४. कौण्डागार (३)	५७. देव-कुल
३५. उदूखल-भवन तथा शिला-यन्त्र	५८. होराज्योत्तिपी-भवन
३६. दारु-कर्मन्ति-भवन	५९. सेनापति-प्रासाद
३७. व्यापार-शाला	६०. सभा

समरागण-सूत्रधार के मूलाध्याय (राज-निवेश) में वर्णित इन निवेशागों की इतनी सुदीर्घ तालिका देखकर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं, कि इस राज-निवेश में आवास-निवेशों (Domestic Establishments) तथा शासन-निवेशों (Administrative Establishments) में पार्यवय तथा इन दोनों का भिन्न भिन्न निवेश-क्रम धर्थात् इन दोनों की भिन्नता नहीं प्रतीत होती है। बात यह है कि हम किसी भी स्मार्क-निबन्धनीय राज-भवन या राज-प्रासाद को देखें तो हमें वे राज-पीठ शासनोपयिक एवं निवासोपयिक दोनों



सस्यागो के मिथण दिखाई देते हैं । राज-स्थान के नाना राज-भवन यही परम्परा पुष्ट करते हैं । मुगलों के राज-भवन भी यही पोषण करते हैं । हम संस्कृत कवियों के काव्यो (कादम्बरी, हर्ष-चरित आदि आदि) का परिशीलन करें, तो उनमें भी राज-भवनों की द्विविधा निवेश-प्रक्रिया का अवलम्बन किया गया है, जिस को हम वास्तु-शास्त्रीय दृष्टि से अन्तः शाला और बहिः शाला के रूप में वर्णित कर सकते हैं । मुगलों के राज-पोठी को देखिए, उनमें भी दीवाने आम तथा दीवाने-खास भी इसी अन्तः शाला और बहिः शाला के अनुगामी थे ।

यहाँ पर एक और भी ऐतिहासिक तथ्य की ओर संकेत करना है । पुरा राज-भवन का श्रीगणेश दुर्गों (Fortresses) से प्रारम्भ हुआ था । इन दुर्गों में सब में प्रमुख अंग रक्षा-व्यवस्था-निवेश थे—जैसे महा-द्वार, गोपुर-द्वार, पक्ष-द्वार, अट्टालक, प्राकार, परित्ता, वप्र, कपिशीर्षक, काण्डवारिणी आदि आदि जो समराङ्गण-सूत्रधार के इस राज-निवेश-शीर्षक अध्याय में भी इसी प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है । पुनः कालान्तर पाकर जो राज-ऐश्वर्य तथा राज-भोग राज-शासन तथा राज-संसार विकसित हुए तो स्वनः निवेशागो की संख्या भी बढ़ती बढ़ती इतनी बड़ी निवेश-संख्या हो गई ।

शास्त्रीय दृष्टि से अब हम राज-निवेश के यथानिर्दिष्ट प्रमुख अंगों पर प्रकाश डालेंगे, जिसमें राज निवेश में प्रथम स्थान आवास-भवन है, पुनः विलास-भवन आते हैं । उस के बाद अनिवार्य उपकरण-भवन यथा सभा, गज-शाला, अश्व-शाला तथा राजानुजीवियों के आयतन-विशेष भी निर्दिष्ट हैं । इन सब पर हमें यहाँ विशेष प्रस्तार की आवश्यकता नहीं है, जो राज-निवेश-उपकरण-शीर्षक—अनुवाद पटल में द्रष्टव्य हैं ।

यहाँ पर सबसे बड़ी शिल्पदिशा से जो वास्तु-महिमा विवेच्य है, उसकी ओर अब हम बंदम उठाते हैं ।

कल्या-निवेश—अलिन्द-निवेश :—शास्त्र एवं कला दोनों दृष्टियों में राज-भवनों की प्रमुख विशेषता कल्या-निवेश है । मानसार आदि दार्ष्टान्त्य ग्रन्थों में तो अन्तः शाला और बहिःशाला के विवरण प्राप्त होते हैं, परन्तु समराङ्गण-सूत्रधार में शालाओं एवं अलिन्दों के ही विशेष विवरण राज-भवन-विन्यास में प्राप्त होते हैं । सौभाग्य से हम ने जब यह देखा कि प्रायः प्रत्येक राज-भवन-प्रभेद के प्रत्येक में कम से कम चार अलिन्द अनिवार्य हैं तो जहाँ अलिन्द होंगे वहाँ सुखे आगन अवश्य होंगे । बृहत्संहिता में जो भुक्त अलिन्द शब्द की निम्न

टीका :—

“अलिन्दशब्देन शालाभिन्नेर्बहिर्गो गमनिका जालकावृतांगणसम्मुखा” मिली है, इसने पूरा का पूरा सदेह निराकरण कर दिया । अतः समरांगण-दिशा में भी जो निदर्शन प्राप्त होते हैं उसका भी परिपोषण इस ग्रन्थ से प्राप्त होता है ।

**राज-भवन-वास्तु-तत्त्व :—**राज-प्रासाद व राज-भवन मगी दृष्टि में चारों भवन-शैलियों (प्रासाद-वास्तु, सभा-वास्तु (मण्डप-वास्तु), शाला-वास्तु तथा दुर्ग-वास्तु) के मिश्रण हैं । प्रासाद-वास्तु का अनुगमन इसमें विशेषकर शृंगो में ही भाभास प्राप्त होता है । समरांगण की दिशा में आवास-भवन यतः भट्टालकादि, प्राकारादि विशेषों से ही विशिष्ट है, परन्तु विलास-भवन यतः भीमिक भी है अतः उनमें शिखरावलिया एव अंग-भूपायें विशेष विभाज्य है । अब आइये सभा-वास्तु की ओर । सभा-वास्तु की सर्व-प्रमुख विशेषता स्तम्भ-बहुलता है । विश्वकर्म-वास्तुशास्त्र में नाना मभाभों का जो वर्णन प्राप्त होता है, उन में विशेष महत्त्व स्तम्भ-मर्यादा का है । दक्षिण की ओर मुड़िये वहाँ जो मण्डप-वास्तु महान् प्रकर्ष को पहुँचा था, उसमें भी यही स्तम्भ-बाहुल्य-विशेषता है । वहाँ के मण्डपों की शत-मण्डप, सहस्र-मण्डप, इन सजाओ का अर्थ स्तम्भ-सख्या का द्योतक है अर्थात् नौ खम्भों वाले मण्डप या हजार खम्भों वाले मण्डप । किसी भी प्राचीन राज-प्रासाद-निदर्शन को देखें—मुगलों के अथवा राजस्थानियों के, सभी में सभा-मण्डप, आस्थान-मण्डप आदि जितने भी वहाँ दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उन सभी में स्तम्भ-बाहुल्य भी साक्षात् पतीत होता है । तीसरा वास्तु-तत्त्व अर्थात् शाला-वास्तु, वह भी राज-भवन के मूल-धाम के प्रतिष्ठापक है । शाल-भवनो की कहानी, शाला का अर्थ (अर्थात् कक्ष्या, कमरा, चैम्बर), शाल-भवन-विन्यास प्रक्रिया, द्रव्याद्रव्य-योजना, योग्यायोग्य-व्यवस्था आदि आदि पर हम अपने भवन-निवेश में इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कह चुके हैं, उसकी पुनरावृत्ति यहाँ आवश्यक नहीं । यहाँ तो केवल इतना ही सूच्य है कि इन राज-भवनो में भी शालाएँ ही सर्वाधिक विन्यास के अंग हैं । अब आइये चौथे तत्व पर जिस पर हम पहले ही कुछ निर्देश कर चुके हैं अर्थात् महाद्वार, गोपुरद्वार, पक्षद्वार, भट्टालक, प्राकार, परिखा, वप्र आदि ।

इन वास्तु-तत्वों की इस अत्यन्त स्पूल समीक्षा के उपरान्त अब हमें दो महत्वपूर्ण वास्तु-तत्वों पर भी प्रकाश डालना है । पहला प्रश्न यह है अथवा पहली समस्या यह कि राज-भवन, देव-भवन के अग्रज हैं या अनुज हैं ? इस

प्रश्न को हम यहाँ नहीं लेना चाहते, इसका उत्तर हम अन्तिम अध्ययन (प्रासाद-निवेश) में देंगे। जब तक हम प्रासाद-वास्तु की उत्पत्ति, प्रसृति, शैली, निवेश, भूगोपण, भूपा तथा अन्य निवेश—इन सब का जब तक शास्त्रीय एवं कलात्मक विवरण न प्रस्तुत किया जाय तो इस वैमत्य अथवा ऐकमत्य का समर्थन या स्पष्टन कैसे किया जा सकता है। अतः यह प्रश्न वहीं पर विश्लेषणीय है।

अब आइये दूसरे प्रश्न पर, प्राचीन राज-भवनो में जो वितान-वास्तु (Dome architecture) के तत्व एवं निदर्शन मिलते हैं, वे हमारे शास्त्र और कला के निदर्शन हैं अथवा ये फारस की देन हैं? आधुनिक वास्तु-कला-विशारदों ने भारत के वितान-वास्तु को फारस का थोप माना है। यह धारणा मेरी दृष्टि में भ्रामक है। समरागण-सूत्रधार के राज-गृह-शीर्षक अध्याय में राज-गृह की भांति विच्छित्तियों पर जो प्रवचन प्रदान किये गये हैं उनमें निम्न, कपोत-पाली, सिंह-जण, तोरण, जालक आदि के साथ साथ वितान और लुमाओ पर भी बड़े पृथुल प्रतिपादन प्राप्त होते हैं। वितानों की संस्थापचीस है (दे० अनु०) और लुमाओ की विधा है सात (दे० अनु०)। अब वितान का क्या अर्थ है एवं लुमा का क्या अर्थ है—यह समझने का प्रयास करें। लुमा पौष्पिक विच्छित्ति (Flower-like decorative motif) है, जो वितान (Canopy) का अभिन्न अंग है। लुमा और लुपा शिल्प-दृष्टि से एक ही हैं। दाक्षिणात्य ग्रन्थों (दे० मानसार) में लुमा के स्थान पर लुपा का प्रयोग है। रामराज ने जो लुपा की व्याख्या दी है, वह हमारे इस तथ्य का पोषण करती है। यह व्याख्या उद्धरणीय है :—

'A sloping and projecting member of the entablature etc. representing a continued pent-roof. It is made below the cupola and its ends are placed as it were, suspended from the architrave and reaching the slab of the lotus below'

इस दृष्टि से ये लुमाएँ (पौष्पिक विच्छित्तियाँ) वितान (dome) की अभिन्न अंग हैं। रामराज की परिभाषा में लुमाओ को वितान (dome) के गोद में ढीठा करवा दी है। अतः वितान-वास्तु (Dome Architecture) हमारे देश की ही विभूति है। अपराजित-पृच्छा में भी जो लुमाओ और वितानों के विवरण प्राप्त होते हैं, वे भी इस सिद्धान्त को दृढ़ करते हैं। मानकद ऐसे आधुनिक प्रथित-कीर्ति इन्जीनियर, जिन्होंने अपराजित-पृच्छा की मूलिका लिखी है, उस में जो उन्होंने अपना मत दिया है वह भी हमारी धारणा का समर्थन करती

यद्यपि वे कुछ विशेष इस सम्बन्ध में सुखर नहीं हैं।

अब अन्त में जहाँ तक स्मारक-निदर्शनो का प्रश्न है, उनको अब हम यहाँ पर विशेष-विस्तार से नहीं छेड़ना चाहते हैं, मत्त. यह शास्त्रीय अध्ययन है। सुदूर अतीत में निर्मित अशोक का राज-प्रासाद, जो काष्ठमय था, वह भी सभा-वास्तु का प्रथम निदर्शन है। साथ ही साथ इन्हीं स्तम्भों की विच्छिन्नितियाँ आगे चलकर प्रासाद-स्थापत्य जैसे ग्रामलक एवं गुप्त-कालीन-विच्छिन्नितियों तथा घट-पत्तल आदि सभी के प्रारम्भक है। सर्कप-नामक प्राचीन नगरी के भग्नावशेषों में, अमरावती तथा अजन्ता के स्मारकों में, गुप्तकालीन राज-भवनों के निदर्शनो में—ये सब वास्तु-तत्त्व प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं।

आगे चलकर मध्यकालीन राज-भवनो की अभिरूपा देखें एवं सुधमा निहारें तो इन राज-गृहो में बड़े विस्तार-संभार प्राप्त होते हैं। विशेषकर उत्तर-मध्यकाल में राजपूताना, बुन्देलखण्ड तथा मध्यप्रदेश में जो राज-भवन बनें जैसे—धारा और खालियर एवं दतिया और औरछा, अम्बर तथा उदयपुर एवं जोधपुर और जबपुर आदि इन नगरों में जो राज-भवन-निदर्शन प्राप्त होते हैं, वे सब राज-भवनो की एक परम्परागत अद्भुत शैली एवं श्रेणी के उद्बोधक हैं। जहाँ तक राज-भवन-बागों की बात है वह अनुवाद में दृष्टव्य है। राज-भवन प्रधानतया द्विविध हैं निवास-भवन तथा विलास-भवन। दोनों के नाना पारिभाषिक भेद हैं जैसे पृथ्वीजय आदि वे सब वही पठनीय हैं। इस थोड़ी सी समीक्षा के उपरान्त समरागण के शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से थोड़ा सा राज-निवेश-उपकरणों पर भी संकेत आवश्यक है।

राज-निवेश-उपकरण :—इस ग्रन्थ में सभा, गज-शाला, अश्व-शाला तथा आयतन (अर्थात् राजानुजीवियों के घर जो राज-भवन से न्यून प्रमाण में विनिर्मित हैं,) ही विशेष उल्लेख्य हैं। जहाँ तक सभा, गजशाला का प्रश्न है उनके विवरण अनुवाद में ही दृष्टव्य हैं, परन्तु अश्व-शाला के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण प्रतिपाद्य यह है कि किसी भी वास्तु या शिल्प ग्रन्थ में इतना वैज्ञानिक, पारिभाषिक एवं पृथुल प्रतिपादन नहीं प्राप्त होता। इस अध्याय में कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द भी हैं, जिनका अर्थ बड़े ऊहापोह के बाद लग सका। उदाहरण के लिए लीजिए 'स्थानानि' इसका अर्थ स्थान है। परन्तु उत्तर प्रदेश के किसी पुर, पत्तन, ग्राम में जाइये तो वहाँ पर जहाँ थोड़े बाधे जाते हैं, उनको स्थान कहते हैं और वे जाने बड़े विशाल एवं विस्तृत बनाए जाते हैं। अतः वास्तु-दृष्टि से यह पद (स्थान) स्थान का पूर्ण परिचायक है। जिम्

प्रकार अभी तक बेतर अथवा अण्डक अथवा अन्य अनेक वास्तु-पदों के जो अर्थ अत्रेय थे, उनको मैंने महाभाषा की कृपा से ज्ञेय बना दिया। भवन-निवेश के 'नय' शीर्षक अध्याय को देखें, वहाँ पर 'नय', 'हचक' आदि नाना पदों की जो व्याख्या दी है, उससे हमारा यह वास्तु-शास्त्र कैसा पारिभाषिक शास्त्र में परिणत हो गया है। अभी तक आधुनिक विद्वानों ने इन वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों को पौराणिक अथवा कपोल-कल्पित अथवा मनघटन्त के रूप में मूल्यांकन करते आए हैं। अस्तु, अश्वशाला के भी विवरण वही अनुवाद में बदलीक्य हैं। हाँ यहाँ पर थोड़ा सा सभा तथा अश्वशाला के प्रमुख निवेशागों पर थोड़ा सा प्रकाश आवश्यक है।

सभा :—सभा भवन-वास्तु की सर्व प्राचीन कृति है। वैदिक वाङ्मय तथा विशेष कर महाभारत एवं रामायण में सभाओं के अनेक उल्लेख एवं विवरण मिलते हैं। महाभारत में तो एक पर्व सभा पर्व के नाम से प्रसिद्ध है। जिसमें यम-सभा, इन्द्र सभा, बरुण-सभा, कुबेर सभा, अज्ञ-सभा आदि प्रकीर्तित हैं। इन सभा-भवनों की विशेषता वैदिक काल से लेकर आज तक स्तम्भ बाहुल्य वास्तु वैशिष्ट्य है। राज-भवनों में जो अन्त शाला एवं बहिःशाला हैं वे भी सभा-भवन पर बनी हैं तथा वेही विच्छिन्तिता दर्शनीय हैं। अनुवाद भी यही समर्पण परता है।

अश्वशाला :—यह आइये अश्व-शाला की ओर, जिसमें निम्नलिखित निवेशों का प्रतिपादन आवश्यक है :—

- १ अश्वशाला-निवेश भगोपाग सहित ,
- २ अश्वशालीय सभार ,
- ३ घोड़ों के बाधन की प्रक्रिया एवं पद्धति ,
- ४ अश्वशाला के उप-भवन (Accessory Chambers)

अश्व-शाला-निवेश अनुवाद में दृष्टव्य है; परन्तु इसके प्रमुख निवेशाग निम्न हैं :

१. यवम-स्थान (Granary) जहाँ पर धान जमा की जाती है।
२. आदन-नोष्ठक (Manager) अर्थात् नाटो ;
३. शीमक अर्थात् शूटे जिनके द्वारा उनका पञ्चोष्ण-निग्रह अनिवार्य है।

इन एवं निवेशों के विवरण-प्रमाण, आयाम, उचित-स्थान तथा अनुवाद में दृष्टव्य है।

४ अश्वशालीय सभार—अग्नि स्थान, जल-स्थान, ऊनूतन-निवेश-स्थान आदि के अनिवार्य जो मन्थार अनिवार्य हैं उनमें निवेशी (Stair case), दुरा,

फलक, उद्दालक, मुडक, शुक्ल-योग, खुर, कैची, सीग, कुल्हाड़ी, नाच, प्रदीप, हस्तवासी, शिला, दर्बी, धाल, उपानह मिटक तथा नाना वस्त्रिया—ये सब अनिवार्य सभार है ।

घोडो के बांधने की प्रक्रिया एवं पद्धति याने (स्वानानि) इस पद पर हम पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं । रघुवश (पाचवा सर्ग) दक्षिण "दोर्घेस्वमी नियमिता पटमण्डपेषु" इन म्यानों—थानो का समर्थन करता है । इन थानो का सामुख्य, स्थापन, दिङ-सामुख्य, निवेश्य पद, आदि पर जो विवरण आवश्यक है वे सब वही अनुवाद में द्रष्टव्य है ।

अश्वशाला के उप-भवन—भेषजागार या औषधि-स्थान (Medical Home)—इसके लिए निम्नलिखित चार उप-भवन (Accessory Chambers) अनिवार्य विवेक्ष्य है —

- १ भेषजागार (Dispensary)
- २ अरिष्ट-मन्दिर (The lying-in-Chamber)
- ३ व्याधित-भवन (The hospital and sick-ward)
- ४ सर्वसम्भार-वस्त्र (Medical Stores)

यहाँ पर सब प्रकार की औषधिया, तैल, नमक, तनिया आदि आदि सग्रहणीय हैं ।

इन अश्व शालाओं के निर्माण में वास्तु शास्त्र की दृष्टि से इन्हें विशाल बनाना चाहिए तथा इनकी दीवारों को सुधा व-ध से दृढ़ करना चाहिए और इनमें प्राणीयों की अलङ्कृति भी आवश्यक है । इनसे इन अश्व शालाओं के द्वार उत्तुंग एवं अलङ्कृत दिखाई पड़ते हैं ।

### शयनासन

वास्तु की व्युत्पत्ति वस्तु पर निर्धारित है । वस्तु है भूमि वास्तु हुआ भीम या भीमिक । जो भी पार्थिव पदार्थ या द्रव्य है उसको जब किसी भी क्रिया से किसी भी कृति में हम परिणत कर देते हैं तो वह वास्तु बन जाता है । समराङ्गण-सूत्रधार का यह निम्न प्रवचन इसी तथ्य एवं सिद्धान्त को दृढ़ करता है :-

‘मच्च येन भद्रं द्रव्यं मेघ तदपि कथ्यते’—‘मय’ में वास्तु के मान का महत्व-पूर्ण स्थान विहित है । बिना प्रमाण कोई भी वास्तु निश्चित कृति में नहीं परिणत हो पाता । अतएव भारतीय वास्तु-शास्त्र का क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है । वह सार्वभौमिक तो है ही साथ ही साथ प्रातिरैखिक एवं

प्राथमिक भी है। वास्तु से तात्पर्य केवल पुर, नगर, भवन, मन्दिर या प्रतिमा मात्र से नहीं। जो भी निवेशित है, जो भी मानित है वह सब वास्तु है। इस व्यापक दिशा में तक्षण, दारुकरण, आलेख्य-कर्म आदि भी गण्य हैं।

म० सू० का यह शयनासन-शीर्षक अध्याय बड़ा ही वैज्ञानिक, पारिभाषिक एवं अनुपम है। अन्य किसी ग्रन्थ में ऐसा पृथुन एवं प्रवृद्ध शयनासन-विषयक प्रतिपादन नहीं मिलता। मानसंग, मयमत आदि शिल्प ग्रन्थों में वास्तु-क्षेत्र में घरायान, स्यन्दन (अथवा पर्यंक) तथा आसन के जो चतुर्धा क्षेत्र हैं तथापि इन ग्रन्थों में यहाँ सिंहासनादि एवं अन्य पंजर तथा नीडादि, दोतादि दीप-दण्डादि नाना फर्नीचर के भी विवरण है तथापि यहाँ शय्या पर इतने वैज्ञानिक एवं परिमाजित विवरण नहीं मिलते।

शय्या अथवा आसन आदि इन विधानों के लिये सर्व प्रथम शुभ ताल, शुभ मुहूर्त आवश्यक है। इन शय्याओं एवं आसनों के निर्माण में किस किस वृक्ष की लकड़ी लानी चाहिए—ये विस्तार बड़े पृथुल हैं (दे० अनुवाद)। राजा, महाराजों के लिए जो शय्या विहित है उसमें स्वर्ण, रेजत हस्तिदन्त आदि की जड़ावट आवश्यक है। शय्या की लम्बाई और चौड़ाई भी व्यक्ति-विशेष के अनुरूप विहित है। राजाओं की शय्या १०८ अंगुल के प्रमाण में बतायी गयी है चौड़ाई से दुगुनी सर्वत्र लम्बाई होनी चाहिए।

एक-दारु-घटिता शय्या प्रशस्त मानी गयी है। द्वि-दारु-घटिता शय्या अनिष्ट बतायी गयी है। तथा त्रिदारु-घटिता शय्या तो शयालु की तात्त्विक मरण बतायी है :-

“त्रिदारुघटिताया तु शय्याया नियतो वधः”

शय्याओं में जो पारिभाषिक वास्तु-मद दिये गये हैं, वे हैं—उत्पल, ईशा-दण्ड, कुप्य तथा पाद। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि घटिता शय्या में ग्रन्थियाँ कभी नहीं होनी चाहियें। ग्रन्थियों अथवा छिद्र दोनों ही वर्ज्य हैं। ग्रन्थियों की निम्न षड्विधा दृष्टव्य है :-

निष्कूट

क्रोहनयन

कालक

कालदूक

वत्तानाभक

बन्धक

इन सबके विवरण अनुवाद में अवलोकनीय है। अतः यहाँ पर इतना सूक्ष्म है कि शय्या कौसी वैज्ञानिक प्रक्रिया से बनती थी। इसी प्रकार आसन, पादुका, कपड़े आदि भी इस शयनासन-विधान में वर्णित किये गये हैं। अन्न पादपे गन्ध-विधान (गन्ध-कला अर्थात् Mechanics) की ओर।

## राज-विलास (नाना यन्त्र)

यन्त्र-घटना—महाकवि कालिदास क महाकाव्य (देखिए रघुवंश) में पुष्पक-विमान का जो उल्लेख है, उसी प्रकार से पुगणो म बहुत से मकैत प्राप्त होते है उनमे जो यह परम्परा विमानो की ओर सक्ते करती है, वह अभी तक नपोल-कल्पना क रूप मे बवलित की गई है । यन्त्र शब्द तत्र के समान ही बडा ही प्राचीन है । मरी दृष्टि मे तन्त्र वास्तव मे शास्त्र अर्थात् पारिभाषिक शास्त्र की सत्ता थी और यन्त्र एक प्रकार से पारिभाषिक कला थी । जो यन्त्र वही मशीन । मानव सब कुछ अपने हाथो से नहीं कर सकता था, अतएव प्रत्येक जाति एक देश की सभ्यता मे यन्त्रों का जन्म एक विकास प्रादुर्भूत हुअ । वात्स्यायन ने काम सूत्र मे जिन ६४ कलाओ का विलास वर्णित किया गया है, उनमे यन्त्र मातृका भी तो थी । आज तक कोई भी विद्वान् इस कला की परिभाषा न दे सका, न समझ ही सका । डा० आचार्य ने अपने ग्रन्थ मे (H A I A) जिन्हो ने इस कला की निम्न व्याख्या की है —

"the art of making monographs, logographs and diagrams  
Yasodhara attributes this to Visvakarma and calls Chatana  
sashtra (Science of accidents)"

अर्थात् जिस दृष्टि से अर्थात् यशोधर की व्याख्या मे आदरणीय डा० आचार्य जिस निष्कर्ष को पहुंचे हैं वह सवथा अान्त है । उस काम-सूत्र के सध्य-प्रतिष्ठ व्याख्याकार यशोधर की इसी व्याख्या से ही मने इस कला को वास्तविक रूप मे ला दिया है । यशोधर ने इस कला की व्याख्या मे लिखा है —

"सजीवानो निर्जीवाना यानोदकसप्रमार्थघटनाशास्त्र विष्कर्मप्रोक्तम्"

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि यान से तात्पर्य विमानादि (Conveyance and aeroplanes) यन्त्रो से है, उदक से तात्पर्य धारा तथा अन्य जलीय यन्त्रो मे है तथा सप्राम से अर्थ संग्रामार्थ यन्त्रों से है, जिनकी परम्परा वैदिक, ऐतिहासिक एक पौराणिक सभी युगो मे पूर्ण रूप से प्रवृत्त थी—जैसे आग्नेयास्त्र (Fire Omittter), इन्द्रास्त्र (Anti-Agneya Rain-producer), वायुणास्त्र (Producing terrible end violent storms) । इसी प्रकार महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थो मे भुशुब्दी, शतघ्नी तथा सहस्रघ्नी को आजकल आधुनिक मशीनयन, स्टेनयन और ठैंको के साथ प्रकल्पित किये



जा सकते हैं । अस्तु यह निस्सन्देह है, जैसा हमने ऊपर संकेत किया है, उस दृष्टि से यह निष्कर्ष कि हम लोग यान्त्रिक-कला एवं यन्त्र-विज्ञान से सर्वथा शून्य थे, अपरिचित थे—यह धारणा निराधार है । अब देखें कि समग्रगण-मूत्रधार का यह यन्त्राध्याय किस प्रकार से इस भ्रान्त धारणा को उन्मूलन कर देता है । इस के प्रथम थोड़ा सा और उपोद्घात आवश्यक है ।

हम बहुत बार पाठकों का ध्यान आकर्षित कर चुके हैं कि जहां वेद थे वहां उपवेद भी थे । उपवेद ही वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक शास्त्रों के जन्मदाता एवं प्रनिष्ठास्थ थे । यन्त्र-विद्या, धनुर्विद्या की अभिन्न भग थी । धनुर्विद्या, धनुर्वेद के नाम से हम स्वीकृत कर सकते हैं, क्योंकि जिस प्रकार ऋग्वेद का उपवेद सामुवेद, उसी प्रकार से यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद (Military Science) था । 'धनु' शास्त्रों एवं कलाओं का प्रतीक था । अस्तु हमारे वाङ्मय में ननुविष्य वर्गीकृत किये गये हैं —

१ मृगय

३ मुक्तामुक्ता तथा

५ अमृगय

४ यन्त्र-मृगय

उपर्युक्त शास्त्रों, सहस्रशास्त्रों, चाप आदि सब यन्त्र-मुक्त शास्त्रास्त्र बोधव्य हैं । डा० राघवन ने अपने Yantras or Mechanical Contrivances in Ancient India नामक पुस्तक में सस्कृत-वाङ्मय में प्रापित यन्त्र सन्दर्भों पर पूर्ण प्रकाश डाला है । परन्तु उनकी दृष्टि में यन्त्र की व्याख्या उन्होंने यन्त्र-विज्ञान न मान कर यन्त्र-घटना घटना के रूप में परिक्लिप्त किया है । परन्तु समग्रगण-मूत्रधार के यन्त्राध्याय के माता प्रवचनों में यन्त्र-विज्ञान की ओर पूर्ण प्रकाश गड़ता है । अतः बिना dogmatic approach के हम अपने वैज्ञानिक दृष्टि में कुछ न कुछ इस तथ्य का पोषण अवश्य कर सकते हैं कि हमारे देश में यन्त्र-विद्या (यन्त्र-विज्ञान) भी काफी प्रवृद्ध थी, जो महाभारत के समय की बात थी, परन्तु पूर्वं एवं उत्तर मध्य-काल में इसका ह्रास हो गया । अतएव समग्रगण-मूत्रधार के अनिर्वृत्त इसी के नेतृत्व पराधिप महाराजाधिराज भोजदेव के द्वारा ही विरचित कोदण्ड मण्डन, इन दो ग्रन्थों की छोड़कर अन्य अन्य एतद्विषयक प्राप्ति नहीं है । अतएव यन्त्र-विद्या तथा यन्त्र-विज्ञान की प्राथमिक दृष्टि से हम पूरी तरह नहीं ला सकते । यही कारण है कि डा० राघवन ने Mechanical Contrivances इस शीर्षक से यन्त्रों की ओर दृष्टि । अथवा Science मिश्रित विशेष उल्लेख था । सम्झने की बात है, विचारने की भी बात है कि कुतूहल-भीतार के निरुद्धाव ।

अशोक का लोह-स्तम्भ किस यन्त्र के द्वारा आरोपित किया गया था और कैसे बना था—वेबल यही ऐतिहासिक निदर्शन हमारे लिये पर्याप्त है कि हमारे देश में यान्त्रिक एवं इन्जीनियरिंग बीजल किसी देश से पीछे नहीं था।

समरोगण-मृत्रधार (मूल ३१.८७, परिमार्जित संस्करण ४६ ८७)

का निम्न प्रवचन पढ़ें :—

पारम्पर्यं कीशल सोपदेशं शास्त्राभ्यासो वास्तुनर्मोलमो धीः ।

सामग्रायं निर्मला यस्य सोऽस्मिन्निचित्राण्येव वेति यन्त्राणि कर्तुम् ॥

यन्त्रणा यटना नोक्ता गुप्ययं नाज्ञतावशात्

तत्र हेतुरयं ज्ञेयो व्यक्ता नैते फलप्रदाः ॥

अस्तु, इस उपोद्धात के बाद हम इस स्तम्भ में यन्त्र-विज्ञान, उसके गुण, प्रकार एवं विधा को एक एक करके विचार करेंगे, जिससे पाठक इस उपोद्धात का मूल्यांकन कर सकने में समर्थ हो सकेंगे। अनुवाद भी पढ़कर कुछ विशेष आश्चर्य का अनुभव कर सकेंगे कि हमारे देश में यह विज्ञान सर्वथा अवश्य था।

यन्त्र-परिभाषा                      देखिए अनुवाद

यन्त्र-बीज                              देखिए अनुवाद

यन्त्र-प्रकार                          देखिए अनुवाद

यन्त्र-गुण                              देखिए अनुवाद

यहां पर अनुवाद-स्तम्भ की ओर तो ध्यान आकर्षित करने ही दिया, परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि यन्त्र-परिभाषा एवं यन्त्र-बीज पर जो लिखा गया है वह कितना वैज्ञानिक है इस से अधिक और क्या वैज्ञानिक परिभाषा एवं वैज्ञानिक बीज (Elements) निर्धारित किये जा सकने हैं। प्रकारों पर जो प्रकाश डाला गया है—जैसे स्वयंचालक (automatic), सङ्कल्पेय (Requiring propelling only once), छिपे हुए बाह्य (operation of which is concealed, i. e. the principle of its action and its motor mechanism are hidden from public view) तथा भद्र-बाह्य (the apparatus of which is placed quite distant)—यह सब कितना वैज्ञानिक एवं विकसित सा प्रतीत होता है। साथ ही साथ शायद ही आज के युग में भी यन्त्र-गुणों की वीस प्रकल्पनाओं पर जो प्रकाश इस ग्रन्थ में डाला गया है, वह सम्भवतः कहीं पर भी प्राप्य नहीं है। यन्त्र-गुणों की सार्वभौमिकता यहाँ पर अतएव अवतरणीय है :—

१. यथावद्बीज-संयोग (Proper combination of things in proportion),

- २ सौर्लिष्ट्य Attribute of being well-knit construction.
- ३ श्लक्ष्णता Smoothness and fineness of appearance.
- ४ अलक्ष्यता Invisibleness or inscrutability.
- ५ निर्वहन Functional Efficiency.
- ६ लघुत्व Lightness.
- ७ शब्द हीनता Absence of noise where not so desired.
- ८ शब्दाधिक्य Loud noise, if the production aimed at, is sound
- ९ अशैथिल्य Absence of Looseness.
- १० अगाढता Absence of stiffness.
- ११ सम्यक्-सञ्चरण Smooth and unhampered motion in all co-  
veyances
- १२ यथाभीष्टार्थकारित्व Fulfilling the desired end i. e. pro-  
duction of the intended effects (in cases where the ware  
is of the category of cures)
- १३ लयताल-अनुगामित्व Following the beating of time, the rhy-  
thmic attributes in motion (particularly in entertainment  
wares).
- १४ दृष्टकाल-अर्थदर्शित्व Going into action when required
- १५ पुनः सम्यक्त्व-संवृत्ति Resumption on the still state when so  
required.
- १६ अनुलवणत्व Beauty i. e. absence of an uncouth appearance
- १७ तादृश्य Versimilitude (in the case of bodies intended to  
represent birds and animals)
- १८ दारुण्य Firmness
- १९ मसृणता Softness.
- २० चिर-काल-सहत्व Endurance.

यन्त्र-कार्य :—देखिए अनुवाद ।

यन्त्र-कर्म मे जो गमन, सरण, पात, पतन, काल, शब्द, आदित्र आदि  
जो इस ग्रन्थ मे निविष्ट किये गये हैं, उनमे आधुनिक नाना मशीनो जैसे  
षट्पिया, रेल, मोटर, रेडियो, बारि तथा त्रिमान (aeroplane) सभी  
प्रकल्प्य प्रतीत होने हैं ।

प्राधार-भौतिक क्रिया-शैली की दृष्टि से प्रथम तो क्रिया ही मौलिक-लायमान एवं मूर्धन्य है जिस से भ्रमन, पतन, पात, सरण आदि विभक्त्य हैं।

जहाँ तक काल का प्रश्न है, उससे आधुनिक घड़ियों की ओर संकेत है—यह तो हम ऐतिहासिक दृष्टि से पुष्ट कर सकते हैं कि उस प्राचीन एवं मध्यकालीन युग में जल-घड़ियाँ तथा काष्ठ-घड़ियाँ तो विद्यमान थी ही।

जहाँ तक शब्द-विद्या का प्रश्न है वह आधुनिक वाद्य-यन्त्र की ओर संकेत कर रही है, क्योंकि याद्विज—गीत, वाद्य एवं नृत्य के साथ जो अन्य नाना बाजो जैसे पटह, मुरज, बंग, घोला, वास्यताल, तृमिता, करताल और नाटक, साण्डव, लास्य, राजमार्ग देशी आदि, नृत्यो एवं नाट्यो की ओर जो संकेत है, वे क्या सत्कालीन आधुनिक रेडियो की ओर संकेत अथवा मूल भित्ति (Foundation) की ओर हमें नहीं ले जा सकते अथवा यन्त्रों के द्वारा इनकी निष्पत्ति, प्रादुर्भाव या आविर्भाव की ओर व्याख्यान करने का क्या अभिप्राय है ?

यन्त्र-कर्मों में उच्छ्वाय-वात, सम-पान, समोच्छ्वाय एवं अनेक उच्छ्वाय-प्रकारों पर, जो प्रकाश इस ग्रन्थ-रत्न में प्राप्त होता है, उससे महावैज्ञानिक बारि-यन्त्रों तथा धारा-यन्त्रों की पूरी पूरी पुष्टि प्राप्त होती है।

इसी प्रकार नाना-विध यन्त्रों के कर्मों पर भी प्रकाश डाला गया है—जैसे रूप, स्पर्श तथा दोला एवं चोड़ाये एवं कौमुद एवं आमोद। सेवा (Service) रक्षा (defence) आदि कार्य भी इन्हीं यन्त्रों के द्वारा उत्पन्न दिये गये हैं। यह आगे के स्तम्भ यन्त्र-प्रकार से स्वतः परिपुष्ट हो जाता है।

मान-मातृका की परिभाषा की हमने जो वैज्ञानिक व्याख्या सर्व प्रथम हम भारत-भारती (Indology) में पाठकों के सामने रखी है उसी के अनुसार यह समरागण-सूत्रधार भी उनी ओर हमें ले जा रहा है। समरागण सूत्रधार के इस यन्त्राध्याय में जो नाना यन्त्र वर्णित किये गये हैं उनकी हमने निम्न पङ्क्ति-विधा में वर्गीकृत किया है :—

१ आमोद-यन्त्र — इस वर्ग में

- (i) भूमिका-राय्या प्रसपंण
- (ii) सीराग्नि-शय्या
- (iii) पुत्रिका-नाडी-प्रबोधन
- (iv) नादिका-मनोवन-यन्त्र

- (v) गोल-भ्रमण-यन्त्र Chronometre-like-object  
 (vi) नर्तकी-पुत्रिका Dancing Doll  
 (vii) हस्ति-यन्त्र  
 (viii) शुक-यन्त्र

२ सेवा एवं रक्षा-यन्त्र :-

- (i) सेवक-यन्त्र (iv) गोघ-यन्त्र  
 (ii) सेविका-यन्त्र (v) सिंहनाद-यन्त्र  
 (iii) द्वार-पाल-यन्त्र

३ सग्राम के यन्त्र :-—इन वं केवल सवेत हैं, परन्तु घटना पर प्रकाश नहीं डाला गया है । इनमें चाप, शतघ्नो, उष्ट-श्रीवा आदि सग्राम-यन्त्र ही सूचित हैं ।

४ यान-यन्त्र :-—सम्बरचारि-विमान-यन्त्र को हम अन्त में परिपुष्ट करेंगे ।

५ चारि-यन्त्र :-—इसमें जैसा पीछे सवेत किया जा चुका है उसकी चतुर्धा कोटि है :-

- (i) पात-यन्त्र  
 (ii) उच्छ्वाय-यन्त्र  
 (iii) पात-समोच्छ्वाय-यन्त्र  
 (vi) उच्छ्वाय-यन्त्र

इन चारों का मौलिक उद्देश्य द्विविध है :-

एक तो त्रीडायं दूसरा कार्य-सिद्धययं । दूसरी कोटि पात यन्त्र की प्रतीक है और पहली कोटि दूसरी, तीसरी, चौथी से उदाहृत एवं समन्वित है । इन चारों विधाओं की विशेषता यह है कि पहले से अर्थात् पात-यन्त्र से ऊपर एकत्रित किए गए जलशाय से नीचे की ओर पानी छोड़ा जाता है । दूसरा यथानाम (उच्छ्वाय-समपातयन्त्र) जहाँ पर जल और जलाशय दोनों एक ही स्तर पर रखकर जल छोड़े जाते हैं । तीसरी विधा पात-समोच्छ्वाय-यन्त्र का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें एक बड़ी मनोरञ्जक तथा उपादेय प्रक्रिया तथा पद्धति का आलम्बन किया जाता है जो गड़े हुए खम्भों (Bored Columns) के द्वारा ऊँचे स्तर से नीचे की ओर पानी इन्हीं खम्भों के द्वारा लाया जाता है जो हम आधुनिक टकियो में भी वंसा ही देखने हैं । चौथी विधा को हम आधुनिक Boring के रूप में विभाजित कर सकते हैं ।

समरागणके इस यन्त्राध्याय मे इन चारो वारि-यन्त्रो के अतिरिक्त और भी वारि-यन्त्र सकेतित किए गए हैं जैसे दाहमय-हस्ति-यन्त्र जिसमे कितना वह पानी पी रहा है कितना छोड़ रहा है—यह दिखाई नहीं पड़ता। उसी प्रकार फोहारो (underground conduit) का भी इन विवरणों से ऐसे निदर्शन प्राप्त होते हैं। भारत की विख्यात नगरी चंडीगढ़ के समीप एव प्रति प्रख्यात तथा अत्यन्त अनुपम जो मुगल-कालीन विलास भवन पिछ्जोर उद्यान के नाम से यहां पर पर्यटकों का आकर्षक केन्द्र है, वहां पर इस प्रकार के वारि एव धारा यन्त्रों की सुषुमा देखें तो हमारे प्राचीन स्थापत्य-कौशल का पूर्ण परिपाक इन निदर्शनों से भी पूर्ण प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है।

६ धारा-यन्त्र—हम वारि-यन्त्रों के साथ इन धारा-यन्त्रों को नहीं लाए। धारा गृह स० सू० के इस यन्त्राध्याय मे बड़े ही विवरणों एव प्रकारों से प्रतिपादित हैं। वे विवरण इतने मनोरंजक, पारिभाषिक तथा पृथुल हैं जिनको हम पूर्ण स्थापत्य का विलास मानते हैं। स्वपत्ति की चार श्रेणीया है :-

- |               |               |
|---------------|---------------|
| १ स्वपत्ति    | २ सूत्रग्राही |
| ३ बद्ध कि तथा | ४ सक्षक       |

धारा-यन्त्रों के निर्माण मे इन चारों का कौशल एव विलास दिखाई पड़ता है। धारा-गृहों के निम्न पाच वर्ग प्रतिपादित किए गए हैं —

- १ धारा गृह
- २ प्रवर्षण
- ३ प्रणाल
- ४ जलमग्न
- ५ नद्यावर्त ।

धारा-गृह—एक प्रकार से उद्यान के Shower Bower के रूप मे विभाजित कर सकते हैं। इस प्रकार का धारा-गृह मध्यकालीन युग मे सभी राज-भवनो—प्रादास-भवनो एव विलास-भवनो के अनिवार्य अंग थे। यह धारा गृह पौरात्य एव पाश्चात्य दोनों सस्कृतियों के प्रोत्सास माने गए हैं। जिस प्रकार वितान-मास्तु (Dome Architecture) को जो नवीन दृष्टि से समीक्षा की है और यह धारणा कि यह वास्तु-तत्त्व फार्म की देन है, वह कितनी भ्रामक धारणा है उसको स० सू० के वितान और सुभा वास्तु-शिल्प के द्वारा जो निराकरण किया वह पीछे द्रष्टव्य है उसी प्रकार जिन विद्वानों की यह धारणा है कि ऐसे धारा-गृहों का मुगलों ने यद्वा पर अधोगण्ट किया था, वह भी अत्यन्त

आन है। यह ग्रन्थ ग्याग्हवी शताब्दी का अधिकृत ग्रन्थ है, जिसमें धारा-गृहों के नाना प्रकार एवं स्थापत्य-कौशल के जो प्रचुर प्रमाण मिलते हैं उससे यह धारणा अपने आप निराकृत हो सकती है। मध्यकालीन स्मारकों में कोई भी ऐसा धारा-यन्त्र इस देश में नहीं प्राप्त होता है जो मुगलों से पूर्व बना हो। अस्तु तथापि संस्कृत के विभिन्न प्राचीन काव्यों को देखें—कालिदास, भारवि, माघ, सोमदेव-सूरि, जिनके काव्यों में इन धारा-यन्त्रों के बड़े भावपूर्ण और महत्वपूर्ण संदर्भ प्राप्त होते हैं। कालिदास के मेघदूत की निम्न पंक्ति पढ़ें :-

“नेष्यन्ति त्वा सुरयुवतयो यत्र धारागृहत्वम्”

सोमदेव-सूरि के टीकाकार इन धारा-गृहों में जो हमने एक प्रवर्णन की विधा दी है, इसको “कृत्रिम-मेघमण्डिरम्” नाम से प्रकीर्तित किया है। इस ग्रन्थ में भी इस विधा को “अनुरक्तामेकं जलमुचाम्” के नाम से स्वयं प्रतिपादित किया है। धारा-गृह को हम सद्यान की शोभा के रूप में पहले ही कीर्तित कर चुके हैं। प्रवर्णन पर भी थोड़ा सा संकेत ऊपर कर चुके हैं। तीसरा प्रकार प्रणाल के नाम से विश्रुत है जो एक झुल्ला धारा-गृह बनाया जाता है, जिसमें एक अथवा चार अथवा आठ अथवा सोलह खम्भे बनाए जाते हैं, तो गुष्पक-विमान के रूप में निर्मित होता है। इस धारा-गृह के केन्द्र में जलाशय का निर्माण होना है, जिसमें एक पद्मारूति पीठ बनाया जाता है। वहीं पर राजा के बैठने की जगह बनाई जाती है और चारों ओर सुन्दर युवतियों की प्रतिमाएँ बनाई जाती हैं, जिनकी आँखें इस पथ को देखती हुई दिखाई जाती हैं। ज्यों ही ऊपर का जलाशय पानी से भर दिया जाता है और वन्द कर दिया जाना है त्यों ही इन प्रतिमा-चित्रों से पानी निकलने लगता है और एक महान् मनमोहक वातावरण उत्पन्न होता है और इस प्रकार से वहाँ पर राजा बैठा हुआ जल से भीगता हुआ आनन्द लेता है।

जलमग्न ययानाम जलाशय के भीतर वरुण अथवा नागराज के प्रासाद के समान यह प्रासाद विभाव्य है। यह एक प्रकार का अन्न-पुर है। यहाँ पर केवल घोड़े से ही प्रधान पुरुष जैसे राजकुमार,, राजदूत यहाँ पर आ सकते हैं। पाचवीं कोटि नन्द्यावर्त की है, जिसके निर्माण में स्थापत्य एवं चित्र-कौशल भी अनिवार्य है, क्योंकि यह धारा-गृह नन्द्यावर्त, स्वस्तिक आदि विशिष्टतियों से भलकृत होना आवश्यक है। यह आस-मिचीनी-के लिए बड़ा उपार्थ माना

गया है। इस स्थूल समीक्षा के उपरान्त हमारा यह सन्नेत है कि पाठक इस ग्रन्थ में अनुवाद-स्तम्भ को ध्यान से पढ़ें तो इस कारीगरी और स्थापत्य-कौशल का कितना महत्वपूर्ण मूल्यांकन प्राप्त हो सकेगा।

\*७ बोला-यन्त्र—इसको बय-दोला भी कहते हैं। धारा-गृह के समान इसके भी पांच निम्न प्रकार वर्णित किये गए हैं :—

१. वसन्त २. मदनोत्सव ३. वसन्त-तिलक ४. विजयमय तथा ५. त्रिपुर।

जहाँ वहीं भी हमारे देश में मंले होते हैं वहाँ पर भूले अवश्य गाड़े जाते हैं और बच्चे उन पर चढ़कर प्रसन्न होते हैं, घूमते हैं और घुमाये जाते हैं। लेकिन ये भूले स्थापत्य-कौशल की दृष्टि से कोई अर्थ नहीं रखते। स० सू० के इस यन्त्राध्याय में दोला यन्त्रों के जो विवरण प्राप्त होते हैं वे इतने प्रशस्त हैं कि ये साक्षात् यन्त्र हैं, जिन में यन्त्र ही उनको चलाते हैं। जो रूप भूलों के हम आज देखते हैं, वे अति मामूली हैं। अनुवाद को यदि आप देखें तो कोई दोला जैसे वसन्त-तिलक, वह द्विभौमिक है और त्रिपुर तो ऐसा आभास प्रदान करेगा मानो तीन नगरियाँ दिखाई पड़ रही हैं। इन सब के विवरण अनुवाद में ही द्रष्टव्य हैं। हमने अपने Vastusastra—Vol. I Hindu Science of Architecture with special reference to Bhoja's Samrangana-Sutradhara में इस की जो विशेष समीक्षा की है और वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन किया है, वह इस ग्रन्थ में विशेष द्रष्टव्य है।

विमान-यन्त्र :—अब आइये यान-यन्त्र पर। हमें उस पर विशेष रूप से कोटन करना है। यान-यन्त्र की जो श्रेणी हमने चौथी दी थी उसमें वहाँ पर अन्तिम विधा में विवेच्य माना है। इस यन्त्राध्याय में यान यन्त्र अर्थात् विमान-यन्त्र पर जो प्रतिपादन है, वह इस यन्त्र की सब से बड़ी विभूति है, जिसका अन्य शिल्प-ग्रन्थ में कोई भी विवरण नहीं है। कालिदास से लगाकर प्रागे के माना ग्रन्थों—काव्यो, नाटको आदि में यद्यपि सर्वत्र ही संकेत प्राप्त है, परन्तु रचना-विधि अग्रगण्य है। साहित्यिक सन्दर्भों की जितनी महत्ता है, उतनी महत्ता जन-श्रुतियों की भी मानी जा सकती है। बहुत दिनों तक मध्य भारत के गाव-गाँव में यह जन-श्रुति थी कि महाराजाधिराज धाराधिप भोजदेव के दरबार में भद्रमुखी नाम का एक विमान था, तो विमान-रचना भी इस काल में अवश्य थी। परन्तु तो फिर विमान-यन्त्र की रचना में जो पूरे के पूरे विवरण हैं उनमें

\*टि० यद्यपि हमने यन्त्रों की यह विधा ही दी है परन्तु रक्षा और सशस्त्र (जो एक ही विधा है) इन दो विधाओं के विवरण की दृष्टि से सन्तुष्ट कर दी है।



केवल दो ही तत्व प्राप्त होते हैं अर्थात् अग्नि और पारा तथा आकार और सभार भी। निम्नलिखित उद्धरण पढ़िए :—

सधुदाश्मय महाविहग दृढसृक्षिष्टतनु विधाय तस्य ।

उदरे रसयन्त्रमादधीत ज्वलनाधारमघोऽस्य चाग्निपूरणम् ॥

तत्रारूढः पूरयस्तस्य पक्षद्वन्द्वोच्चातितप्रोज्झितेनातिलेन ।

सृष्टस्यान्त पारदस्यास्य शक्त्या चित्र कुर्वन्मन्त्रेण याति दूरम् ॥

इत्यमेव सुरमन्दिरनुल्य सञ्चलतयस्य दारुविमानम् ।

आदधीत विधिना चतुरोन्तस्तस्य पारदभृतान् दृढकुम्भान् ॥

अयः कपालाहितमन्दबह्निप्रतप्ततस्कुम्भमुवा गुण्येन ।

व्योम्नो भटित्याभरणत्वमेति सन्तप्तगर्जद्वसराजशक्त्या ॥

जैसा हमने ऊपर सकेत किया कि इस विमान-यन्त्र-वर्णन में सारे विवरण प्राप्त नहीं होते, तथापि रचना-प्रक्रिया प्रज्ञात नहीं थी, चूँकि यह काल सामन्त-वादी (Aristocratic Age) था, अतः प्राकृत जनो के लिए यह भोग और विलास नहीं प्रदत्त किए गए। अतएव इनका एक-मात्र राज-भोग में ही मतायेँ किया गया। अतः इन विद्याओं एवं कलाओं का संरक्षण एक-मात्र राजाश्रय ही था। अतः शास्त्रीय ढंग से जब इनकी व्याख्या प्रयत्न प्रतिपादन आवश्यक था तो ग्रन्थ-कार ने इसी मूलभूत प्रेरणा के कारण बहाना दिया जो निम्न बलोक को पढ़ने से प्राप्त होता है :—

“यंत्राणां घटना नोक्ता गुप्त्यर्थं नाज्ञतावशात् ।

तत्र हेतुरयं ज्ञेयो व्यक्ता नैते फलप्रदाः ॥

यह हम अवश्य स्वीकार करते हैं कि पारम्पर्य कौशल, सोपदेश शास्त्राभ्यास वास्तुकर्मोद्यमा बुद्धि—यह सभी इस प्रकार की यांत्रिक घटना और पारिभाषिक ज्ञान के लिए अनिवार्य अंग हैं, तथापि यह बहाना भी ताकिक नहीं है। तथ्य यह है कि प्राचीन वाङ्मय के रहस्य की कुँजी रहस्य योपन है। अन्त में इस यंत्राध्याय की समीक्षा में यह अवश्य हमें स्वीकार करना है कि हमारे देश में यन्त्र विद्या की कमी नहीं थी।

भारत की प्राचीन सस्कृति में मन्त्र, तन्त्र और यन्त्र तीनों ही अपनी अपनी दिशा में विकास एवं प्रोत्साहन के ओर जाते रहे, परन्तु जिस प्रकार वैदिक युग में मन्त्रों का प्राबल्य था, फिर कालान्तर में विशेष कर मध्यकाल तथा उत्तर मध्यकाल में तन्त्रों का इतना प्राबल्य हुआ कि मन्त्रों के भौतिक विकास को

प्रथम न देकर एक-मात्र इनको चित्र में चित्रित कर दिया । अतएव तान्त्रिक लोगो ने मन्त्र-बीज, तन्त्र-बीज, यन्त्र-बीज—इन्ही उपकरणों से एव उपलक्षणों से भौतिक यन्त्रों को एक-मात्र नाम-मात्र की अभिधा में गतार्थ कर दिया ।

बात यह है कि समरागण-सूत्रधार के यन्त्राध्याय के प्रथम श्लोक (मंगला-चरण) को पढ़ें, साथ ही माय गीता के श्लोक को भी पढ़ें जो नीचे उद्धृत किए जाते हैं, तो हमारे इस उपर्युक्त मत का अपने आप पोषण हो जाता है । अर्थात् यन्त्रों को अध्यात्म-विभूति में पर्यवसित कर दिया अर्थात् हमारा देश इस यात्रिक विज्ञान से पीछे न रहता :—

जहाना स्पन्दने हेतुं तेषां चेतनमेवकम् ।

इन्द्रियाणामिवात्मानमपिष्ठात्तया स्थितम् ॥

भ्राम्यद्दिनेशसिमण्डलचक्रसस्तर्मेतज्जगत्त्रितययन्त्रमसद्व्यमध्यम् ।

भूतानि बीजमक्षिनान्यपि मप्रकल्प्य यः सन्तत भ्रमयति स्मरजित्सवोभ्यात् ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽजुंनं तिष्ठति ।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

# राजसी कलाये

## चित्र-कला

हमने अपने उपोद्घात में पहले ही यह सकेत कर दिया है कि चित्र का अर्थ एकमात्र आलेख्य नहीं, चित्र का अर्थ वास्तव में प्रतिमा है। अतएव इस अध्ययन में चित्र को हम निम्न दो दृष्टि-कोणों से देखेंगे और साथ ही साथ दो वर्गों में विभाजित करेंगे। लौकिक दृष्टि से आलेख्य चित्र का प्रथम उपयोग करेंगे। पूर्वोक्त चित्र की विधा—फोटो को जब हम दो में कवचित कर सकते हैं १. विनाभास अर्थात् आलेख्य, २. चित्रार्थ एवं चित्र अर्थात् प्रतिमा आदि प्रथम पूर्ण।

सर्व-प्रथम आलेख्य चित्र पर हमने ग्रन्थ प्राप्त होने है, थोड़ा सा सकेत करना आवश्यक होगा, पुनः आलेख्य-रूपा का सलित बनावटों में क्या स्थान है यह भी प्रतिपाद्य होगा। पुनः चित्र-कला का जन्म कैसे हुआ और उसका विस्तार (क्षेत्र अथवा विषय, कैसा है—इस पर भी समीक्षण आवश्यक है। पुनः चित्ररत्ना के वर्गों (विभाग) तथा विधाओं (Types) का सविस्तार वर्णन करना होगा। गिरा-अर्थों की दृष्टि से वर्णिका-निर्माण, वर्णिका-वर्णन एवं वर्ण-अभोग (colouring) तो चित्र-विद्या के सबसे प्रमुख कौशल है। परन्तु इस कौशल को प्राप्त करने के लिए उभी प्रकार दक्ष भी चित्र-विद्या का प्रमुख अंग है। वास्तु, शिल्प, एवं चित्र की दृष्टि से मात्र तीसरी प्रमुख विवेचना है। कोई भी शिल्प बिना नाम के कला के रूप में नहीं परिणत हो जा सकती। इस लिए चित्र के विभिन्न शास्त्रों में प्रमाण भी उतने ही प्रचुर प्रकटित किए गए हैं। Pictorial Pottery और Pictorial Iconometry दोनों ही एक स्तर पर आती मृत्ता रखते हैं। मध्यकालीन चित्रशास्त्र

क्षय वृद्धि है। बिना इस क्षय वृद्धि-प्रक्रिया के वर्ण विन्यास, वर्णोज्ज्वलता एवं वाणिज्य वैशिष्ट्य सम्पन्न नहीं होता। चित्र-नीशल में शास्त्र ने जो प्रतीकात्मक रूढ़ियाँ (Conventions) प्रदान की हैं, उनके बिना चित्र दर्शन-मात्र से उसकी पूर्ण पहिचान और उसकी व्याख्या तथा पूरी समझ असम्भव है। अपराजित-पृच्छा में चित्र के सद्भाव का इतना व्यापक दृष्टिकोण प्रकट किया गया है जिसमें स्थावर और जगम सभी पदार्थ सम्मिलित हैं, तो इनके रूप, उनके कार्य, उनकी चेष्टा, तथा उनकी क्रियाएँ अथवा उनका प्राकृतिक सौन्दर्य एवं याथातथ्य चित्रण कैसे सम्भव हो सकता है जब तक हम इन रूढ़ियों (Conventions) का सहारा न लें। चित्र-नीशल का अन्तिम प्रकरण भावाभिव्यक्ति एवं रसानुभूति है। चित्र-शास्त्र के जितने भी ग्रन्थ प्राप्य हैं उनमें एकमात्र समरागण-सूत्रधार ही है, जिसमें चित्र के रसों एवं चित्र की दृष्टियों का वर्णन किया गया है। धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव से बढ़कर हमारे देश में इतना उद्भट और प्रसिद्ध-कीर्ति, श्रगारिक अर्थात् काव्य-तत्त्व-वेत्ता (Aesthetician) नहीं हुआ है। जहाँ उसने श्रगार-प्रकाश की रचना की वहाँ उसने वास्तु में ऐसे अप्रतिम ग्रन्थ समरागण-सूत्रधार की भी रचना की। इस महायशस्वी लेखक ने चित्र की भी काव्य की गोद में रखता हुआ प्रदर्शित कर दिया। इस प्रकार में ही दृष्टि में यह ग्रन्थ विष्णु धर्मोत्तर से भी आगे बढ़ गया और बाजी मार ले गया। विष्णु-महापुराण के परिशिष्टांग विष्णुधर्मोत्तर के चित्र-सूत्र को देखें तथा परिशीलन करें तो वहाँ पर यह पूर्ण रूप से प्रकट है कि बिना नृत्य के चित्र दुर्लभ है —

विना तु नृत्य-शास्त्रेण चित्रमूत्र सुदुर्विदम् ।

यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुवृत्ति स्मृता ।।

दृष्टयश्च तथा भावा प्रज्ञोपाज्ञानि सर्वसः ।

कराश्च ये महानृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम ॥

॥ एवं चित्रे विज्ञया नृत्ता चित्र परं मतम् ॥

यद्यपि इस अवतरण में नाट्य हस्त, नृत्य-हस्तों के साथ दृष्टियों का भी संकेत प्रचक्ष्म है, परन्तु उत्तम प्रतिपादन नहीं। अतः इस वमी को समरागण-सूत्रधार ने पूर्ण कर दी। इस ग्रन्थ में चित्र के ग्यारह रस और षठाह रस-दृष्टियाँ प्रतिपादित की गयी हैं, जिनकी हम आगे व्याख्या करेंगे। हमने अपने चित्र-लक्षण में चित्रकला को नाट्य और काव्य से और और बढ़ाकर रस-सिद्धान्त एवं ध्वनि-सिद्धान्त में लाकर परिणत कर दिया है। अन्त

# राजसी कलायें

## चित्र-कला

हमने अपने उपोद्घात में पहले ही यह संकेत कर दिया है कि चित्र का अर्थ एकमात्र आलेख्य नहीं, चित्र का अर्थ वास्तव में प्रतिमा है, अतएव इस अध्ययन में चित्र को हम निम्न दो दृष्टि-कोणों से देखेंगे और साथ ही साथ दो वर्गों में विभाजित करेंगे। लौकिक दृष्टि से आलेख्य चित्र का प्रथम उपन्यास करेंगे। पूर्वोक्त चित्र की विधा—कोटि को अब हम दो में कवलित कर सकते हैं। १. चित्राभास अर्थात् आलेख्य, २. चित्रार्थ एवं चित्र अर्थात् प्रतिमा आशिक अथवा पूर्ण।

सर्व-प्रथम आलेख्य चित्र पर किन्तु ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, थोड़ा सा संकेत करना आवश्यक होगा, पुनः आलेख्य-कला का सलित कलाओं में क्या स्थान है यह भी प्रतिपाद्य होगा। पुनः चित्र-कला का जन्म कैसे हुआ और उसका विस्तार (क्षेत्र अथवा विषय) कंसा है—इस पर भी समीक्षण आवश्यक है। पुनः चित्रकला के अंगों (चित्रांग) तथा विधाओं (Types) का सविस्तार वर्णन करना होगा। शिल्प-ग्रन्थों की दृष्टि से चित्रा-निर्माण, चित्रा-वर्तन एवं वर्ण-नियोग (colouring) तो चित्र-विद्या के सबसे प्रमुख कौशल हैं। परन्तु इस कौशल की प्राप्ति करने के लिए उभी प्रकार दाक्ष्य भी चित्र-विद्या का प्रमुख अंग है। वास्तु, शिल्प, एवं चित्र की दृष्टि से नाप तीसरी प्रमुख विवेचना है। कोई भी शिल्प बिना नाप के कला के रूप में नहीं परिणत की जा सकती। इस लिए चित्र के विभिन्न मापनों में प्रमाण भी उतने ही प्रचलन प्रकाशित किए गए हैं। Pictorial Pottery और Pictorial Iconometry दोनों ही एक स्तर पर अपनी महत्ता रखते हैं। मध्यकालीन चित्रकार विशेषकर मुगलों के दरबार में जो चित्रकार अपनी श्रुति से इतिहास में मात्र भी विद्यमान हैं, वे बिना छद्म-वर्तना (बादाम) के कोई चित्र नहीं बनाते थे। इस प्रकार चित्र-चर्माण, समरगण-गुलशार तथा मानसोल्लाह इन तीनों ग्रन्थों की दृष्टि में छद्म-वर्तना चित्र-नीमन में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है। भारतीय चित्र-शास्त्र की दृष्टि में सबसे बड़ा सूक्ष्मेक्षित-नीमन

क्षय-वृद्धि है। बिना इस क्षय-वृद्धि-प्रक्रिया के वर्ण-विन्यास, वर्णोज्ज्वलता एवं वास्तविक वैशिष्ट्य सम्भव नहीं होता। चित्र-कौशल में शास्त्र ने जो प्रतीकात्मक रूढ़ियाँ (Conventions) प्रदान की हैं, उनके बिना चित्र दर्शन-मात्र से उनकी पूर्ण पहिचान और उसकी व्याख्या तथा पूरी समझ असम्भव है। अपराजित-वृद्धि में चित्र के सद्भाव का इतना व्यापक दृष्टिकोण प्रकट किया गया है जिसमें स्थावर और जगम सभी पदार्थ सम्मिलित हैं, तो इनके रूप, उनके कार्य, उनकी चेष्टा तथा उनकी क्रियाएँ अथवा उनका प्राकृतिक सौन्दर्य एवं याथातथ्य चित्रण कैसे सम्भव हो सकता है, जब तक हम इन रूढ़ियों (Conventions) का सहारा न लें। चित्र-कौशल का अग्रिम प्रकरण भावाभिव्यक्ति एवं रसानुभूति है। चित्र-शास्त्र के जितने भी ग्रन्थ प्राप्य हैं उनमें एकमात्र समरागण-सूत्रधार ही है, जिसमें चित्र के रसों एवं चित्र की दृष्टियों का वर्णन किया गया है। धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव से बढ़कर हमारे देश में इतना उद्भट और प्रसिद्ध-कीर्ति, श्रृंगारिक अर्थात् काव्य-तत्त्व-वेत्ता (Aesthetician) नहीं हुआ है। जहाँ उसने श्रृंगार-प्रकाश की रचना की वहाँ उसने वास्तु के ऐसे अप्रतिम ग्रन्थ समरागण-सूत्रधार की भी रचना की। इस महायशस्वी लेखक ने चित्र को भी काव्य की गोद में लेलता हुआ प्रदर्शित कर दिया। इस प्रकार मेरी दृष्टि में यह ग्रन्थ विष्णु धर्मोत्तर से भी आगे बढ़ गया और बाजी मार ले गया। विष्णु-महापुराण के परिशिष्टांग विष्णुधर्मोत्तर के चित्र-सूत्र को देखे तथा परिशीलन करें तो वहाँ पर यह पूर्ण रूप से प्रकट है कि बिना नृत्य के चित्र दुर्लभ है।—

विना तु नृत्य-शास्त्रेण चित्रमूत्र सुदुर्विदम् ।

यथा नृते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृति स्मृता ॥

दृष्टवश्च तथा भावा पञ्चोपाङ्गानि सर्वशः ।

करादयः ये महानृते पूर्वोक्ता नृपसत्तम ॥

त एव चित्रे विज्ञेया नृता चित्र परं मतम् ॥

यद्यपि इस अवतरण में नाट्य-हस्त, नृत्य-हस्तों के साथ दृष्टियों का भी संकेत अवश्य है, परन्तु उगमे प्रतिपादन नहीं। मत इस सभी को समरागण-सूत्रधार ने पूर्ण कर दी। इस ग्रन्थ में चित्र के ग्यारह रस और अठारह रस-दृष्टियों प्रतिपादित की गयी हैं, जिनकी हम आगे व्याख्या करेंगे। हमने अपने चित्र-लक्षण में चित्रबसा को नाट्य और काव्य के और ऊपर उठाकर रस-सिद्धान्त एवं ध्वनि-सिद्धान्त में लाकर परिणत कर दिया है। सम्मत के अपने

काव्य-प्रकाश में काव्य की त्रिविधा से जो चित्र-काव्य को तीसरी बोटि दी गयी है, उतका आशय एक मात्र व्यंग्याभाव एवं शब्द-चित्रता तथा मर्म-चित्रता से ही तात्पर्य नहीं है, उसमें इस इस शब्द के प्रयोग में एक बड़ा मर्म भी छिपा है। मेरी दृष्टि में जिस प्रकार काव्य में शब्दों एवं अर्थों के द्वारा व्यंग्य की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि व्यञ्जना के लिए व्यञ्जकों की आवश्यकता है, तो क्या व्यञ्जक व्यंग्य की ओर सहृदयों को नहीं ले जा सकते। जिस प्रकार कोई युवती अनिश्चयी होती हुई यदि वह नाना शृंगारों से सुमज्जित, नाना विलासों से मडित, अनेक नेपथ्यों से विलसित क्या वह कई व्यंग्यों की ओर इशारा नहीं कर सकती? किसी कुशल चित्रकार के चित्र को देखें, उसमें कितने व्यंग्य छिपे हैं जो एक-मात्र वर्णों एवं आकारों तथा कुछ बन्धनों (Back grounds) के साथ साथ अन्य नाना कितने आकृत अपने आप आपतित हो जाते हैं।

अस्तु, अब इस उपोद्घात के अनन्तर हमें अपने इस अध्ययन में अध्ययन की रूपरेखा की कुछ अवतारणा अवश्य करनी है जो निम्न तालिका से द्रष्टव्य है :—

- १ चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थ,
- २ चित्र-कला का ललित कलाओं में स्थान, उद्देश्य, जन्म और विस्तार,
- ३ चित्राग (Elements-Constituents and Types),
- ४ वस्तुतः तथा भूमि-बन्धन,
- ५ अङ्क-प्रमाण,
- ६ लेख्य-कर्म,
- ७ आलेख्य—वर्म-वर्ण एवं कूर्चक, कान्ति एवं विच्छेदित तथा शय-वृद्धि सिद्धान्त,
- ८ आलेख्य-शब्दिया (Conventions),
- ९ चित्र-कला तथा काव्य-कला, नाट्य-कला, नृत्य कला तथा भावाभिव्यक्ति—ध्वनि एवं रसास्वाद,
- १० चित्र-शैलिया-पत्र एवं कण्टक,
- ११ चित्रकार,
- १२ चित्रकला पर ऐतिहासिक विहगम दृष्टि :—  
 (अ) पुरातत्त्विक,  
 (ब) साहित्य-निबन्धनीय।

चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थ :—संस्कृत में केवल चित्र पर निम्नलिखित पांच ग्रन्थ ही प्राप्य हैं :—

१. विष्णुधर्मोत्तर —तृतीय भाग चित्रसूत्र ;
२. समरागण-सूत्रधार—देखिए इस अध्ययन में चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थाय-  
तालिका ;
३. अपराजित-पृच्छा ;
४. अभिलषितार्थ-चिन्तामणि (मानसोल्लास) ;
५. शिल्प-रत्न ।

इन ग्रन्थों (पूर्व एवं उत्तर मध्यकालीन कृतियों) के अनिश्चित सर्वप्राचीन-  
वृत्ति नग्नजित् वा चित्र-लक्षण है । नग्न-जित् के सम्बन्ध में ब्राह्मणों (ब्राह्मण-  
ग्रन्थों)में भी संकेत मिलत हैं । यह मौलिक कृति अप्राप्य है । सौभाग्य से तिब्बती  
भाषा में इसका अनुवाद हुआ था, जिसका रूपान्तर अब भी प्राप्य है । डा०  
राघवन ने (देखिए Some Sanskrit texts on Painting I H.O Vol. X  
1933) जिन दो अन्य चित्र-सम्बन्धी शिल्प-ग्रन्थों की सूचना दी है, वे हैं

१. सारस्वत-चित्र-कर्म-शास्त्र,
२. नारद-शिल्प ।

इन ग्रन्थों के अनिश्चित वासवराज-कृत शिवतत्त्व-रत्नाकर नामक ग्रन्थ  
सत्रहवीं शताब्दी के उत्तर अथवा अठारहवीं शताब्दी के पूर्व भाग में कन्नड भाषा  
में संस्कृत में रूपान्तरित किया गया था । शिवराम मूर्ति ने भी चित्र-शास्त्रीय  
कृतियों के सम्बन्ध में खोज की है । परन्तु मेरी दृष्टि में ये ही सात ग्रन्थ अधिकृत  
न जा सकते हैं ।

जहाँ तक चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन का प्रश्न है उनका सर्वप्रथम ध्येय  
डॉ० कुमागी स्टला फ्रेमिश को है, जिन्होंने विष्णु-धर्मोत्तर के इस चित्र सूत्र का  
धेत्री में अनुवाद किया तथा एक भूमिका भी लिखी । उसके बाद आधुनिक  
भारतीय विद्या (Indology) में सब प्रथम सार ग्रन्थों को लेकर अनुसंधानात्मक  
चित्र-शास्त्रीय अध्ययन जो मैंने अपने Hindu Canons of Painting or  
त्रयशणम् १९१८ में प्रस्तुत किया था उसकी विद्वानों ने बड़ी प्रशंसा की ।  
प्रबन्ध मेरी डॉ० लिट० योसिस—Foundations and Canons of Hindu  
Imagery and Painting का अंग था । महामहोपाध्याय डा० वासुदेव  
धर्म मिश्राजी, डा० जितेन्द्रनाथ वैनर्जी तथा स्वर्गीय वासुदेव शरण प्रसाद,



इन विद्वानों की भूरि प्रशंसा से मुझे बड़ा प्रोत्साहन मिला । यह ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखा गया था । वैसे तो हिन्दी में मैंने प्रतिमा-विज्ञान Iconography पर एक दुहर्द् ग्रन्थ लिख ही चुका हूँ, जो मेरे इस दश-ग्रन्थ-आयोजन का वह प्रमुख अंग था । चित्र पर अभी तक हिन्दी में शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ । भन, भन मैं अपने इस ग्रन्थ में प्रतिपादित शास्त्रीय विवेचन का जहाँ तक समराङ्गण-सूत्रधार के चित्र-सम्बन्धी विषयों से मेल खाता है, उसी को लेकर मैं अब इस अध्ययन में संक्षेप रूप में नवीन दृष्टिकोण में रसने का प्रयास करूँगा ।

हमने चित्र-शास्त्रीय प्राप्य ग्रन्थों पर पहले ही संकेत कर दिया है । उनके विषय-विवेचन अथवा उनके अध्यायों की व्यवस्था की यहाँ पर संगति सार्पक नहीं । अतः समराङ्गण के चित्र-सम्बन्धी अध्यायों के सम्बन्ध में थोड़ा सा विवेचन आवश्यक है ।

इसमें सन्देह नहीं कि समराङ्गण-सूत्रधार का भवन-सङ्घ, प्रासाद-सङ्घ, राज-भवन-सङ्घ ये सभी सङ्घ सम्बद्ध एवं परिपुष्ट हैं, परन्तु चित्र-सङ्घ गतिन तथा अष्ट भी है । चूँकि चित्र का अर्थ हमने प्रतिमा माना है और प्रतिमाएँ जो पाषाणी हैं अथवा धातूपा हैं, वे इस सन्दर्भ में अविवेक्य नहीं हैं । चित्र पर (मृन्मयी, वाष्पमयी पाषाणी, धातुजा, रत्नजा तथा आलेख्य) केवल १४ अध्याय हैं, जिसमें केवल एक ही अध्याय आलेख्य-चित्र में परिगणनीय नहीं है बल्कि है :—

#### सिंह-शीठ-प्रतिमा-संक्षेप

अतः हमने हम प्रासाद-शिल्प में प्रासाद-प्रतिमा के रूप में व्यवस्थापित करेंगे । इन अध्यायों की गतिन की ओर संकेत करने व पूर्व हमने यह भी बताना है कि गगनमय निम्ननिम्नित सान अध्याय, अनेक-चित्र तथा पाषाणादि-द्रव्यजा चित्र इन दोनों के सर्व-साधारण्य (Common and Complementary) भङ्ग हैं —

- १ देवादि-रूप-ग्रहरण-संयोग-संक्षेप ;
- १ दीप-गुण-निर्माण ;
- २ शृङ्गागतादि-स्थान-संक्षेप ;
- ४ घण्टादि-स्थान-संक्षेप,

- ५ पच-गुह्य-स्त्री-मक्षण,
- ६ रस-दृष्टि-लक्षण,
- ७ पताकादि-चतुष्पष्टि-हस्त-लक्षण,

जहां तक इन अध्यायों की विवेचना है, वह अनुवाद से स्वतः प्रकट है, अतः वही द्रष्टव्य है और यहां पर उनका विस्तार अनावश्यक है।

अस्तु, जो आलेख्य (Painting) से ही एक-मात्र सम्बन्धित हैं, उन अध्यायों की तालिका निम्न है :—

विमोक्ष,  
भूमि-वर्णन,  
लेख्य-कर्म,  
अण्डक-प्रमाण,  
मानोत्पत्ति तथा  
रस-दृष्टि

### चित्रकला का उद्देश्य, उद्भव तथा विषय (Scope)

चित्र-कला के उद्भव में हमारे देश में दो दृष्टि-कोणों में इस सलित-कला को जन्म दिया। वैसे तो कला, सस्कृति एवं सम्यता का अभिन्न अंग माना गया है। जिस देश की जैसी सम्यता एवं सस्कृति होगी वैसी ही उस देश की कलाएं होगी। भारतीय सस्कृति और सम्यता में अध्यात्म और भौतिक अभ्युदय दोनों को ही माप-दण्ड के रूप में परिकल्पित किया गया है। वैदिक दृष्टि (यज्ञ-संस्था) के बाद जब पूर्त-धर्म (देवालय-निर्माण एवं देव-पूजा) ने अपने महान् प्रकर्ष से इस देश में पूरी तरह से पैर फैला दिए, तो प्रतिमा-पूजा अनायास विकसित और प्रवृद्ध हो गई। हमने अपने उपोद्घात में चित्र पद की परिभाषा में प्रतिमा शब्द की और पूर्ण रूप से परिचय दे ही दिया है—चित्र, चित्रार्थ, चित्राभास। अतः जहाँ पाषाण-निर्मिता तथा मृण्मयी (पाषाण, जेमे पाषाण लिंग) एवं धातुजा प्रतिमाएं पूजा के लिए बनाई जाती थीं, क्योंकि ज्ञानी और योगी तो बिना प्रतिमा के भी ब्रह्म-चिन्तन एवं ईश्वराराधन कर सकते थे; परन्तु महान् विशाल समाज सारा का सारा आनी और योगी नहीं परिकल्पित किया जा सकता, अतएव इसी दृष्टि को रक्षकर हमारे अध्यायों ने स्पष्ट उद्घोष किया :—

“अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः”

“सगुण-ब्रह्म-विषयक-मानस-व्यापार उपामनन्”

“चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्यानरीग्लः ।

उपागकानां चार्थायै ब्रह्मणो रूप-वत्पता ॥

“आदित्यमश्विनां विष्णुं गणनाथं महेश्वरम् ।

पञ्च-पञ्च-पञ्चो नित्यं ब्रह्मस्यः पञ्च पूजयेत् ॥”

जहां प्रासादों में प्रतिष्ठापित प्रतिमाएँ पूज्य हैं, उसी प्रकार पट, पट, कृष्ण चित्र भी उसी प्रकार पूज्य बने । हयग्रीव-वचरात्र वैष्णव धाममो घोर तन्त्रो में एक प्रमुख स्थान रक्ता है । उसका यह निम्न प्रवचन पढ़ें तो तारोक्त हमारा सिद्धान्त पूर्ण रूप से पुष्ट हो जाता है :—

यावन्ति विष्णुस्वाणि सुरपालोह लेगयेत् ।

तावद् युगलहस्ताणि विष्णुलोके महीयते ॥

मेघे चित्रं हरिर्नित्यं तन्निधानमुपैति हि ।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मेघचित्रगतं यजेत् ॥

चान्तिमूपणभावाद्यैश्चित्रं यस्मात् स्फुटं स्थितः ।

अतः सन्निधिमायाति चित्रज्ञानं जानर्हः ॥

तस्मिन्चित्रार्चने पुण्यं तूतं तत्तत्तुं बुर्यैः ।

चित्रस्य पुण्डरीकाक्षं सवितासं सविधमम् ॥

दृष्ट्वा मुच्यते पार्वत्येन्दोः शोचिमुमाश्रितः ।

तस्मात्पुष्पाविभिर्धौं महापुष्पत्रिणीपया ॥

पटस्यः पूजनीयस्तु देवो नारायणः प्रभुः ।

—हयग्रीववचरात्रात्—

यह तो हुआ घासिक उद्भव, जहां तक भौतिक दृष्टि-कोण का सम्बन्ध है, उसमें वात्स्यायन के काम-सूत्र में प्रतिपादित चतुष्पष्टि-कला (६४ कलाओं) का जो महान् प्रोत्सास प्राप्त होता है, उसका पूरा का पूरा सम्बन्ध नागरिक सभ्यता, नागरिकों के जीवन के अभिन्न भग की प्रतीकात्मता को दृढ़ करता है। हम पहले ही लिख चुके हैं कि दो हजार वर्ष से भी अधिक पुरानी बात है कि प्रत्येक नागरिक के घर में रग का प्याला और रगने की लेखा (bowl and brush) दोनों गृहस्थों के अनिवार्य भग थे। आप महान्वि कालिदास के काव्यों को पढ़ें, महाकवि बाणभट्ट की कादम्बरी देखें—कितना चित्र-कला का विलास था। हमने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ (Hindu Canons of Painting) में यह सब पूरी तरह से समीक्षा प्रदान की है। यह वहां विशेष रूप से दृष्टव्य है।

चित्र-कला के उद्भव में चित्र-शास्त्र की सर्वप्रथम कृति एवं अतिप्राचीन प्राधृत ग्रन्थ नग्न-जित् के 'चित्र-लक्षण' में जो चित्रोत्पत्ति की भनोरञ्जक कहानी है वह यहां अवतार्य है—

“पुरानी कहानी है कि एक बड़ा ही उदार, धर्मात्मा तथा पूतात्मा राजा था, जिसका नाम था भयजित्। सभी प्रजाएँ सानन्द थीं। भक्तमात् एक दिन एक ब्राह्मण उसने दरबार में आ पहुँचा और जोर से चिल्लाता हुआ बोला 'ऐ राजन्, सत्यतः आपके राज्य में पाप है, नहीं तो मेरा पुत्र अकाल-मृत्यु के गाल में कैसे कवलित हो गया? कृपा करके मेरे पुत्र को मृत्यु के पक्षों से छुड़ाओ और उस लोक से पुनः इसी लोक में लाओ। राजा ने तत्क्षण ही यमराज में प्रार्थना की—हे यमराज जी महाराज! इस बालक को लाओ अन्यथा घोर युद्ध होगा। यमराज ने जब प्रार्थना धनसुनी नर की, तो फिर दोनों में धनघोर युद्ध हो गया और अन्ततोगत्वा यम हार गया। विधाता ब्रह्मा विदितव्य-विमूढ हो गये। तत्क्षण वे बहा आविर्भूत हो गये और राजा से कहा राजन्! जीवन एवं मरण तो कर्म पर आधारित है। यम का अपना अस्विकृत तो कोई हाथ नहीं। तुम इस बच्चे का चित्र बनाओ। ब्रह्मा की आज्ञा शिरोधार्य कर उसने चित्र बनाया और ब्रह्मा ने उसमें जीवन डाल दिया और राजा को सम्बोधित कर कहा :—

“यतः तुमने इन नग्नो—प्रेतों को भी जीत लिया—अतः तुम राज से हे राजन्! नग्न-जित् के नाम से विभूत हो गये। तुम इस ब्राह्मण बालक का चित्र मेरी ही कृपा या आशीर्ष से बना सके हो। संसार में यह प्रथम चित्र है। तुम जाओ दिव्य शिल्पी विश्वकर्मा के पास। विश्वकर्मा जी वास्तु-शिल्प-चित्र के

भाषाये है, वे तुम को सारा चित्र-शास्त्र एवं चित्र-विद्या पढायेंगे ।”

विष्णु-धर्मोत्तर अति प्राचीन एवं अधिकृत ग्रन्थ है उसका भी यहाँ चित्रोत्पत्ति वृत्तान्त उद्धरणीय है :—

नर-नारायण की कथा से हम परिचित ही हैं । जब भगवान् नारायण बदरिकाश्रम में मुनिवेश-धारी तपस्वर्या करने लगे तो उन्हें हठात् चित्र-विद्या की जन्म देना पड़ा । कहानी है कि नर एवं नारायण दोनों ही इसी आश्रम में साथ साथ तपस्या कर रहे थे । अप्सरार्यों की अति प्राचीन समय से यह परम्परा रही है कि जब कोई मुनि या योगी तप करते हैं तो वे आकर बाधा डालती हैं, रिझाती हैं । विश्वामित्र-भेमका की कहानी से सभी परिचित हैं । ऐसी बाधा में भगवान् नारायण ने कमाल कर दिया । तुरन्त ही आत्म-रस लेकर तथा अन्य वन्य-प्रायधियों को मिलाकर एक इतनी कमाल की छूबसूरत अप्सरा की रचना कर दी जो कोई भी देवी, गान्धर्वा, आसुरी, नागी या मानवी सुन्दरी उसका मुकाबला कर सके । अतः ये सारी की सारी दसो अप्सरार्यों इस नारायण-निर्मिता सुन्दरी अप्सरा को देख कर दमिन्दा हो कर सदा के लिये विलीन हो गयीं । यही अप्सरा पुनः सर्व-सुन्दरी अप्सरा ऊर्वशी के नाम से विद्युत हो गयी ।

विष्णु-धर्मोत्तर के एक दूसरे सन्दर्भ को पढ़ें, तो वहाँ पर शास्त्रीय उद्भव पर बड़ा मार्मिक एवं प्रबल प्रवचन प्राप्त होता है । मार्कण्डेय और वयस के प्रश्न और उत्तर के रूप में विष्णु-धर्मोत्तर में चित्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बड़ा ही मौलिक एवं सार्वभौमिक उद्देश्य एवं क्षेत्र की ओर सुन्दर एवं महत्वपूर्ण संकेत प्राप्त होता है । विष्णु-धर्मोत्तर में निराकार की कल्पना एवं उसकी साधारण रूप में पूजा बिना चित्र के असम्भव है । निराकार यथा-निरक्त न कोई रूप रखता है न गन्ध, न स्पर्श, न रस, न स्पर्श, तो फिर इसको रूप में कैसे परिणित किया जा सकता है—वयस की इस जिज्ञासा में मार्कण्डेय का उत्तर है कि प्रकृति और विवृति वास्तव में परब्रह्म की लोकिव दृष्टि से दोनों भिन्न होते हुए भी, उसी के परिवर्तन-शोभ रूप हैं । ब्रह्म प्रकृति है और विवृति विवृति है । ब्रह्म की उपासना तभी सम्भव है जब उसे रूप प्रदान किया जाए । अतएव उसकी रूप-कल्पना के लिये चित्र के बिना यह सम्भव नहीं । जैसा कि हमने पहले ही रामोपनिषद् का प्रवचन माठको के सामने रख दिया है (चिन्मयस्येत्यादि) ।

मध्यकालीन अधिकृत तिलक-शास्त्रीय दृष्टि अपराजित-पूछा में चित्र के उद्देश्य, उत्पत्ति एवं क्षेत्र घण्टा विस्तार पर भी प्रवचन है वह बड़ा ही मार्मिक

है और समस्त स्थावर एवं जंगम को चित्र की धोटी में कँवि करा रहा है । निम्न प्रबन्धों पढ़िये :—

चित्रमूलोद्भव सर्वे त्रैलोक्ये सचराचरम् ।  
 ब्रह्मविष्णुभवाद्याश्च सुरासुरनरोरगाः ॥  
 स्थावरं जंगमं चैव सूर्यचन्द्रौ च भेदिनी ।  
 चित्रमूलोद्भवं सर्वं जगत्स्थावरजंगमम् ॥  
 बुधगुल्मलतावल्ग्वस्वेदजाणुजरायुजाः ।  
 सर्वे चित्रोद्भवा वत्स भूपरा द्वीपसागराः ॥  
 अतुरसीतिलस्ताणि जीवयोनिरनेकधा ।  
 चित्रमूलोद्भा सर्वे ससारद्वीपसागराः ॥  
 स्वैतरेवतपीतवृष्णा वर्णा ये चित्ररूपकाः ।  
 तनो च तप्तकेशादि चित्ररूपमिवाभ्रसाम् ॥  
 भगवान् भयरूपश्च परमतीक्ष्ण परात्परम् ।  
 आत्मवत् सर्वमिदं ब्रह्म तेजोऽनुपश्यताम् ॥  
 चरन्ति भावरूपैश्च जले चन्द्रमस यथा ।  
 तद्वन्धि मयं सर्वं पश्यन्ति ब्रह्मवादिनः ॥  
 विद्य विद्यावतारद्वय रचनाद्यन्तश्च सम्भवेत् ।  
 आदि चित्रमयं सर्वं पश्यन्ति ब्रह्मचरिणः ॥  
 शिवशक्त्यैवैवाराण्य सप्तारे सृष्टिकोद्भवः ।  
 चित्ररूपमिदं सर्वं दिन रात्रिस्तथैव वै ॥  
 निमिषश्च क्षणं घटघो यामः पक्षक एव च ।  
 मासाश्च ऋतवर्षश्च वातः सवस्वरादिकः ॥  
 चित्ररूपमिदं सर्वं सारमरयुगादिवम् ।  
 अस्पादिरोद्भव सर्वं सृष्ट्याद्यं सर्वकर्मणाम् ॥  
 ब्रह्माण्डादिसमुत्पत्ती रचितारणिजा तथा ।  
 तेषां चित्रमिदं श्रयं नानाहं चित्रकर्मणाम् ॥  
 ब्रह्मादिगणाः सर्वे तद्भूपाः पिण्डमभ्यगाः ।  
 भामा आत्मरूपेण चित्रं सृष्टिकर्मणि ॥  
 आत्मरूपमिदं पश्येद् हृदयमानं चराचरम् ।  
 चित्रावतारे भावं च दिशानुभविष्यते ॥  
 आत्मनः च दिवं पश्येद् यदस्य जगत्प्रजनाः ।

तद्वच्चित्रमय सर्वं शिवशक्तिमय परम् ॥  
 ऊर्ध्वमूलमघः शाल्व वृक्ष चित्रमय तथा ।  
 शिवशक्त्यालय चैव चन्द्रार्कपवनात्मकम् ॥  
 सूर्यपीठोद्भवा शक्तिः संलग्ना ब्रह्ममागतः ।  
 सीयमाना चन्द्रमध्ये चित्रकृत् सृष्टिकर्मणि ॥  
 चित्रावताररूप तु कथित च परात्परम् ।  
 यतस्तु वर्तते चित्रे जगत्स्यावरजगमम् ॥  
 देवो देवो शिवः शक्तिः व्याप्त यतश्चराचरम् ।  
 चित्ररूपमिदं ज्ञेयं जीवमध्ये च जीवकम् ॥  
 द्रूपो जले जलं कपे विधिपर्यायतस्तथा ।  
 तद्वच्चित्रमय विश्वं चित्रं विश्वे तथैव च ॥

यह नहीं कहा जा सकता और न धारणा ही बनाई जा सकती है कि चित्र की उत्पत्ति भगवां उसका उद्देश्य एकमात्र धार्मिक था । चित्र-कला और चित्र-विद्या का, भौतिक मेवन से भी बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था । हम पहले ही इस सम्बन्ध में थोड़ा सा संकेत कर चुके हैं (देखिए वास्तुशास्त्र का युग और उस समय की ६४ कलाएं) । गुप्त-कालीन इतिहास को पढ़े और उसके बाद के साहित्य काव्य नाटक आदि को पढ़ें तो ऐसा प्रतीत होता है कि नागरिकों के जीवन में चित्र-कला एक अभिन्न अंग थी । पुनः वास्तु-शास्त्रीय एवं शिल्प-शास्त्रीय दृष्टि से एक आधार-भौतिक सिद्धान्त यह भी है कि कोई भी वास्तु भगवां शिल्प कृति (Architecture or Sculpture), आलेख्य भगवां लेख्य (Paintings) के बिना पूर्ण कृति नहीं मानी जा सकती । जन-भवनो (Secular Architecture-Civil Architecture-Residential Houses) में भी चित्र-सम्बन्धी योग्यायोग्य-व्यवस्था (Decorative Motifs) पर स० भू० में बड़ा ही वैज्ञानिक विवेचन है (दे भवन-निवेदन) । शिल्परत्न का निम्नलिखित प्रवचन कितना इस दृष्टि से वास्तु-शिल्प चित्र का अन्योन्याश्रय एवं अभिन्नता प्रदर्शन करता है :

“एव सर्वविमानानि गोपुरादीनि वा पुनः ।

मनोहरतरं कुर्यान्नानाचित्रैर्विचित्रतम् ॥”

अस्तु, इस थोड़ा सा समोसा में उद्देश्य, उत्पत्ति एवं विषय—सभी पर कुछ प्रकार पड़ चुका । अब आइये—चित्रार्थों पर ।

अंग भगवां तथा विद्या :—

पटङ्ग-चित्र :—वास्तुशास्त्र के काम-भूत के सम्बन्ध-प्रतिष्ठ टीका-कार यशोधर ने निम्न कारिका में चित्र के प्रधान अंगों का चरमसम्बन्ध प्रतिपादित

किया है —

“रूपभेदाः प्रमाणानि लावण्य भावयोजनम्

सादृश्य वर्णवाभंग इति चित्र पञ्चकम् ॥”

अर्थात् चित्र-कला के हमारे प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में निम्न चित्राग न केवल कला की दृष्टि से बल्कि रसास्वाद की दृष्टि से भी ये भग प्रतिपादित किए गये हैं, लेकिन चित्र को हम दो दृष्टियों से समीक्षा करेंगे एक दर्शक और दूसरा चित्रकार। पहले से सम्बन्ध चित्र-कौशल से नहीं है चित्रालोकन प्रयत्न चित्रास्वाद से है, परन्तु चित्रलेखन तो निम्नलिखित अष्टांग उपकरणों पर आधारित है। इस प्रकार हम दोनों तालिकाओं को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। चित्राङ्ग—(१) रूप-भेद—माना आकार, (२) प्रमाण, (३) लावण्य (सौन्दर्य); (४) भावयोजन अर्थात् भावाभिप्रेक्षित जो रसाभिप्रेक्षित पर आधारित है (देखिए रस और रसदृष्टिया—अनुवाद), (५) सादृश्य अर्थात् चित्र और चित्रय दोनों साक्षात् एक प्रतीत हो रहे हैं, (६) वर्णिक भग अर्थात् वर्ण-विन्यास (Colours and Reliefs) ये अष्ट-वृद्धि-सिद्धान्त एवं प्रक्रिया के मोलिमात्मायमान चित्र-कौशल हैं।

ब-चित्र-उपकरण:-

- (१) बर्तिका अर्थात् लेखनी—लेखा प्रयत्न कृश,
- (२) भूमि-वन्धन (Canvas or Background)
- (३) लेख्य-कर्म (Drawing the Sketch),
- (४) रेखा-कर्म (Delineation and Articulation of form)
- (५) वर्ण-कर्म—नानाविध रंग,
- (६) वर्तना—छाया और कान्ति की उद्भावना,
- (७-८) टि० दोनों उपकरण भूत में अष्ट है।

स-चित्र-विधा -

अब आइये चित्रों की विधाओं पर। विष्णुधर्मोत्तर में चित्रों ■ चार प्रकार स्थापित किए गये हैं :-

- |            |              |
|------------|--------------|
| (१) सत्य,  | (३) नागर तथा |
| (२) वैशिक, | (४) मिथ ।    |

सत्य से सात्पर्य लोक-सादृश्य से है अर्थात् जैसा सौक वैसा हो चित्र, जिस को हम True, Realistic, Oblong frame के रूप में परिकल्पित कर सकते



हैं; वैजिक की व्याख्या में विद्वानों में मनभेद है। पदार्थ की दृष्टि से यह पद बोधा में बना है तो हम इसको चतुरस्र अर्थात् चौकोर आकृति में भी विभाजित कर सकते हैं। इस चित्र-प्रकार के वर्णन में वि० घ० ने दीर्घांग, सप्रमाण, सुकुमार, सुभूमिक, चतुरस्र तथा सुसम्पूर्ण—इन विशेषणों से त्रिशिष्ट किया है। जहाँ तक तीसरे चित्र-प्रकार का सम्बन्ध है यथानाम उनको हम Gentry pictures in round frames में परिवर्तित कर सकते हैं और यह एक प्रकार के सादे चित्र माने जाते हैं। जहाँ तक चौथा अर्थात् मिथ-प्रकार का सम्बन्ध है उसकी कोई विशेषता नहीं। वह इन सब विधाओं का मिश्रण ही कहा जा सकता है। बा० राघवन, डा० कुमारस्वामी की इस व्याख्या का सहन करते हैं (vide Sanskrit Texts on Paintings I. II Q. Vol. X, 1933)। पाठक उस को वही पर पढ़ें और समझें। मैंने जो ऊपर साधारण संकेत किया है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक है। विष्णु-धर्मोत्तर सभ्यता दो हजार वर्ष पुराना है। आगे चल कर पूर्व मध्यकाल तथा उत्तर मध्यकाल में चित्र-विद्या में विशेषकर शास्त्र की दृष्टि से बड़ी उन्नति हुई, तो अनायास चित्रों की विधा पर काफी शास्त्रीय एवं कलात्मक स्वतः प्रकर्षता प्राप्त हो गई। समरागण-सूत्रधार में, बड़े ही वैज्ञानिक एवं क्रामिक दिशा से चित्रों की विधा को चित्र-वर्णन पर आधारित कर रखा है। अतः इस अभिहित ग्रन्थ की दृष्टि में चित्र के प्रकार केवल तीन हैं।—

- (१) पट्ट-चित्र (Paintings on Board),
- (२) पट-चित्र (Paintings on Cloth), तथा
- (३) कुह्य-चित्र (Paintings on Wall—Mural Paintings) देविए

ध्वजन्ता आदि।

मानसोल्लास (अभिनविगार्य-विन्तामणि) में चित्रों की विधा पंचधा बताई

गई है :—

(१) चिह्न, जो वास्तव में यह चिह्न कि व. के साथ से अनुपमित करना है। यदा पर मोह-आदृश्य अर्थात् दर्पण-आदृश्य चित्रकार का कीर्तन अभिप्रेत है।

(२) अचिह्न—इस का हम एक प्रकार से आधुनिक Outline Drawings के समान परिवर्तित कर सकते हैं।

(३) भाव से तात्पर्य मायमूर्ति में है। मानसोल्लास की दृष्टि में इन चित्र के उन्नेय में श्वेतार आदि रंगों का महत्वपूर्ण स्थान है।

(४) रस-चित्र—इस चित्र से सम्बन्ध उपर्युक्त भाव से नहीं, यहाँ रस का अर्थ द्रव है, जो वर्ण-भग एवं वर्ण-विन्यास एवं वर्ण-चित्रण अर्थात् वर्ण-लेप पर आधारित है ;

(५) धूली-चित्र—यह एक प्रकार से प्रोजेक्टल वर्णों का माध्यम है ।

टि० यह वर्गीकरण बहुत वैज्ञानिक नहीं है, कुछ थोड़ा सा भ्रमात्मक प्रतीत होता है ।

शिल्प-रत्न में चित्रों की विधा केवल तीन दी गई है —

(१) रस चित्र, जो मानसोत्सास के भाव चित्र में परिगणित किया जा सकता है,

(२) धूली-चित्र तथैव दे० अभि० चि०

(३) चित्र—यह एक प्रकार का वि० ध० का सत्य और मानसोत्सास का विद्वद् माना जा सकता है ।

चित्र-प्रकारों का यह स्पष्ट समीक्षण यहाँ पर्याप्त है, विशेष विवरण में मैं अग्रेगी ग्रन्थ Royal Arts —Yantras and Citras में देखिये ।

वर्तिका—भूमि-बन्धन चित्र-कला का प्रथम सोपान है । बिना भूमि-बन्धन बन्धन के आलेख्य असम्भव है । भूमि का अर्थ यहाँ पर कैनवास है । आलेख्य में इस साध्य के लिए जो माधन विहित है उसका हम वर्तिका की सहायता देते हैं । इस प्रकार वर्तिका और भूमि-बन्धन दोनों को एक दूसरे के साधक-साध्य के रूप में परिवर्तित कर सकते हैं । वर्तिका को हम ब्रुश नहीं कह सकते । यह वर्तिका विशेषकर भूमि-बन्धन में ही उपयोगी मानी जाती है । चित्र-कला के घट्ट विध उपकरणों में वर्तिका नामक हम कर ही चुके हैं । कुछ आधुनिक विद्वानों ने वर्तिका का अर्थ ठीक तरह से नहीं समझा । डा० मोती चन्द्र ने (Cf Technique of Mughl Painting Page 45) वर्तिका को वर्तना के रूप में समझा है । यह भ्रान्त है । वर्तना एक प्रकार से वर्ण-विन्यास है और वर्तिका उपकरण है । इस प्रकार वर्तिका को हम आधुनिक चित्र के पारिभाषिक पदों में (Crayon) के रूप में विभाजित कर सकते हैं । इस समीक्षा से हम यह सिद्ध कर देते हैं कि प्राचीन भारत में आलेख्य चित्रों की रचना में (Crayon) में द्वारा जो चित्र के लिए पहला स्केच बनाया जाता था, वह वास्तव में उस अतीत में भी यह प्रक्रिया पूर्ण रूप से प्रचलित थी । समुक्त निकाय (द्वितीय, ५) में इस प्रक्रिया का पूर्ण स्केच है, जो आलेख्य चित्रों और (Panels) में भी प्रयुक्त होती थी । इसी प्रकार दश-कुमार-चरित एवं

प्रमन्न-राघव में भी क्रमशः इसे वर्ण-वर्तिका तथा शलाका के नाम से निर्दिष्ट किया है। मुगल-कालीन चित्रकार चित्रों के बनाने में जो शलाका खींचने से वे इमली के कोयले को लेकर यह क्रिया करते थे। भागे आधुनिक काल में जब पेंसिलो का प्रयोग आरम्भ हुआ तो यह परम्परा समाप्त हो गई।

अस्तु, शास्त्रीय दृष्टि से आलेख्य-चित्रों में चित्र-विन्यास के लिए तीन प्रकार की लेखनिया अनिवार्य थीं—वर्तिका, तूलिका, लेखनी। वर्तिका का प्रयोग भूमि-वर्णन अर्थात् Canvas or Background के लिए होता था। पुनः वर्ण-विन्यास (Colouring) के लिए तूलिका और लेखनी। पुनः चित्र के उन्मीलन के लिए एव उन्मेष प्रोज्ज्वलता के साय कान्ति और छाया (Light and Shade) के लिए प्रयुक्त होती थी। आगे आलेख्य चित्र में जो सर्वमौलिमानायमान प्रकृत शास्त्रीय दृष्टि से मिढान्त है वह है “सत्य-वृद्धि का सिद्धान्त” अर्थात् कहाँ पर किस अंग में भाव-व्यक्ति के लिए, तावण्य लाने के लिए एव सौन्दर्य की स्थापना करने के लिए तथा लोक-सादृश्य एव विनिर्मेय चित्र के द्वारा क्या क्या सूच्य है, प्रदर्श्य हैं विभाव्य है—यह सब इसी सिद्धान्त के द्वारा चित्र स्फुटता और चित्रकार का अभोक्षित उद्देश्य भी सम्पन्न हो जाता था। चित्र-कला और चित्र-कार का यही परम कौशल था। मानसोल्लास में जो वर्तिका की परिभाषा दी गई है वह हमारे इस उपर्युक्त सिद्धान्त को दृढ़ करती है :—

कञ्जल भक्तसिक्थेन मृदित्वा कर्णिकाकृतिम् ।

वर्ति कृत्वा तथा लेख्यं वर्तिका नाम सा भवेत् ॥

यह वर्तिका-व्याख्या समराङ्गण जैसे अधिकृत शिल्प-ग्रन्थ से भी पुष्ट होती है (दे० अनु० अ० ७१) मानसोल्लास—अभिलषितार्थ-चिन्तामणि-नामापर शीर्षक-ग्रन्थ में जो हमने आलेख्य-चित्र में तीन लेखनियों (वर्तिका, तूलिका तथा लेखनी) का जो संकेत किया है, उनमें तूलिका (Paint-Brush) भी एक प्रकार से द्विविध कीर्तित की गई है। तूलिका यथानाम कलरपेन है जो रेखाओं के लिए है और इमली दूधरी बिजा तिन्दु के नाम से निर्दिष्ट की गई है। इन दोनों की रचना-प्रक्रिया में भी बड़े कौशल की आवश्यकता होती थी। विशेषकर बशबुस से यह बनती थी, क्योंकि बंश ही इन लेखनियों के लिये उस समय बड़ा उपयुक्त माना जाता था और उस में ताम्र की यवमात्रिक निब लगाई जाती थी।

जहां तक वर्तिका-निर्माण का प्रश्न है उसकी प्रक्रिया समरागण-सूत्रधार (मूलाध्याय ७२, १-३, तथा परिभाजित समरागण ४६, १-३) में देखिये और साथ ही इस का अनुवाद भी देखिये वहां पर इस वर्तिका-बन्धन में कितने अवयवों की आवश्यकता होती थी—कहा से, किस क्षेत्र से, गुल्म, वापी, वृक्ष-मूल आदि आदि स्थानों से—मूर्तिका लानी चाहिये । फिर उसमें कौन कौन से द्रव्य चूर्ण, धोषधिया आदि मिलाई जाते थी और किस पारिभाषिक प्रविधा से इस को वर्तिका (वर्त) बनाई जाती थी—यह सब हमारे प्राचीन शिल्प एवं चित्र की प्रौढ़ प्रक्रिया एवं परम्परा पर प्रकाश डालती है ।

**भूमि-बन्धन**—वैसे तो अन्य चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थों में चित्रों के जो प्रकार बताये जाते हैं, वे कुछ मौलिक एवं निर्भ्रान्त नहीं हैं । सरल, वैज्ञानिक, विद्ध, अविद्ध, धूलि, रस आदि सब मेरी दृष्टि में वर्गानुरूप स्पष्ट नहीं हैं, परन्तु समरागण की दृष्टि में यह दिशा बड़ी वैज्ञानिक है, क्योंकि पुरातत्त्ववीय-अन्वेषणों में प्राप्त जो निदर्शन मिलते हैं, वे भी समरागण के चित्र-प्रकारों की पूरी पुष्टि करते हैं । प्राचीन, पूर्व एवं उत्तर मध्य-कालीन जो स्मारक-निबन्धनीय चित्र मिलते हैं वे या तो कुडध-चित्र (Mural Paintings) हैं अथवा पट्ट-चित्र (Panels) अथवा पट्ट-चित्र जैसे पुरी में भगवान् जगन्नाथ के पट्ट-चित्र—“पटस्थो नारायणो हरिः”—(दे० ह० प०) । इसी प्रकार नाना भाण्डागारों में ऐसे चित्र-स्मारक-रूप में बड़ी मात्रा में मिलते हैं । अतएव स० सू० में जो चित्र की त्रिविधा है वही चित्रानुसूल भूमि-बन्धन भी त्रिविध है ।

(१) कुडध-भूमि-बन्धन (The Mural Canvas);

(२) पट्ट-भूमि-बन्धन (The Board Canvas);

(३) पट्ट-भूमि-बन्धन (The Cloth Canvas) ।

इन भूमि-बन्धनों के निर्माण की प्रक्रिया बड़ी ही एक प्रकार की अनवरत-रूपा है । समरागण-सूत्रधार (दे० अनु०) का आदेश है कि भूमि बन्धन के लिये कर्ता प्रयात्ति निप्रकार, भर्ता अर्थात् सरदा, शिक्षक अथवा आचार्य या गुरु—इन सब को पहले धत रखना चाहिये । फिर जो भूमि-बन्धन के पूर्व वर्तिका निर्मित हो चुकी है, उसकी पूजा करनी चाहिए । पुनः यथाभिलषित भूमि-बन्धन स्वर अथवा मृदु—तदनु रूप पिण्डादि, शल्कादि, चूर्णादि एवं द्रवादि इन सबों से रोमकूर्चक से लेप, प्लास्टर करना चाहिए । यह एक प्रकार की आरम्भिक प्रक्रिया है, जिसकी संज्ञा शिक्षिका-भूमि दी गई है । अस्तु अब हम इन तीनों भूमि-बन्धनों की अलग-अलग समीक्षा करेंगे ।

कुड्य-भूमि-वन्धन—भित्तिका-चित्रों के लिये लेप्य-प्रक्रिया आवश्यक है। पहले तो दीवाल को सम बनाना चाहिये, पुनः क्षीर-द्रुमों जैसे स्तुम्भी-वास्तुक, कुट्टमाण्डक, कुदाली, अपामार्गं ग्रयवा इक्षु आदि के क्षीर-रस को एक सप्ताह तक रक्खा जाये। शिशपा, आमन, निम्बा, त्रिफला, व्याधिघात, कुटज आदि वृक्षों के रस में उपयुक्त क्षीर-द्रुमों के रसों को मिश्रित द्रव्य बना कर उसके द्वारा समतलीय भित्ति पर सिंचन करना चाहिये। 'पुनः दूसरी प्रक्रिया पर आना चाहिये जो मृत्तिका-चेपन से उस का लिप्पन करना चाहिये। मृत्तिका माईवी होनी चाहिये और उसमें ककुभ, माष, शास्मसी, श्रीफस वृक्षों के द्रवों को लेकर मिलाना चाहिये। इस तरह से प्लास्टर बनाकर गज-चर्म प्रमाण में दीवाल पर लेप करना चाहिये। तीसरी प्रक्रिया अर्थात् अन्तिम प्रक्रिया के द्वारा कडि-शर्करा-चूर्ण के द्वारा इस पर दूसरा प्लास्टर करना चाहिये। इस प्रक्रिया से वर्ण-विन्यास अपने आप उभर आता है और छाया-कान्ति भी इसी के द्वारा प्रस्कृति हो जाती है।

अजन्ता के चित्रों को देखिये तो *Frescoes* चित्र ही वहां के सब से अनुपम एवं समृद्ध निदर्शन हैं। वे इसी समरागण-सूत्रधार की कुड्य-भूमि-वन्धन के निदर्शन हैं। ग्रिफिथ (देखिये, *The Paintings in the Buddhist Cave Temples of Ajanta Vol. I, Page 18*) ने भी इस प्रक्रिया का समर्थन किया है। अजन्ता के इन कुड्य-भूमि-वन्धनों में मृत्तिका, गोबर, चावल की भूसी और चूर्ण (कडि-शर्करा) आदि सभी चूर्ण एवं द्रव यथा-पूर्व-प्रतिपादित प्रक्रिया के द्योतक एवं समर्थक हैं। तन्जौर के बृहदीश्वर मन्दिर के आलेख्य-चित्रों को देखें तो वहां पर भी कडि-शर्करा और बालुका का प्रयोग भी इन भित्तिका-चित्रों में साक्षात् प्रनीत हो रहा है। दक्षिण का यह अति-प्रसिद्ध मन्दिर ११वीं शताब्दी का स्मारक-आसाद है और समरागण-सूत्रधार भी इसी शताब्दी में लिखा गया था। अतएव शास्त्र एवं कला दोनों का यह ग्रन्थ प्रतिनिधित्व करता है। श्री परम शिवन (देखिये *The Mural Paintings on Brhadisvare Temple at Tanjore—an Investigation into the method and Technical studies in the Field of Fine Arts*) ने भी इस प्रक्रिया की समीक्षा से इस प्रतिपादित सांस्थ्रीय प्रक्रिया का समर्थन किया है।

अहां तक मुगल चित्रों एवं राजस्थानी चित्रों, जिन को हम उत्तर मध्य-कालीन कृतियों के रूप में विभावित कर सकते हैं, उनमें भी इसी प्रकार का

भूमि-बन्धन-प्रक्रिया का आश्रय लिया गया था। जैसे तो प्राच्यनिक विद्वानों ने मुगल-कालीन भित्तिक-चित्रों के भूमि-बन्धन को इटली के समान उसको *Fresco Buono* को गजा दी है।

अस्तु, हमें यहां पर विशेष विस्तृत समीक्षा में जाने की आवश्यकता नहीं। हम तो समरागण-मूयधार की लेप्य-क्रिया की प्रक्रिया को पाठकों के सामने रखना था, जो हमारे चित्र-शास्त्र और चित्र-कला के पारिभाषिक एवं लौकिक दोनों दृष्टियों का विकास कितना उस समय हो चुका था, यह प्रतिपादित करता है।

अब हम इन तीनों भूमि-बन्धनों में कुछ भूमि-बन्धनों के बाद पट्ट भूमि-बन्धन पर आ रहे हैं।

**पट्ट-भूमि-बन्धन** — इस प्रक्रिया में निम्बा बीजों को लाकर उनकी गुठलियों को निकाल कर पुनः उनको विशुद्ध कर उनका पुनर्गठन करना चाहिए फिर किसी बर्तन में रखकर पकाना चाहिए। इसी द्रव से फलकों पर प्लास्टर करना चाहिए। यदि निम्बा-बीज न मिल रहे हों तो शालि-भक्ष का प्रयोग करना भी उपादेय प्रतिपादित किया गया है।

**पट्ट-भूमि-बन्धन**—जैसे तो ग्रन्थ चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थों के अनुसार इस पर भूमि-बन्धनों की प्रक्रिया के नाना अवान्तर भेद प्राप्त होते हैं, परंतु समरागण-की दिशा में यह पट्ट-भूमि-बन्धन के ही समान है।

प्राचीन भारत में तथा पूर्व एवं उत्तर मध्यकालीन भारत में पट्ट चित्रों का बड़ा प्रसार था। बौद्ध ग्रन्थों जैसे सयुक्त-निकाय विशुद्धि भग्न महावश, मञ्जुश्री मूलकल्प, ब्राह्मण ग्रन्थों में जैसे वात्स्यायन काम-सूत्र में भास के दूत-वाक्य में, माधवचार्य की पंचदशी में इस प्रकार के नाना संदर्भ प्राप्त होते हैं।

उड़ीसा, पट्ट-चित्रों का प्राचीन काल से केन्द्र रहा है। पुरी के भगवान् जगन्नाथ के पट्ट-चित्रों का संकेत हम कर चुके हैं। वैष्णव धर्म में वास्तव में पट्ट-चित्रों का बड़ा माहात्म्य है। इस का भी हम पहले ही हवशीर्ष पंचरात्र के प्रवचन के उद्धरण से इस के प्रोत्सास की ओर सकत कर ही चुके हैं। जिस प्रकार उड़ीसा में इस वैष्णव पीठ (जगन्नाथपुरी) पर पट्ट चित्रों की बड़ी महिमा है उसी प्रकार राज-स्थान के वैष्णवी पीठ अनापद्वार में भी इन पट्ट-चित्रों की महिमा है।

हमने अपने *Hindu Canons of Painting or Citra-Laksanam* तथा *Royal Arts—Yantras and Citras* में इस समरागणीय भूमि-बन्धन की जो तुलनात्मक समीक्षा और चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थों, तथा स्मारकों के सम्बन्ध में विश्लेषण किया है, वह विस्तार से वहीं द्रष्टव्य है।

चित्राधार एवं चित्र-मान :- भूमि-वन्धन के उपरांत बिना आधार एवं प्रमाण के चित्र की रचना असंभाव्य है । समराङ्गण-सूत्रधार में इस विषय पर दो अध्याय हैं (देखिए अण्डकप्रमाण एवं मानोत्पत्ति) । अण्डक का अर्थ चित्र-शास्त्र की दृष्टि से लगाना भेरे लिये बड़ा ही कठिन था । अन्ततोगत्वा जो मैंने इसकी व्याख्या की उसको देख कर इस देश के विद्वद्गणों यथा म० म० वासुदेवविष्णु मिश्राजी, उन्होंने इस पर बड़ी प्रशंसा प्रकट की जो शब्द बिलकुल अपरिज्ञेय थे उनको सूझ-बूझ के द्वारा जो व्याख्या दी गई है, उससे पारिभाषिक शास्त्रों के अनुसन्धान एवं अध्ययन में बड़ा योग-दान मिला है । अण्डक का अर्थ हम ने बादामा माना क्योंकि अण्डा और बादाम एक ही आकार के दिखाई पड़ते हैं । वैसे तो अण्डक का अर्थ वास्तुकला की दृष्टि से Cupola है, लेकिन तक्षण एवं मूर्तिकला अर्थात् चित्रकला में भेरी दृष्टि में यह एक प्रकार का लाफा (Outline) है । जिस प्रकार से प्रामाद का अण्डक अर्थात् शृंग या शिखर प्रासाद-कला का सूचक एवं चोतक है, उसी प्रकार से यह अण्डक अर्थात् बादामा नर्त्य प्रविष्टापक है ।

समराङ्गण-सूत्रधार में नाना अण्डकों के मान पर विवरण दिये गये हैं जैसे पुरुष, स्त्री, शिशु, राजस, दिव्य, देवता, दिव्यमानुष, प्रमथ, यातुधान, दानव, नाग, यक्ष, विद्याधर आदि आदि ।

अस्तु भव इनकी तालिका प्रस्तुत करते हैं :-

क्रम सं०	सत्ता	प्रमाण		विवरण
		सम्भाई	बौडाई	
१	पुरुषाण्डक	६	५	नारिकेलफलोपम
२	वनिताण्डक	—	—	.....
३	शिशुकाण्डक	५	४	.....
४	राजसाण्डक	७	६	चन्द्रवृत्तोपम
५	देवाण्डक	८	६	.....
६	दिव्य-मानुषाण्डक	६½	५½	मानुषाण्डक से ½ अधिक
७	प्रमथाण्डक	५	४	शिशुकाण्डक-सम
८	यातुधानाण्डक	७	६	दे० राजसाण्डक
९	दानवाण्डक	८	६	दे० देवाण्डक
१०	गर्गवाण्डक	८	६	..

११	नागाण्डक	८	६	"
१२	यक्षाण्डक	८	६	"
१३	विद्याधराण्डक	६½	५½	दे० दिव्यमानु०

अण्डक-प्रमाणों के बाद काय-प्रमाण भी चित्र-शास्त्र में अत्यन्त उपादेय माने गये हैं। उनके भी प्रमाण निम्न तालिका से सूच्य हैं।

व्यक्ति-विशेष	प्रमाण लम्बाई	चौड़ाई	विवरण
१ देव	३०	४	
१ असुर	२६	७½	
३ राक्षस	२७	७	
४ दिव्य मानुष	—	—	
५ मानव			
अ. पुरुषोत्तम (उत्तम)	२४½	६	
ब. मध्यम-पुरुष (मध्यम)	२३	५½	
स. कनीय-पुरुष (कनिष्ठ)	२२	५	
६ कुब्ज (कूबड)	१४	५	
७ वामन (बीना)	७½	५	
८ किन्नर	७½	५	
९ प्रमथ	६	४	

समरागण-सूत्रधार में नाना रूपों के भी बड़े ही मनोरञ्जक प्रकार, वर्ण, एवं विधायें प्राप्त होती हैं। उन सब की निम्न तालिका प्रस्तुत की जाती है।—

जातिपाँ	विधा
१ देव	त्रिविध—सुरज, कुम्भक, ....
२ दिव्य-मानुष	एकमात्र—दिव्यमानुष
३ असुर	त्रिविध—चक्र, मुत, तीर्णक
४ राक्षस	त्रिविध—दुर्दर, शकट, कूर्म
५ मानव	पञ्च-विध—हंस, शश, रुक्क, भद्र, मानव
६ .....	द्विविध—भेष, वृत्ताकर
७ वामन	त्रिविध—पिण्ड, स्थान, पद्मक
८ प्रमथ	त्रिविध—कूष्माण्ड, कुर्वट, त्रिवक्
९ किन्नर	त्रिविध—मयूर, कुर्वट, काश



१०	स्त्री	पञ्चविधा—बलाका, पौरुषी, वृत्ता, दडा, ...
११	गज—जन्मत.	चतुर्विध—भद्र, मन्द, मृग, मिथ
	जीवनाश्रय	त्रिविध—पर्वताश्रय, नद्याश्रय, ऊपराश्रय
१२	अश्व (रथ्य)	द्विविध—पारस, उत्तर
१३	सिंह	चतुर्विध—शिखराश्रय, विलाश्रय, गुल्माश्रय, तृणाश्रय
१४	ध्याल	षोडश विध —
	हृग्णि	गण्डक
	गृध्रक	गज
	शपाक	क्रोड
	कुबकुट	अश्व
	सिंह	महिष
	शार्ङ्गल	हवान
	यूक्	मर्कट
	अजा	खर

टि० :—यह रूप-तालिका समराङ्गण-सूत्रधार को छोड़कर अन्य, किसी भी चित्र ग्रन्थ में प्राप्य नहीं। विष्णु धर्मोत्तर, जो इस चित्र-विद्या का सर्व प्राचीन एवं प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है, उसमें केवल मर्कट-मात्र है, तालिका एवं विवरण नहीं मिलते।

यह अण्डक एवं काय प्रमाणादि सब एक प्रकार से शास्त्रीय हृदिमा (Conventions) हैं। अण्डक आदि प्रमाण तथा काय आदि प्रमाण यह सब एक प्रकार से चित्र में चि य के उद्भावक हैं। यदि हम किसी महापुरुष जैसे भगवान् बुद्ध तथा मर्यादा-पुस्तोत्तम भगवान् राम को हम चित्र में चित्रित करना चाहते हैं, तो उन्हें हम आमान-बाहु तथा अन्य महापुरुष-लाक्षणों से साक्षित यदि नहीं करते हैं, तो कैसे ऐसे महापुरुषों के चित्र चित्र्य हो सकते हैं? सभी महाराजे, अधिराज भी, इसी प्रकार के महापुरुषों तथा दिव्य देवों के सदृश तेजो-मण्डल से विभावित किए जाते हैं। रेखाओं से भी इन्हें साक्षित किया जाता है। भुजाकृति, शरीराकृति आदि के अतिरिक्त, श्रुतल, वेश, वेप, वस्त्र, आशुष—अस्त्र-शस्त्र भी तो यथा पुरुष वंसा ही चित्र—उसी में यह सब चित्र्य है।

इसी प्रकार किस पुरुष अथवा नारी या पशु और पक्षी, देवता अथवा देवी के घण्टे, प्रत्यंगो, तथागो का निर्माण किस प्रकार करना चाहिए, और उसका आकार कैसा होना चाहिए प्रमाण—लम्बाई, ऊँचाई, मोटाई, गोलाई कैसी करनी चाहिए ? किस चित्र में अक्षि धनुषाकार अथवा मत्स्योदर-सन्निभा बनाना चाहिए या पद्माकृति में बनानी चाहिए इन सब की प्रक्रिया विध्य पर आश्रित है। यदि प्रेमी और प्रेमिका के अक्षियों का चित्रण करना है तो उनकी आक्ष मत्स्योदर-सन्निभा विहित है। शान्त-मुद्रा, ध्यान-मुद्रा में अक्षि का आकार धनुषाकार बताया गया है। विष्णुधर्मोत्तर में, राजाओं, महाराजाओं, पितरों, मुनियों ऋषियों आदि की किस प्रकार की वेष्ट भूषा करनी चाहिए—यह सब उस ग्रन्थ में विशेष रूप से दृष्टव्य है। हमने अपने ग्रन्थ में समरागण-सूत्रधार के लक्षणों में इन विवरणों की पूर्ण रूप से समीक्षा की है जो हमारे Hindu canons of Painting or Citralaksanam तथा Royal Arts—Yantras and Citras में विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

अस्तु अब मानाधार—इस स्तम्भ के अर्ध-शीर्षक व क्षेत्र पर हमने थोड़ा प्रकाश डाल दिया है, अब चित्र मान पर विचार करना है। भारतीय स्थापत्य की दृष्टि से चित्र के षडंग में रूप-भेदों के बाह्य प्रमाणों का महत्वपूर्ण स्थान आता है। वैसे तो समरागण-सूत्रधार विष्णु-धर्मोत्तर तथा अपराजित-पृच्छा ऐसे बृहद् ग्रन्थों में चित्र-मान पर काफी विवरण प्राप्त होते हैं, परन्तु मानसोल्लास में चित्र प्रमाण प्रक्रिया (Pictorial Iconometry) पर बड़ा ही पारिभाषिक, वैज्ञानिक तथा प्रौढ विवरण प्राप्त होता है। मानसोल्लास की सबसे बड़ी देन फलक चित्र (Portrait Paintings) है। इन चित्रों के निर्माण के लिए मान-सूत्रों का बड़ा सहत्वपूर्ण स्थान है—ब्रह्मसूत्र (Plumb lines) तथा दो पक्ष-सूत्र। ब्रह्मसूत्र यथा नाम के शान्त अर्थात् मस्तक से यह रेखा प्रारम्भ होती है और दोनों आँखों की ओरों के मध्य से, नाटिकाग्र भाग से, चिबुकमध्य, वक्षस्थल-मध्य तथा नाभि से गुजरती हुई दोनों पादों के मध्य तक अवसानित हो जाती है। इस प्रकार यह रेखा एक प्रकार से शरीर के केन्द्र को अंकित करती है, जो सिर से लगाकर पाद तक खिंचती है। जहाँ तक दो पक्ष-सूत्रों का प्रश्न है वे भी यथानाम शरीर के पार्श्वों से प्रारम्भ होते हैं। यह आवश्यक है कि ब्रह्मसूत्र की रेखा से दोनों ओर छँ भ्रमूल के अवकाश पर इन दोनों सूत्रों का प्रयोग करना चाहिए। ये दोनों वर्णान्ति से प्रारम्भ करते हैं और चिबुक के पार्श्वों से

गुजरते हुए, जानुघो के मध्य से पुनः खाल तथा पाद की दूसरी अंगुली, जो अंगूठे के निकट होती है, वहा पर प्रत्यवसानित होती है।

इस अत्यन्त पारिभाषिक मान-प्रक्रिया (Pictorial Iconometry) में स्थानक-मुद्रायें अर्थात् पाद-मुद्राएँ बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। अतएव इन्हीं सूत्रों के द्वारा जो समरागण-सूत्रधार में ऋज्वागतादि नौ स्थानों का प्रतिपादन किया गया है, उनमें मानसोल्लास की दृष्टि से निम्नलिखित पाँच स्थानक-मुद्राओं को इन सूत्रों के द्वारा विहित बताया गया है—

इस ग्रन्थ में इन स्थानक मुद्राओं को ऋजु, अर्धजु, साची, अर्धाक्ष तथा भित्तिक की सत्ताओं में प्रतिपादित किया गया है।

**ऋजु स्थान :—**सम्मुखीन मुद्रा-स्थिति से वेद्य है जिस में ब्रह्म-सूत्र (Central and Plumb Line) जैसा ऊपर सकेत है, यहा पर भी छे अंगुल का अवकाश बताया गया है।

**अर्धजु-स्थान :—**इसका वैशिष्ट्य यह है कि ब्रह्मसूत्र से पार्श्व पर एक पक्ष-सूत्र का अवकाश आठ अंगुल का है और दूसरे पार्श्व पर चार अंगुल का।

**साची-स्थान :—**इस में विशेषता यह है कि ब्रह्म-सूत्र से एक पार्श्व पर पक्ष-सूत्र की ओर दस अंगुलों का मध्यावकाश बताया गया है और दूसरे पार्श्व पर केवल दो अंगुलों का।

**अर्धाक्षिक स्थान :—**इस की अन्य सूत्रों के समान वैसी ही व्यवस्था की गई है। यहा पर ब्रह्म-सूत्र से एक पार्श्व पर पक्ष-सूत्र की ओर एकादश अंगुल आवश्यक है और दूसरे पार्श्व पर केवल एक अंगुल।

**भित्तिक-स्थान :—**यहा पर ज्यों ही हम पहुँचते हैं तो ब्रह्म-सूत्र उठ गया और पक्ष-सूत्रों का आधिपत्य हो गया।

अभी तक हम चित्राधार एवं मान विग्रह पर कुछ प्रतिपादन करते रहे। अब मानाधारों पर आकर पुनः अन्त में समलम्बित मानों (Vertical Measurements) की तालिका भी रखेंगे, जिससे यह पता लगेगा कि प्राचीन भारत में और पूर्व एवं उत्तर मध्यकाल में चित्र विद्या एवं कला कितनी प्रौढ़ थी और चित्र-शास्त्र का कितना प्रबुद्ध पारिभाषिक विकास हो चुका था। यह सब हमारे स्थापत्य-कौशल के ही सूचक नहीं हैं वरन् हमारे प्राचीन पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक शास्त्रों का भी प्रतिबिम्बन करते हैं।

समरागण सूत्रधार के भानोत्पत्ति का अनुवाद देखें, उसी के अनुरूप हम यहाँ पर चित्र-तालिका की उपस्थापना करते हैं :—

८ परमाणु—१ त्रसरेणु

८ यूका—१ यव

८ त्रसरेणु—१ बालाग्र

८ यव—१ अंगुल या मात्रा

८ बालाग्र—१ लिखा

२ अंगुल—१ मोलक या कला

८ लिखा—१ यूका

२ कला या मोलक—१ भाग

सारा शरीर शिर से पैर तक ऊँचाई में नौ ताल है केशान्त से हनु तक मुँह

एक ताल का होता है ।

ग्रीवा ४ अंगुल

ग्रीवा से हृदय १ ताल

हृदय से नाभि १ ताल

नाभि से भेद १ ताल

ऊर्ध्व २ ताल

जानु ४ अंगुल

जघा २ ताल

चरण २ अंगुल

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र के अनुसार शरीर की ऊँचाई ९ ताल है और मौलि केशान्त चार अंगुल है । इस प्रकार वास्तविक ऊँचाई नौ ताल और ४ अंगुल है अथवा साढ़े नौ ताल ।

### समलम्बित मान (Vertical Measurements)

१ मस्तक-सूत्र (Line of the Crown)

२ केशान्त-सूत्र :—यह सूत्र मस्तक से चार अंगुल नीचे से, कर्णाग्र से तीन अंगुल ऊँचे उठकर, शिर के चारो ओर जाती है ;

३ तपनोद्देश-सूत्र उपर्युक्त रेखा के नीचे दो अंगुल से प्रारम्भ होती है और शस्त-मध्य से जाती है और कर्णाग्र के ऊपर एक अंगुल से प्रारम्भ होती है ;

४ कधोत्सग सूत्र .—एक अंगुल नीचे से प्रारम्भ होकर जब भीहो के निकट से जाती है तो शीर्ष-कर्म के अन्त में प्रत्यवसानित होती है ,

५ कनीनिका सूत्र :—जो भ्रूपाग-पार्श्व से प्रारम्भ होकर पिप्पली की ओर जाती है वह एक अंगुल नीचे से प्रारम्भ होती है ;

६ नासा-मध्य-सूत्र :—दो अंगुल नीचे से प्रारम्भ होकर कपोल के ऊर्ध्व-प्रदेश से गुजरती हुई कर्ण मध्य में अवसानित होती है ,

७ नासाग्र-सूत्र :—दो अंगुल नीचे से प्रारम्भ होती है । यह कपोल-मध्य जाता हुआ कर्ण-मूल पर के शोत्पत्ति-प्रदेश तथा पुष्ठ पर अवसानित होती है ;

८ वक्त्र-मध्य सूत्र :—घाघे अंगुल नीचे से प्रारम्भ होकर स्पृक्का प्रपदा इकाटिका से गुजरता है ;

९ प्रपरोष्ठ-सूत्र :—यह भी घाघे अंगुल नीचे होता है ; पुन वह चिबुक हड्डी से गुजरती हुई घीवा वृष्ट पर पहुच जाती है ;

१० हन्वप्र-सूत्र :—तो दो अंगुल नीचे से शुरू होती है । यह घीवा से गुजरती हुई कण्ठ की हड्डी पर पहुचती है ;

११ हिवका-सूत्र :—यह कण्ठ के नीचे से पास होता है ,

१२ वज्र-व्यस-सूत्र :—सात अंगुलों से नीचे से प्रारम्भ होता है ;

१३ विभ्रमांग-सूत्र :—पाच अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि०

दे० H.C.P.

१४ जठर-मध्य-सूत्र—छैं अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि०

दे० H.C.P.

१५ नाभि-सूत्र :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि०

दे० H.C.P.

१६ पक्काशय-सूत्र :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि०

दे० H.C.P.

१७ काष्ठो पाद-सूत्र :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि०

वि० दे० H.C.P.

१८ त्रिग शिरः-सूत्र :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि०

दे० H.C.P.

१९ त्रिगात्र सूत्र :—पाच अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि०

दे० H.C.P.

२० ऊरु-सूत्र :—आठ अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे०

H.C.P.

२१ मान-सूत्र (ऊरु-मध्य-सूत्र) :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H.C.P.

दे० H.C.P.

२२ जानुमुख-सूत्र :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि०

दे० H.C.P.

टि० :—ये तीनों (२०-२२) मूल कषाभो (Thighs) के बगल से गुजरने पाटिये ।

२३ आगच्छ-सूत्र :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होते हैं । यह भी जानु के चारों ओर से गुजरना पाटिए ।

२४ शक्यस्ति-सूत्र :—बारह अंगुल अर्थात् एक ताल से नीचे पास होना चाहिये ।

२५ नलकान्त सूत्र :—दश अंगुल नीचे से प्रारम्भ होना चाहिए ;

२६ गुल्फान्त-सूत्र :—दो अंगुल नीचे से प्रारम्भ होना चाहिए ;

२७ भूमि-सूत्र —चार अंगुल से नीचे प्रारम्भ होता है ।

इस प्रकार इस ग्रन्थ-सूत्र की सम्बाई वा टोटल १०८ अंगुल हो जाता है ।

विशेष सूच्य यह है कि मानसोत्थास की दिशा में भित्तक चित्र—कुड्य-चित्रो (Mural Paintings) में केवल उपर्युक्त चार स्थानों अर्थात् ऋजु आदि प्रथम चार ही उपादेय हैं । पाचवा भित्तक-स्थान यहा पर कोई महत्व नहीं रखता, क्योंकि वहा पर कोई भी आननाग यहा पर प्रकाश्य एवं प्रदर्श्य नहीं होता ।

### लेप्य-कर्म

लेप्य-कर्म चित्र-शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है । इसमें हम रंगों अर्थात् वर्ण-विन्यास तथा पेंटो को नहीं गतायं कर सकते । लेप्य कर्म का प्रयोग भूमि-वन्धन में है, जिसका साहचर्य वर्तिका से है । और वर्ण-विन्यास, जैसा हम आगे देखेंगे, उसका साहचर्य लेखनी या त्तिका से है । पीछे भूमि-वन्धन-स्तम्भ में लेप्य-प्रक्रिया पर प्रकाश डाला ही जा चुका है, अब यहा पर विशेष ज्ञातव्य एवं प्रतिपाद्य यह है कि लेप्य किस प्रकार से निमित्त होता है । प्राचीन भारतीय चित्रकला की सर्व-प्रमुख विशेषता समस्त स्थावर-अगमात्मक ससार का प्रतिबिम्बन ही एक मात्र उद्देश्य था । अपराजित-पूछा का निम्न उद्धरण इस पृष्ठ-भूमि का कितने सुन्दर ढंग से समर्थन करता है :-

कूपो जलं जलं कूपे विधिपर्यायितस्तथा ।

तद्विचित्रमयं विश्वं चित्रं विश्वे तथैव च ॥

सब छोडा सा संकेत आधुनिक चित्र-कला के स्वरूप और उद्देश्य पर करना है, जिससे हमारी प्राचीन चित्र-विद्या का मूलाधार विषयीगत चित्रण (Objective representation) या वह बोधव्य हो सके; परन्तु आजकल जिन भी चित्रों को देखें उनमें चित्रकारों की अपनी subjective विषयगत भावना के द्वारा यह चित्र निमित्त होने लगे हैं, जिनको subjective representations विषयगत चित्र कह सकते हैं । मेरी दृष्टि में यह आधुनिक चित्र-कला अपनी मूल भित्ति को ही छोड़ दी है । चित्र का नैऋतिक अर्थ प्रतिबिम्बन है; अतः चित्र और चित्रकारी क पद painting वास्तवीय दृष्टि से कभी भी

पर्यायवाची नहीं हो सकते। अंग्रेजी के इस शब्द Painting के लिए पूरी छूट है जो चाहे Paint करो परन्तु चित्र के लिए तो प्रतिमा के लिए तो इस समस्त स्थावर-जगात्मक ससार से किसी भी पदार्थ अथवा द्रव्य को लें तो उसका तब ही चित्रण हो सकता है जब उसमें प्रतिबिम्बन पूर्ण रूप से मुखरित हो जाए। अस्तु, इतनी सूक्ष्म समीक्षा पर्याप्त है। अब आइये लेप्य-कर्म की ओर।

लेप्य-कर्म—समराङ्गण-सूत्रधार के लेप्य-कर्म-शीर्षक अध्याय में लेप्य-प्रक्रिया का बड़ा ही वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक विधान प्रतिपादित किया गया है। पहले तो लेप्य के लिए किस प्रकार की मृत्तिका अपेक्षित होती है, उसके बड़े पुष्पल विवरण दिए गये हैं कि यह मिट्टी किन किन स्थानों, स्थलों एवं तटों से लाई जाए। पुनः जैसा हम ऊपर संकेत कर चुके हैं वर्तिका और भूमि-बन्धन एक दूसरे के क्रमशः साधन एवं साध्य हैं। किस प्रकार से वर्तिका बनाई जाती है और किस प्रकार से लेप्य बनाया जाता है यह सब विवरण इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड-अनुवाद में देखें।

स० सू० में लेप्य एक मात्र भातिक प्लास्टर अर्थात् भातिक लेप्य के विवरण दिए गए हैं; परन्तु वि० ध० में तो ऐष्टिक प्लास्टर (Brick Plaster) अर्थात् शैलेय प्लास्टर की विशेष महत्ता दी गई है। यह लेप्य-कर्म वि० ध० में दण्ड-लेप के समान दृढ़ बताया गया है। डा० कुमारी स्टैला क्रैमरिश ने वि० ध० के इस चित्र-प्रकरण का अनुवाद किया है उसका अवतरण विशेष सगत नहीं है।

मानसोल्लास में भी इसी प्रकार के लेप का प्रतिपादन है जिसकी सजा बज्रलेप के नाम से दी गई है।

स्निग्धानुलेपन (Ointment)—जहां तक Ointment का प्रश्न है वह एक प्रकार से किसी भी आलेख्य के लिए जो भूमि-बन्धन (कुट्ट-भूमि बन्धन, पट्ट-भूमि-बन्धन अथवा पट-भूमि-बन्धन) लेप्य-कर्म के द्वारा बनता है, उसका दूसरा सोपान स्निग्धानुलेपन (Ointment) है। वह एक प्रकार से अपनी भाषा में मर्दन एवं प्रोन्ग्वसन व नाम से प्रयोजित किया जा सकता है। इस प्रकार से लेप्य-कर्म में पहला सोपान मृत्तिका-बन्धन है। दूसरा सोपान जो ointment के नाम से हम पुकारते हैं वह एक प्रकार का गुप्ता-बन्धन अथवा रस बन्धन अथवा बज्र-बन्धन है। प्रथम बन्धन तो मोनिज है और ये तीनों बन्धन एक प्रकार से इस बन्धन में वैशिष्ट्य सम्पादन के लिए प्रकीर्तित किए गए हैं जो भूमि बन्धन

की प्रोज्ज्वलता सम्पादनार्थ है। अतएव शिल्प-रत्न का निम्न प्रवचन इसी तथ्य का प्रतिष्ठापक एवं पोषक है —

एव धवलिते भित्तौ दपेभोदरसन्निभे,  
फलकादी पटादी वा चित्रलेखनमारभेत्"

**वर्ण और लेखनी तथा छाया और कान्ति**  
(क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त)

स० सू० के चित्राध्यायो में वर्णों अर्थात् रंगों के प्रवचन नहीं प्राप्त होने। इसमें एक मात्र सामान्य सम्बन्ध प्राप्त होता है। वि० ध० में तथा शिल्प-रत्न में वर्णों के सम्बन्ध में विशेष विस्तार है और जहाँ तक मानसोल्लास की बात है वहाँ तो यह वर्ण-विन्यास-प्रक्रिया और भी अधिक प्रकुण्ट रूप में परिणत हो गई है।

वि० ध० में वर्णों की दो कोटियाँ प्रतिपादित की गई हैं, पहली कोटि में, रक्त, शुभ्र, पीत, कृष्ण तथा हरित रंगों को प्रधान रंग Primary Colours माना है। दूसरी कोटि में शुभ्र, पीत, कृष्ण नील तथा वैश्विक (Myrobalam) ये जो भरत के नाट्य-शास्त्र में प्रधान रंग प्रतिपादित किए गये हैं, वे ही वि० ध० में पाए गए हैं। शिल्प-रत्न और मानसोल्लास में जिन पाँच रंगों का वर्णन किया गया है, उनमें भी कुछ वैमत्य है। शिल्प-रत्न में शुभ्र, रक्त, पीत (Saff) तथा श्याम माने गये हैं। अभिलेखिनाश-विन्तामणि में शुभ्र शब्द में निर्मित, रक्त सीसा अथवा भलवतक द्रव अर्थात् लाल अथवा बाल लड्डियाँ या भी गेरू से बनना है। हरिताल (Green Brown) तथा श्याम ये ही इस ग्रन्थ में माने गए हैं।

जहाँ तक वर्णों का मिश्रण है वह तो चित्रकार पर आश्रित है। वर्णों के विन्यास में छाया, कान्ति एवं प्रोज्ज्वलता तथा आकर्षण प्रदान करने के लिए स्वर्ण, रक्त, ताँब, पीतल, रक्ताभ, सीसा, ईं गर, सिंदूर, टिन इत्यादि नाना द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार इस उपोदधात् के अनन्तर अब इस विषय पर विशेष विवरण प्रस्तोत्य है क्योंकि यह सब कुछ आ जाए तो आलेख्य चित्र के लिए वर्ण-विन्यास ही मौलि-मालायमान कर्म है। वर्ण-विन्यास में मूल रंग अथवा शुद्ध वर्ण, अन्तरित रंग, अथवा मिश्र वर्ण-वर्ण द्रव्य, स्वर्ण-प्रयोग— ये सब विवेच्य हैं। पुनः हम सूक्तिका, लेखनी एवं वर्तना, जो वर्ण-विन्यास (सा०) के साधन हैं, उनपर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।



**मूल-रंग (शुद्ध-वर्ण)**—हमने इस उपोदघात् मे विष्णु-धर्मोत्तर आदि की वर्ण-तालिकाओं का संकेत किया ही है तथापि जहाँ विष्णु-धर्मोत्तर मे पांच मूल रंगों की तालिका मिलती है, वहाँ अन्य ग्रन्थों मे मूल रंगों की संख्या केवल चार ही मिलती है। पाश्चात्य चित्र-कला मे मूल रंगों की संख्या तीन ही है अर्थात् रक्त, पीत, नील। हमारे यहाँ शुक्ल को जोड़कर चार की तालिका बना दी है। एक बात और विवेच्य है कि काला और नीला एक जैसा नहीं माना जा सकता। अभिलषितार्थ-चिन्तामणि मे जो नीली की परिभाषा दी गई है वह इस विवेक की हमारे सामने साक्षात् उपस्थित कर देती है —

**"केवलैव च या नीली भवेद्विन्दीवरप्रभा"**

इस लिए यह नीली कृष्ण से एक प्रकार से बिल्कुल विभिन्न है, क्योंकि कृष्ण कज्जल-सम कहलाता है। इस प्रकार इन पांच मूल रंगों अर्थात् शुद्ध वर्णों के पृथक् पृथक् चपक (प्याले) रखे जाते थे। इनका प्रयोग शुद्ध वर्णों तथा मिश्रित वर्णों दोनों के लिए किया जाता था।

सैसे तो अपराजित-पृच्छा मे भी चार ही मूल रंग हैं, परन्तु उसकी नवीनता अथवा उद्भावना यह है कि ये वर्ण नागर, द्राविड आदि चारो शैलियों पर आश्रित हैं। अतः यह विवरण यहाँ पर न लेकर आगे के स्तम्भ (चित्र-शैलियों) मे लेंगे। अब आइये अन्तरित रंगों अथवा मिश्र-वर्णों पर।

**अन्तरित-रंग (मिश्र-वर्ण)** —ये वर्ण वर्णों के परस्पर संयोजन अथवा मिश्रण से उत्पन्न होते हैं। अभिलषितार्थ-चिन्तामणि का निम्न उद्धरण पढ़िये तो हमें इन मिश्रित वर्णों की कैसी सुगुमा निलरती हुई देख पड़ेगी। शिल्प-रत्न तथा शिव-तात्व-रत्नावली मे भी मिश्र वर्णों के बड़े ही सुन्दर विवरण प्राप्त होते हैं। बाण की बादम्बरी पढ़िए, तो वहाँ पर ऐसा मालूम पड़ता है कि सारे के सारे पन्ने मूल रंग तथा मिश्रवर्ण दोनों से रंगे पड़े हैं। आज तक शायद ही किसी ने परम्परागत उक्ति— "वाणोच्छिष्ट जगत्सर्वम्" का ठीक ठीक अर्थ लगाया हो। बाण के मस्तिष्क मे सम्पूर्ण स्थावर-जंगमार्थक ससार करामतकवत् था। अतएव यह उक्ति इस परिभाषिक एवं वैज्ञानिक चित्र-शास्त्र के परिशीलन से परिपुष्ट प्राप्त होगी है। बाण ने तो गजब का दिया कि काले, पीले, हरे, भूरे, लाल, नीले, गुनहरे, गेरू, सफेद, कपोतान आदि आदि सप्तशः रंगों की कति दूर बादम्बरी-द्रीडाक्षणी में देखने की मिलती है। आगे इस अध्ययन के

परितुष्ट भाग में हम महाकवि कालिदास, बाण, श्रीहर्ष आदि आदि अनेक कवियों के काव्यों की मंदर्भ-तालिका का उद्घरण देंगे, जिस से इस वर्ण-महिमा पर लक्षण एवं सङ्घ से पूरी पूरी समीक्षा हो सकेगी। अब हम यथा-प्रतिज्ञात यहाँ पर अभिलषितार्थ-चिन्तामणि का उद्घरण प्रस्तुत करते हैं

**शुद्धवर्णाः**—पूग्धेदृशकैः पद्मनात् तत्तद्रूपोचितैस्स्पष्टम् ।

उज्ज्वल प्रान्नते स्थाने दयामलं निम्नदेशतः ॥

एकवर्णापितं कुर्यात्तारतम्यविभेदतः ।

अपश्येदुज्ज्वलो वर्णो घनश्यामलता सजेत् ॥

भिन्नवर्णेषु रूपेषु भिन्नो वर्णः प्रयुज्यते ।

मिश्रवर्णेषु रूपेषु मिश्रो वर्णः प्रयुज्यते ॥

श्वेतेषु पूरयेच्छ्व शोणेषु दरदं तथा ।

रजतेष्वलवतकरस लोहिते गैरिकं तथा ।

पीतेषु हरितालं श्यालुष्णं कज्जलमिभ्यते ।

शुद्धा वर्णा इमे प्रोक्तास्त्वार्दिवशसप्रयाः ।

**मिश्रवर्णाः**—मिश्रान् वर्णानतो वक्ष्ये वर्णसंयोगसम्भवान् ।

दरदं शंससम्मिश्रं श्वेतलोवनदृच्छविः ॥

अलवतं शंससम्मिश्रं धूमच्छायं निरूपितम् ।

हरितालं शंसयुतं मेरुमत्स्यं सहस्रप्रभम् ॥

कज्जलं शंससम्मिश्रं धूमच्छायं निरूपितम् ॥

नीली शोणेन संयुक्ता कपोताभा विराजते ।

राजावतंस्य एवायमतसीपुसप्पन्निभः ॥

कैवल्यं हि या नीली नीलेन्दोवरप्रभा ।

हरितालेन मिथा येज्जामते हृष्टिराद्यविः ॥

गैरिकं हरितालेन मिश्रितं गैरिकां शत्रत् ।

कज्जलं गैरिकोपेतं दयामवर्णं निरूपितम् ।

अतस्तत्रेन सप्तदृष्टं कज्जलं पाटतं भवेत् ।

अतस्तत्रं नीतिशामुक्तं कर्तुं वर्णं भवेत् स्पष्टम् ॥

एवं शुद्धाश्च मिश्राश्च वर्णभेदाः प्रकीर्तिताः ।

**रंग-द्रव्यः**—विद्युन्मयसौत्तर में नाना-विध रंग द्रव्यों का प्रतिपादन है—  
रक्त, रजत, ताम्र, धधक, राजावन्त (हीरक—पर्मां हीरे की निराद-

देशोद्भवा विधा), त्रपु, हरिताल, सुधा, लाक्षा, हिंगुलक तथा नील और लोहा । विष्णु-धर्मोत्तर का निम्न प्रवचन पढ़ें जिससे न केवल रग-द्रव्यो की तात्तिका ही नहीं मिलेगी, प्रत्युत ये रग-द्रव्य किन किन अन्य द्रवो के संयोग एवं मिश्रण से उत्पन्न होते हैं, यह भी यहां पर परशीलनीय है :—

रगद्रव्याणि कनकं रजतं ताम्रमेव च ।  
 अभ्रकं राजवन्तं च सिन्दूरं त्रपुरेव च ॥  
 हरितालं सुधां लाक्षां तया हिंगुलकं नृप ।  
 नीलं च मनुजथैरुक्तं तथान्ये सन्त्यनेकशः ॥  
 देशे देशे महाराज कार्यास्ते रत्नम्भनायुताः ।  
 लोहानां पत्रविभ्रास भवेद्यापि रसक्रिया ॥  
 सकटं लोहविम्यस्तमभ्रकं द्रावणं भवेत् ।  
 एव भवति लोहानां लेखने कर्मयोग्यता ॥  
 अभ्रकद्रावणं प्रोक्तं मुरसेन्द्रजभूमिजे ।  
 चम्पाकुपोऽयं वकुला निर्वासस्तम्भनाद्भवेत् ॥  
 सर्वेषामेव रंगालां सिन्दूरक्षीरं इष्यते ।  
 मातङ्गद्वारसप, बद्धैः मस्तम्भितं चित्रमुदारपुष्पैः ।  
 धीतं जलेनापि न नाशयेत् तिष्ठत्यनेकान्यपि वस्तराणि ॥

भव यहां पर जो विशेष विवेचनीय विषय है वह यह है कि विष्णु-धर्मोत्तर का राजावन्त क्या चीज है—कौन सा रंग है ? परशियन चित्र-प्रदावली में एक राजावन्त नाम का चित्र विद्युत है । डा मोती चन्द्र ने इस रंग को परशिया की देन माना है, परन्तु मेरी दृष्टि में यह धारणा भ्रान्त है । राजावन्त धरवा राजावन्त जो संस्कृत तत्सम शब्द है उसी का तद्भव एवं अपभ्रंश सजावर है जो आज भी उत्तर प्रदेश के पूर्वी इलाको में विशेषकर गोरखपुर में नील (Blue par-Excellence) माना जाता है । राजन्ता के चित्रों में जो इस राजावन्त (नीली) का प्रयोग प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है वह हमारे देश की ही विभूति है । उसमें परशिया (फारस) का कोई श्रेय नहीं । इसी प्रकार बंगाल के दसवीं तथा दशमोत्तर शताब्दियों के प्रजापारमिता-चित्रों में भी इस राजावन्त का ही परम-कीर्तन है । कल्प-सूत्र तथा कासकाचार्य-कथा जो हस्त-लिखित ग्रन्थ हैं और जो इस नीले रंग (राजावन्त) से रंगे गये हैं वे भी सब हमारी इस रंग-परंपरा के निदर्शन हैं । अब आइये वर्ण-विन्यास में स्वर्ण-प्रयोग पर ।

**स्वर्ण-प्रयोग :**—चित्र, जैसा हम ने पहन ही प्रतिपादित किया है, वह मालेख्य और तक्षण दोनों का प्रतिनिधित्व करता है। हमारे प्रतिमा-विज्ञान में प्रतिमा-द्रव्य-वर्ग पर दृष्टिपात करें तो धातुका अथवा धातूत्वा प्रतिमाओं का कितना विलास था। अतः प्राचीन भारत में प्रतिमा और मालेख्य दोनों में धातु का प्रयोग बड़े परिमाण में किया जाता था। जहाँ तक चित्र का सम्बन्ध है, वहाँ स्वर्ण (the metal par excellence) का प्रयोग प्राचीन चित्रकारों की एक पहचान होती थी जिस से चित्रों की अभिरूपा, प्रोज्ज्वलता, शान्ति, दीप्ति, वर्ण-प्रकर्षता अपने आप निखर उठती थी। स्वर्ण-प्रयोग के द्वारा इन सभी चित्रों—कूट्य, फलक तथा पट में चित्र को वेध-भूषण, आकृति-अपेक्षा सभी अपने आप निखर उठते थे।

गान्धार की बुद्ध-प्रतिमाओं में स्वर्ण-प्रयोग सिद्ध होता है। कहाँ तक प्रसन्नता, एलोरवा, वाघ, बादामी आदि चित्र-शीटों में स्वर्ण का प्रयोग हुआ कि नहीं यह एक समीक्ष्य विषय है। अतः आइये स्वर्ण-प्रयोग की प्रक्रिया पर। यह प्रक्रिया द्विविधा है :—

१. पत्र-विन्यास तथा
२. रस-प्रक्रिया।

**पत्र-विन्यास :**—पुराने चित्रों को देखेंगे तो उनमें स्वर्ण-पत्रों का प्रयोग होता आया है।

**रस-प्रक्रिया :**—स्वर्ण को पहले तपाया जाता था, अब जब वह द्रव रूप में परिणत हो जाता था, तो उसमें फिर अभ्रक के साथ कुछ बवाय अब निमिष भी मिलाये जाते थे जैसे—बम्पा-बवाय, बकुल-बवाय।

अभिलषितार्थ-चिन्तामणि तथा शिल्प-रत्न में वर्णों में स्वर्ण-योग तथा स्वर्ण-नेत्र-विधि के बड़े सुन्दर विवरण प्राप्त होते हैं, जो यहाँ पर उद्धरणीय हैं—

शुद्ध सुवर्णमत्यर्थं शिलाया परिपोषितम् ॥  
 कृत्वा काश्यपये शान्ते गालेयेत्तन्मुहुर्मुहुः ।  
 क्षिप्त्वा तोय सदातोदय निर्हरेत्तज्जल मुहुः ॥  
 धावच्छिलारजो याति तावत्कुर्वीत यत्नतः ।  
 अनत्वान्मस्तृण हेम न याति सह वारिणा ॥  
 भास्ते तदमल हेम बालाकर्णचिरच्छवि ॥  
 सरवन्नकं हेमज स्वल्पवज्रलेपेन मेतयेत् ।

मितित वज्रलेपेन लेखिन्यग्रे निवेशयेत् ॥  
 लिखेदाभरण चापि यत्किञ्चिद्देहमकल्पितम् ॥  
 चित्रे निवेशितं हेम यदा शोषं प्रपद्यते ।  
 वाराहदष्टधा तत्तु घट्टयेत्कनक शनैः ॥  
 यागवत्कान्ति समायाति विद्युच्चकितविग्रहम् ।  
 सर्वचित्रेषु सामान्यो विधिरेव प्रकीर्तितः ॥  
 प्रान्ते कज्जलवर्णम लिखेत्लेखा विचक्षणः ।  
 वस्त्रमाभरण पुष्प मुखरागादिकं सुधीः ॥  
 अलक्तेन लिखेत्पद्मचित्रवर्णं भवंतत ।

अब आइये तूलिका की ओर ।

**तूलिका—लेखनी—विलेखा (ब्रुश) :-**समरागण-सूत्रधार में विलेखा अर्थात् ब्रुश के अर्थात् कूर्चक के पाच प्रकार बताये गये हैं । पुनः उनकी आकृति एवं निर्माण-दार्क पर भी विवरण है । जहा तक निर्माण द्रव्य का सम्बन्ध है वह प्रायः बज्र-वृक्ष (बास) की लकड़ी का प्रयोग होता था । जहा तक इन की कोटियो और आकृतियों का प्रश्न है, वे निम्न तालिका में निभालनीय हैं;—

संज्ञा	आकार
१ कूर्चक	बटाकुराकार
२ हस्त-कूर्चक	अश्वत्थाकुराकार
३ भास-कूर्चक	प्लक्ष-सूची-निभ
४ धन-कूर्चक	उदुम्बराकार
५ चर्तनी	?

के. पी. जायसवाल ने (Cf. A Hindu Text on Painting—Modern Review XXX Page 37) में नवधा कूर्चकों का संकेत किया है । अभिलषितार्थ-चिन्तामणि में विलेखा के सम्बन्ध में बड़े ही सूक्ष्म विवरण प्राप्त होते हैं । यह लेखनी इस ग्रन्थ के अनुसार त्रि-विधा है :—

- १ स्पृजा
- २ मध्या तथा
- ३ सूक्ष्मा ।

पहली से लेपन, दूसरी से प्रकन, तीसरी से सूक्ष्म-लेखा-विन्यास । शिल्प-रत्न में इन तीनों लेखनियों की नव-विधा है, जो मूल, मिश्र आदि रंगों पर

प्राप्ति है। जहां तक इनके विवरणों का प्रश्न है, उनको निम्न उद्धरण में पढ़िये :—

लेखनी त्रिविधा ज्ञेया स्थूला सूक्ष्मा च मध्यमा ।  
तदण्डमृनुमात्रं वा विट्बम्भ पद्मक स्मृतम् ॥  
मुने पुच्छे तदप्यागमप्याथ बाध वर्तुलम् ॥  
कृत्वाप्रे विन्यसेच्छंकु चीटमर्धागुलोन्नतम् ।  
यथाकारं च मुहूर्तं सत्र संयोजयेत् पुनः ।  
स्थूलाया वृत्तवर्णोत्पमजोदरभक्ष परे ।  
चिक्रोडपुच्छजं सूक्ष्मायामरीम तूणाग्रवम् ॥  
तन्नुता साक्षया वाय दण्डाग्रवृत्तनाकुपु ॥  
वध्नातु लेखनीः सम्यक् प्रतिवर्णं त्रिधा त्रिधाः ।  
प्राहृत्या च त्रिधा स्थूला मूदमा मध्येति सा पुनः ॥  
प्रत्येकं नवधा चैवं प्रतिवर्णं तु लेखनी ।  
अथ मध्यमलेखन्या पीतवर्णस्तेन तु ॥  
विट्टलेखावहिर्भगि लिखितवाग्यवनमालिनेत् ।  
मार्दयेत् किट्टलेखा ता पुनः मुष्पवनमालिनेत् ॥  
रक्तवर्णरमेनाथ सर्वं सम्यक् समातिगम् ।

अथ प्राहये वर्तना पर ।

**वर्तना (Delineation) :—**वर्तना में तात्पर्य वर्ण-विन्यास में वांछित एवं छाया प्रशस्ति दीप्ति एवं अदीप्ति (Light and Shade) में है। यह वर्तना प्राच्य चित्रों का प्रमुख लक्षण है। द्विग प्रकार रेखा-वर्ण (Delineation and Articulation of the form) भी प्राच्य चित्रों की प्रथम कला है, उन्ही प्रकार यह वर्तना ही चित्र की कलाओं एवं शिल्पों का मुख बना देती है। वर्तना के लिए निम्नलिखित तीन सिद्धांत परमावश्यक एवं अनिवार्य हैं :—

- |   |        |       |   |                        |
|---|--------|-------|---|------------------------|
| १ | राय    | पटाव  | ) |                        |
| २ | वृद्धि | बड़ाव | ) | “क्षय-वृद्धि-विद्वान्त |
| ३ | प्रमाण | माप   | ) |                        |

डा० स्टैला नेमरिट की निम्न समीक्षा (Dr. V. D. Translation—  
Introduction, p. 14) “Fore-shor ening (Kasya and Vridhi) and  
proportion (pramana) constitute with regard to single figures the  
working of observation and tradition. The law of Kasya and

Vrdhi was as intensely studied by the ancient Indian painters as was perspective by the early Italian masters. Pramana on the other hand, was the standardized canon, valid for the upright standing figure and to be modified by every bent and turn."

वर्तना की इस मौलिक पृष्ठ-भूमि के विस्तेषण के उपरान्त अब हम उसके प्रकारों पर उतरते हैं।

वर्तना-प्रभेद—त्रिविधा

१ पत्रजा (Cross-lines)

२ एरिक (Stumping)

३ बिन्दुज (Dots)

कोई भी चित्रकार चित्र के लिए प्रथम रेखा-वर्तन करता है। प्रथम रेखा या तो पीताभ या रक्तार्ध लीची जाती है। विष्णुधर्मोत्तर तथा भरत-नाट्य-शास्त्र दोनों ही यही समर्थन करते हैं। विष्णुधर्मोत्तर का निम्न प्रवचन पढ़िये—

‘स्थान प्रमाणं भूलभ्यो मधुरत्वं विभक्तता’

इससे यह पूर्ण सिद्ध होता है कि चित्र में चित्र के सभी अवयवों आदि की प्रौढत्वता के लिए ये सब प्रमाण, सावधान्य, विभक्तता आदि विन्यास अनिवार्य हैं। महाकवि कालिदास की निम्न उपमा-उत्प्रेक्षा (दे० कुमार सभवा) को पढ़िए।

‘उन्मीलित तूलिकयेव चित्रं वपुर्विभक्तं नवयौवनेन’

यहां पर ‘विभक्त’ शब्द कितना मार्मिक है—ओ चित्र-सिद्धान्त को कितना ऊंचे उठाता है। अन्त में यह भी समीक्ष्य है कि वर्तना के द्वारा वर्ण-विन्यास ही चित्र का वैषयिक एवं विषयिक (Subjective and Objective) प्रस्फोटन कर देता है। आकाश का चित्रण प्राकृतिक अर्थात् विषयिक अथवा आनुमानिक अर्थात् वैषयिक दोनों समर्थ है—यह सब वर्तना पर ही आश्रित है।

चित्र-निर्माण-रूढ़ियां

(Conventions in Painting)

प्रतीकात्मक-रूढ़ि-अवलम्बन-परम्परा :—चित्र को कैसे चित्रित किया जाय ? इस प्रश्न के उत्तर में आदर्शवाद (Idealism) तथा यथार्थवाद (Realism) दोनों का सहारा लिए बिना शास्त्रीय चित्र-निर्माण-रूढ़ियों पर पूर्ण प्रतिपादन असम्भव है। सभी ललित कलाओं वाच्य, नाटक, संगीत, नृत्य एवं चित्र आदर्शवाद के उत्तुंग प्रकर्ष से ही नहीं प्रभावित हैं, वरन् सांस्कृतिक

परम्पराओं एवं रुढ़ियों का भी वहाँ पूर्ण प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। जिस देश की जैसी संस्कृति एवं सम्यता, जैसा जीवन एवं रहन-सहन, जैसी विचार-धारा तथा परम्पराएँ एवं रुढ़ियाँ, वैसी ही उस देश की कलाएँ। यथार्थवाद कोई फोटोग्राफिक अर्थात् प्रातिविम्बिक प्राभास नहीं, न तो आदर्शवाद यथार्थवाद का पूर्ण धातक या विरोधक। इन मिलित कलाओं में यथार्थवाद भी अपनी अपनी कलाओं के द्वारा अवश्य प्रभावित रहता है और आदर्शवाद उनको ऊपर उठाता है, तभी इन दोनों के मिश्रित प्रभाव से ये कलाएँ वास्तव में प्रोत्सहित एवं प्रवृद्ध बनती हैं। तक्षक का कौशल (दिलिए सजीव-प्रतिमाएँ), चित्रकार का दृश्य (दिलिये सजीव चित्र) सब उपयुक्त उपोद्घात का समर्थन करते हैं। शिशुपाल-वध (३५१) का श्लोक पढ़िये—जहा, मार्जार-प्रतिमा वास्तव में सजीव मार्जार का सा वर्णन प्राप्त होता है।

इसी प्रकार रघुवध (१६.१६) का श्लोक पढ़िये वहाँ भी सिंह हाथियों की मानो सजीव सा मार रहे हैं। इसी प्रकार अन्य नाना साहित्यिक एवं पुरातत्त्विक मन्दर्भ एवं निदर्शन भी कलाएँ यथार्थवाद का प्रत्यक्ष वर्णन करा देते हैं। चित्रों के विद्ध, अविद्ध, सत्य, वैज्ञानिक आदि वर्गों पर हम ऊपर लिख चुके हैं। इनमें विद्ध या सत्य एक प्रकार से दर्शकवत् यथार्थता का प्रतिविम्बन करते हैं। इस प्रकार के चित्र-चित्रण वास्तव में प्रमाण, भू-लम्ब, सादृश्य, भाव-योजन, वर्णिका-भग एवं रूप-भेद इन पङ्क्तियों से ही यह प्रोत्साहन प्रथित होता है। शिवनृत्य-रत्नाकर तथा महाभारत के निम्न प्रवचन पढ़ें तो इस उपोद्घात का अपने आप पूर्ण समर्थन प्राप्त हो जाता है—

पूरयेद्वर्णित पश्चात्तत्तद्रूपोचितं यथा ।

उज्ज्वलं प्रीनते स्थाने श्यामल निम्नदेशतः ।

एकवर्णोऽपि तं कुर्यात्तारतम्यविशेषतः । शि० २०

प्रकीर्णं चित्रपरिचमो यथा भ०—“यो व्यासस्य—

“भूतम्यान्मपि तप्यानि श्रवन्ति द्विचक्षणाः ।

समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः ॥”

इसी प्रकार के काव्य-संक्षोभाहरण जैसे हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में धनपाल की तिलक-रञ्जरी में भी यही चित्र-धारणा है। ति० म० का निम्न पद पढ़ें :—



“दिनकरप्रभेदे प्रकाशितव्यवतनिम्नोन्नतविभागा”

इसी प्रकार जैसा ऊपर कहा है अन्य साहित्यिक सन्दर्भों में भी ऐसे अनेक और उदाहरण मिलते हैं। इस सधन का काव्य-मय विलास ही नहीं, स्थापत्य-निर्माणों में जैसे अजस्ता, बाघ, सितार्नबमल भयवा तजोर आदि प्राचीन प्रासाद-चित्र-पीछे पर भी यहन भहा विलास एवं प्रोत्सास प्राप्त होता है। अतः शिल्प-ग्रन्थों में क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त का जो प्रतिपादन है, वही स्थापत्य में भी पूर्ण प्रतिबिम्बन है।

अब प्रश्न यह है कि बिना रुढ़ि-अवलम्बन (Adopting the Technique of Conventions) यह क्षय-वृद्धि, सादृश्य, भूनम्य एवं प्रमाण आदि पङ्क-चित्र का पूर्ण विधान कैसे सम्भव हो सकता है ? बिना रुढ़ि-अवलम्बन (Conventions) के यह सर्व-प्रमुख अंग (क्षय-वृद्धि) मुलरित ही नहीं होता। सत्य तो यह है कि रुढ़ि-अवलम्बन ही क्षय-वृद्धि का प्राण है, जिस से यथार्थवादी चित्र बन सकता है। चित्र्य प्रतिमा के चेहरे वैसे दिखाने, प्रासो का स्पर्शन वैसे विलसित हो, शरीर का घेरा, मोटाई, ऊँचाई, विशालता आदि प्रमाण कैसे अंकित हो सकते हैं—इन सब के लिए यह सिद्धान्त मापेदण-रुढ़ि-अवलम्बन से तात्पर्य प्रतीकत्व-वत्पन है। जिस प्रकार काव्य में ध्वनि को Suggestion कहते हैं, उसी प्रकार यह प्रतीकात्मक रुढ़ि-अवलम्बन चित्र में ध्वनि ही है। जिस प्रकार काव्य में शब्दानुवादादि की धमक केवल उसकी शान्ति तो दे सकती है परन्तु व्यञ्जना नहीं। व्यञ्जना ही उसे नीचे से उठा कर उत्तुंग सिंहर पर बैल कर देती है। इसी प्रकार चित्र में यह प्रतीकात्मक रुढ़ि-अवलम्बन एक प्रकार की व्यञ्जना ही है, जो चित्र को एव-मात्र मुदुता ही नहीं प्रदान करती वरन् शान्ति व्यञ्जना का प्रेक्षकों की आभास भी दिलाती है।

विद्वान् स्मरण करें कि जिस प्रकार काव्य में व्यञ्जनात्मक-शान्ति-ध्वनि-वत्पन के समान अन्वयार्थ एव ध्वनि की विनिर्देश-समीक्षा है, उसी प्रकार प्रतीकात्मक-रुढ़ि-अवलम्बन-परम्परा चित्र में भी यही विलास उपलब्ध करनी है।

प्रतिमा-न्यायार्थ को भी देखें, जिनमें मुद्राओं (शरीर, पाद, हस्त मुद्राओं) के द्वारा समस्त भाव, वैराग्य, उद्वेग, भागीर्य, भस्त्रेन, मग्न, बरदा आदि सभी इष्ट प्रतीकात्मक रुढ़ि-अवलम्बन में गव व्यञ्जित हो जाता है। अतः, इस उदाहरण का, एवं विष्णु-गर्भोत्तर तथा स० गू० के विभिन्न प्रवचन से पूरा का पूरा समर्थन स्वरूप प्राप्त कर जान है :—

यथा नृपे तथा निर्वं प्रेनोरगनुहृदि स्मृता।

दृष्टपश्य तथा मावा भगोपायानि सर्वशः ॥

कराश्च ये महा (मया?) नृत्तं पूर्वोक्ता नृपसत्तम ।

त एव चित्रे विज्ञेया नृत्तं चित्र पर मतम् ॥

हस्तेन सूचयन्नयं दृष्ट्या च प्रतिपादयन् ।

सजीव इति दृश्येत् सर्वाभिनयदर्शनात् ॥

भागिके चैव चित्रे च प्रतिपात्तायनमुच्यते ।

इस उपोदघात् के अन्त में हमें पुनः चित्र के सार्वभौमिक क्षेत्र पर पाठकों का ध्यान आकषिप्त करना है :—

जगमा स्यावराश्चैव ये सन्ति भुवनत्रये ।

तत्तत्स्वभावतस्तेषां करण चित्रमुच्यते ॥

जब चित्र का इतना बड़ा विस्तार है तो बिना रुद्धियों के अवलम्बन, बिना प्रतीकत्व-कल्पन यह सब कैसे चित्र्य हो सकता है ?

**रूप-निर्माण**—विष्णु-धर्मोत्तर में रुद्धि-निर्माण का बड़ा ही बहुल प्रतिपादन है। दैत्य, दानव, यक्ष किन्नर, देव, वन्यवर्ष, ऋषि, राजे महाराजे, भगवत्, ब्राह्मण किस प्रकार से चित्र्य हैं और उनके चित्रण में कौन कौन से सिद्धान्त जैसे प्रमाण, सादृश्य, क्षय-वृद्धि एवं प्रतीकात्मक रुद्धि-अवलम्बन आवश्यक हैं—यह सब विधान निम्न तामिका से स्वतः स्पष्ट हो जाता है :—

चित्र

वैशिष्ट्य

१. ऋषि-गण

जटाजूटोपशोभित, कृष्ण-भृग-चर्म धारण किए हुए, दुर्बल एवं तेजस्वी ;

२. देव तथा गन्धर्व

शेखर-मुकुट धारण किए हुए ;  
टि० श्री शिव राममूर्ति ने वि० ४० के 'चित्रिते रूपशोभिताः' को नहीं समझा ; मतलब अर्थ नहीं लगा सके। यह पद भ्रष्ट है मत यह 'शेखररूपशोभिता' होना चाहिए—देखिए मानसार वहाँ पर शेखरो की नाना विधार्थों से शेखर-मुकुट भी एक विधा है।

३. ब्राह्मण

ब्रह्मचर्यस्वी एवं शुक्लाम्बरधारी ।

४. मन्त्री, साम्बरसर तथा पुरोहित

ये भ्रूट-विहीन एवं सर्वालङ्कारों से युक्त तथा ठाठ बाठ के कपड़ों से परिर्वेष्टित हों, इनके छाफा अरु बधा हुआ होना चाहिए ;

५. दैव्य तथा दानव नृकुटि-भुज, गोल-मटोल तथा गोल घास बाने,  
भयानक एवं उद्धत-वेश-धारी,
६. गन्धर्व तथा विद्याधर मपत्नीक, रुद्र-प्रमाण, मात्स्यानकार-धारी सह-  
हस्त, भूमि पर धपवा गगन मे ;
७. विन्नर—द्विविध नृव-क्त्र (नरमुख) तथा अश्वमुख—दोनों  
ही रत्न-जटित, सर्वालकार-धारी एवं गीत-वाद्य-  
समायुक्त तथा घृतिमान,
८. राक्षस उररुच, विकलाश एवं विभीषण;
९. नाग देवाकार, पण-विराजित,
१०. यक्ष सर्वानकारसंकृत,  
टि० मुरों के प्रमथ-गण तथा पिशाच ये दोनों  
प्रमाण-विराजित हैं ।
११. देवों के गण नाना-सत्व-मुरा, नाना-वेश-धारी, नाना धामुप-धारी  
नाना-प्रीडा-प्रसक्त, नाना कर्म-धारी,  
टि० वैष्णव-गण एवं ही कोटि के विभ्य हैं ।  
विशेषता यह है कि वैष्णव गण चतुर्धा हैं :—  
वामुदेव-गण वामुदेव को, सारपण-गण संवर्षण को,  
प्रद्युम्न-गण प्रद्युम्न को तथा अनिरुद्ध-गण अनिरुद्ध  
को अनुगमन करते हुए विभ्य हैं । ये सब अपने  
देवता का विभ्रम प्रदर्शित करें । इनकी शक्ति  
मीलोपम-रस के समान ही और चन्द्र के समान  
सुभ्र हो, इनके आकार मरकत-सदृश हों और  
प्रभा मिन्दूर के सदृश हो ;
१२. वेदवाच्य वेश उद्धत एवं धगार-नाम्मत,
१३. कुल-विषयी सज्जाबनी;  
टि० दैत्यों, दानवों और दशों की पत्नियां,  
रजबनी बानगी चाहिए । विषवाच्य पत्नि-सदृश,  
सुवत-वर्ण-श्यामिणी, गर्वाकार-वर्दिता;
१४. वज्रधारी वज्रः
१५. वीर्य लम्बा दूर वर्गाङ्गुल वेश-धारी,

- १६ सेनापति . महाशिर, महोरस्क, महानास, महाहनु, पीन-  
स्कन्ध, भुज-ग्रीव, परिमाणोच्छ्रित, त्रितरग-ललाट,  
व्योम-दृष्टि, महाकटि एव दृष्टा ;
१७. योधा-गण भूकुटी-मुख, किञ्चत् उद्धत-वेश एव उद्धत-दर्शन ;
- १८ पदाति उल्लसती हुई गति से चलने वाले और धामुधो को  
धारण किए हुए—विशेषकर खड्ग-चर्म धारण  
किए हुए चित्र्य हैं । विशेष विशेषता यह है कि  
उनका कर्णाटक कोटि का होना चाहिए ;
- १९ धनुर्धारी नग्न जघा वाले, उत्तम बाण लिए हुए, जूते  
पहने हुए ;
- २० पीलवान श्यामवर्ण, धलकृत, जूटधारी ;
२१. घुडसवार उदोष्य-वेश ;
२२. बन्दि-गण शाही वेष वाले, परन्तु सिरा-दर्शित-कंठ तथा  
उन्मुख दृष्टि ,
२३. ब्राह्मणक कपिल एव केकर के समान धाख वाले ;
२४. दंड-पाणि (द्वार-पाल) प्रायः शान्त-संकाश ;
२५. प्रतीहार दंड-धारी, भ्राकृति एव वेश न अधिक उद्धत न  
शान्त, बगल में खड्ग तथा हाथ में दण्ड ,
२६. वणिक् ऊंचा साफा बाधे हुए ;
२७. गायक एव नर्तक शाही वेष-धारी ;
२८. नागरिक (वीरजानपद) धुभ्र-वस्त्र-विभूषित, पचित-केश एव निज भूषणो  
से विभूषित, स्वभाव से प्रिय-दर्शन, विनीत एव  
सिष्ट ;
२९. मजदूर (कर्मकर) स्व-स्वकर्म-व्यय ;
३०. पहलवान उग्र, नौच-केश, उद्धत, पीन-ग्रीव, पीन-शिरोधर,  
पीन-यात्र तथा लम्बे ,
३१. वृषभ एव सिंह आदि ये सब यथा-भूमि-निवेश विवक्ष्य है ;  
तथा अन्य सत्त्व-जातियां
३२. सरिताये स-शरीर-चित्रण में वाहन-प्रदर्शन अनिवार्य है,  
पुनः हाथों में पूर्ण कुम्भ लिये हुए तथा घुटनों को  
बचाए हुए ;

३३. शैल मूर्त्ति पर शिखर-प्रदर्शन आवश्यक है;
३४. पृथ्वी (भू-मण्डल) सजरीरा, सद्दीप-हस्ता;  
 टि० श्री शिव राममूर्ति एवं डा० कैमरिस दोनों इन विद्वानों ने विष्णु-धर्मोत्तरीय इस लक्षण की नती समझा क्योंकि हमारी परम्परा में पृथ्वी, देवी के रूप में विशादित है, अतः जब वह चतुर्भुजा या अष्ट-भुजा गौरी, लक्ष्मी या अष्टभगला के रूप में विभाव्य है, तो उसके सातों हाथों में सातों डीप करामतनचत् स्वयं प्रदर्श्य हैं।
३५. समुद्र रत्न-प्राप्ति से उसके शिखर-रूपी हाथ प्रदर्श्य हैं, प्रभा-मण्डल बनाकर सलिल-प्रदर्शन विहित हो जाता है;
३६. निधियाँ कृष्ण, लाल वय आदि लक्षणों सहित इसके दिव्य (लाल वय, निधि आदि) अवयव प्रदर्श्य हैं;
३७. आकाश विवर्ण (Colourless), लगाकृत;
३८. दिव (Heavens) तारक-मण्डित;
३९. घरा—त्रिविधा १ जामय-(जगसी),  
 २ अनूपा (दलदली),  
 ३ मिथ्या घसा-नाम तथा-गुणा।
४०. पर्वत शिला-जाल, शिखर, धातु, द्रुम, निर्भर, भुजग आदि चिन्हों से चिह्नित;
४१. वन नाना-विध वृक्ष-विहग-स्वापद-पुस्त;
४२. जन अनन्त-मत्स्यादि-वन्धव्यो एवं जसीय जन्तुओं के द्वारा विभावित;
४३. नगर चित्र-विचित्र-देवतायतनों, शिखादो, आपणो, (बाजारों) एवं भवनो तथा रात्र-मार्गों से सुशोभित;
४४. ग्राम बधानों से भूषित और चारों ओर राहों से युक्त
४५. दुर्ग वन, उत्तुंग अट्टालक आदि से शिखेष्टित;
४६. आपण-भूमि गण्य-युक्त—दुबानों से घिरी हुई;

४७. आपान-भूमि पीने वाले नरों से आकुल;
४८. जुवारी उत्तरीय-विहीन एवं जुमा सेलते हुए;
४९. रण-भूमि चतुरंग सेना से युक्त, भयानक लड़ाई लड़ते हुए योधा-गणों से, और उनके ग्रंथों में रुधिर की धारा बहती हुई और शवों से पूरित;
५०. वसन्त जलती हुई चिता से प्रदर्श्य हैं, जहाँ पर लकड़ी के ढेर और शव भी पड़े हो;
५१. मार्ग सभार उच्छ्रो सहित;
५२. रात्रि (घ) अश्व, तारा, नक्षत्र, चौर, उलूक आदि से एवं सुप्तों से;
- (ब) प्रयमाचं-रात्रि अन्धकारिणी से;
५३. उषा सारुणा, म्लान-दीपा, कुक्कुट-रुता;
५४. सध्या नियमी ब्राह्मणों से;
५५. अघोरा घर जाते हुए मनुष्यों की गति से;
५६. ज्योतिष्ता क्रुमुदों के विकास एवं चन्द्रमा से;
५७. सूर्य म्लेचा-तप्त प्राणियों से;
५८. वसन्त फुल्ल-वृक्षों से, कोकिलाओं, भमरों, प्रहृष्ट नर-नारियों से;
५९. शीष्म क्लान्त नरों से, छायायन मृगों से, पंकमलिन महिलाओं से, शुष्क-जलाशय-चित्रण से;
६०. वर्षा द्रुम-सलीन पक्षियों से बुहा-गत सिंह-व्याघ्रादि स्थापदों से, जल-पत्र बादलों से, अमकती हुई बिजली से;
६१. शरद् फलों से लदे हुए वृक्षों से, पके हुए खेतों से, हसादि पक्षियों से सुशोभित सलिलाशयों से;
६२. हेमन्त सारों की सारी सूनी (लूनी) धरती से, धूलले बातावरण से (सनीहार-दिगन्तकम्);
६३. शिशिर हिमाच्छिन्न दिग-दिगन्त से, वृक्षों में पुष्प और फलों से और ठिठुरते हुए प्राणियों से।

टि० :—विशेष प्रवचन यह है कि वृक्षों के फलों-फूलों पर एकमात्र दृष्टिपात एवं जनो का आन्ध्यातिरेक—यही चित्र्य ऋतुओं के लिये काफी है।

इस तालिका के उपरान्त अब इस स्तम्भ में यह भी अन्त में समीक्ष्य एवं विवेच्य है कि यह प्रतीकात्मक रुढ़ि-धवलम्बन ध्व-मान ध्व-वृद्धि एवं सादृश्य तथा भूलम्बादि चित्राद्यो पर ही आश्रित नहीं है; प्रमाण भी उसी प्रकार अनिवार्य है।

देव, ऋषि, गन्धर्व, दैत्य, दानव, राजे-महाराजे, धर्मात्मा तथा सावत्सर, पुनोहित आदि अब भद्र-प्रमाण (दे० अनुवाद एवं मूल—ध्व-पुरुष-स्त्री-लक्षण) में चित्र्य है। विद्याधरो को रुद्र-प्रमाण में, किन्नर, नाग, एवं राक्षस मालव्य-प्रमाण में करना चाहिए। जहाँ तक वेश्यायो एवं सज्जावली महिलायो का प्रश्न है, वे रुक्क एवं मालव्य-प्रमाण में क्रमशः चित्र्य हैं। बंध्य भी रुक्क मान में प्रदर्शित हैं। सूत्र-मान तारा-मान विहित हैं। यह ग्रन्थ भी कुछ विशेष क्रमिक नहीं हैं। जहाँ तक अन्य शिल्प ग्रन्थ जैसे कामिकागम आदि, वहाँ मान-प्रमाण ताल-मान पर आश्रित है।

### चित्र रस एवं दृष्टियाँ

पीछे के स्तम्भों में रेखा-करण, वर्णना-करण एवं वर्ण-विन्यास इन सप्त पर कुछ न कुछ प्रतिपादन हो चुका है। निम्न निश्चित प्रवचन पढ़िए :—

“रेखा प्रशस्तत्वाचार्याः वर्णाङ्गमितरे जनाः

स्त्रियो नूपुरमिच्छन्ति वर्तेता च विचक्षणाः ॥”

तथापि वर्ण-विन्यास एक प्रकार से चित्र-कार और चित्र-दृष्टा दोनों के मन की प्रवण्य अभिव्यक्त करता है। इसी मन स्थिति में चित्र-कार एवं चित्र-दृष्टा दोनों की कल्पनाओं का स्वतः जन्म हो जाता है। अतः काव्य और चित्र में विशेष अन्तर नहीं है।

बैसे तो चित्र की विधाओं पर हमने मानसोत्पत्ति और शिल्प-रत्न के रम-चित्रों का भी वहाँ पर प्रस्ताव किया है तथापि इन ग्रन्थों की दृष्टि में रम-चित्र या तो दृव-चित्र हैं या भाव-चित्र हैं। भरत के नाट्य-शास्त्र में सगरे बड़ी प्रशंसा यह है कि कोई भी रस, यदि किसी चित्र में चित्रित करना है, तो उस को अभिव्यञ्जक वर्ण-विन्यास से प्रतीत करना चाहिए। शगार का अभिव्यञ्जक रमास वरां है; हास्य का शुभ, वरुण का ग्रे (Gray), रौद्र का रक्त, धीर का पीताम्ब, भयानक का कृष्ण, मदभूत का पीत तथा बीभत्स का नीला है।

चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थों में मयरांगण-सूत्रधार ही एक मात्र ग्रन्थ है जिसमें चित्र-रसों एवं चित्र-दृष्टियों का वर्णन है। इस ग्रन्थ के संग्रह भोजदेव के शगार

प्रवचन से हम परिचित हो है और सरकृत-साहित्य में महाराज भोजदेव की बड़ी देन है और वे एक ऊँचे साहित्य-शास्त्री (Aesthetician) थे । अतएव यह अध्याय उमी दिशा में उनकी देन है । इस अध्याय का निम्न प्रवचन पढ़िए :—

रसानामथ वक्ष्यामो दृष्टीना चेह लक्षणम् ।

तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यवित्तः प्रजायते ॥

अस्तु, इस उपोद्धात् के अनन्तर अब हम इन रसों एवं रस-दृष्टियों की तालिका पाठकों के सामने रखते हैं । यद्यपि अनुवाद-सूत्र में रस-दृष्टि-लक्षण-दीर्घक अध्याय में इन सभी रसों एवं रस-दृष्टियों का प्रतिपादन बड़ा है ही तथापि रस का सरलोद्धारण एवं नवीन-रूप देकर यह दो तालिकाएँ उपस्थित की जाती हैं :

### एकादश चित्र रस

संज्ञा	शारीरिक वृत्ति	मानसिक वृत्ति
१ श्रगार	स-भ्रू-कम्प, प्रेमातिरेक	स्तित चेष्टार्थे
२ हास्य	अपाग विक्रमित, अथर स्फुरित ;	सीला
३ करुण	अभ्रुविलम्बे कपोल, आते शोक-मनुचित, चिन्ता एव सताप	
४ रौद्र	आर्सें लाल, ललाट निर्माजित, अथरोष्ठ दण्ड-दण्ड ,	
५ प्रेमा	हर्षातिरेक सम्पूर्ण शरीर पर—अर्थलाभ, सुतोत्पत्ति एव प्रिय-दर्शन से ,	
६ भयानक	लोचन उद्घ्रान्त, हृदय-संकोभ, यह सब वैरि-दर्शन एवं विश्वास से ,	
७ धीर	.....	धैर्य एव बोध
८ ...	.....	.....
९ बीभत्स	.....	.....
१० अद्भुत	तारकायें स्तमित अथवा प्रफुल्लित किसी असम्भाष्य वस्तु अथवा दर्शन से,	
११ शान्त	समस्त शरीरावयव अविकारि ,	अराग एव विराग



## अष्टादश चित्र-रस-दृष्टियां

क्रम सं०	संज्ञा	आश्रय रस
१.	सलिला	शृंगार
२.	दृष्टा	प्रेमा
३.	विकसिता	हास्य
४.	विकृता	भयानक
५.	भ्रुकुटी	.....
६.	विभ्रान्ता	श्रगार
७.	सकुचिता	श्रगार
८.	.....	.....
९.	ऊर्ध्वगता	.....
१०.	योगिनी	शान्त
११.	दीना	करुण
१२.	दृष्टा	वीर
१३.	विह्वला	भयानक तथा करुण
१४.	शकिता	भयानक तथा करुण

इस स्तम्भ में यह भी सूच्य है कि ये रस तथा रस-दृष्टियां संस्कृत काव्य-शास्त्र की कापी नहीं हैं। इन रसों और रस-दृष्टियों के संक्षण से अपने आप सिद्ध है कि ये संक्षण बहुत काफी परिमाणित एवं परिवर्तित संस्करण में रक्खे गये हैं, जिससे भाव-चित्र-प्रतिमाओं में भी विहित हो सकें। यह हम जानते ही हैं कि काव्य में भावों का स्थान गौण है और रसों का स्थाय संधेय है। बात यह है कि चित्र में भावों पर ही शारीरिक एवं मानसिक दोनों ही स्फूर्तियां फीहा करती हैं और यही चित्र का परम कौशल है।

अस्तु, अब हमें चित्र-कला में इस साहित्य-सिद्धान्त (Aesthetics) के परिवृत्त में दो प्रश्नों को लेना है। यद्यपि संस्कृत-साहित्य शास्त्रीय अथवा संस्कृत-काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से रसों का साक्षात् सम्बन्ध मानवों (नर, नारी एवं शिशु) से ही है और उन्हीं के दिव्य रूपों यथा देव, दानव, दैत्यो से ही है, परन्तु इस चित्र-कला में रसों को इस परिमित कोटि से बहुत आगे बढ़ा दिया गया है और इसका एत-मात्र श्रेय इसी ग्रन्थ को है। पाठक इस सं० भू० के अध्याय का निम्न प्रवचन पढ़ें —

इत्येते चित्र-संयोगे रसाः प्रीतिरिति मनसि ॥

मानुषाणि पुरस्कर्य सर्वगत्येषु योजयेत् ॥

मेरे लिए हम वाक्य ने हम सम्पाद में बड़ी प्रेरणा प्रदान की। धनएव  
मैंने घाते घाते की ग्रन्थ (Hindu Canons of Painting) में इस वाक्य  
की सराहना करते हुए निम्न समीक्षा की है जो पाठकों के लिए पठनीय है।  
यहां पर यह उद्धृत की जाती है :—

"Two important points in relation to the aesthetics in the pictorial art still need to be expounded. Firstly all these rasas, though characteristic of only human beings—men, women, and children and in their likeness, the anthropomorphic forms of the gods and demi-gods and demons—they have an application to all sentient creations—Manusani Puraskrtya Sarvasatvesu Yojayet' 82.13. This statement goes to the very core of the art and shows that if birds and animals in paints could be shown manifesting the sentiments, it is really the master-piece, the supreme achievement of the artist. It becomes a new creation, a superior creation to that of Brahma, the Primordial Creator Himself, if it is through the symbolism of Mudras—hand poses, bodily poses and the postures of the legs the mute gods speak to us, giving their vent to the sublimest of thoughts and noblest of expressions, these so-called brutes can also become our co sharers in the aesthetic experience. It is the marvel of the art. If poetry can create an idealistic world full of beauty and bliss alone, the painting, her sister must also follow the suit."

अब आईये एक तुलनात्मक समीक्षा की धीर जिसमें हम नाट्य, वाक्य, रस और ध्वनि सभी को लेकर इस चित्र-कला की समीक्षा करेंगे।

चित्र-कला नाट्य-कला पर आश्रित है :—विष्णु-धर्मोत्तर में मार्कण्डेय धीर वर्य के संवाद में चित्र-कला की मौखिक मित्रि वास्तव में नाट्य-कला है जो इस संवाद में स्वतः प्रकट :—

मार्कण्डेय उवाच—नृत्य-शास्त्र के ज्ञान के बिना, चित्र-विद्या के सिद्धान्तों को समझना संभव नहीं है, इस लिए हे राजन् इस पृथ्वी का कोई भी कार्य इन दोनों विद्याओं के बिना असम्भव है "

वज्र उवाच—ओ ब्राह्मण ! नृत्य-कला और चित्र-कला के सम्बन्ध में मुझे पूरी तरह से समझा दिये क्योंकि मैं भी यह मानता हूँ कि नृत्य-कला के मिद्धान्तों में चित्र-कला के मिद्धान्त स्वयं यतार्थ हैं ।

माकण्डेय पुनरुवाच—राजन् ! नृत्य का अभ्यास किसी के भी द्वारा दुष्कर है, जब तक वह संगीत को नहीं जानता तो फिर बिना संगीत के नृत्य का आविर्भाव ही असम्भव है ।

अतएव इस विष्णुधर्मोत्तरीय महान् विभूति का अनुगमन करते हुए महाराजाधिराज भोजराज इस समन्वय-दृष्टि में नृत्य-नाट्य-संगीत की भूमि पर पल्लविन, पुष्पिन एवं फलित चित्र-विद्या को काव्य और साहित्य के प्लेट-फार्म पर लाकर खड़ा कर दिया है । इस रसाध्याय के निम्न प्रवचन पढ़िये :—

हस्तेन सूचयन्तर्पं दृष्टया च प्रतिपादयन् ।  
सनीध इव दृश्येत सर्वाभिनयदर्शनात् ॥  
आगिके चैव चित्रे च प्रतिमामाघनमूच्यते ।  
(भवंदत्रायत ?) भस्मादनयोश्चित्रमाधिनम् ॥  
प्रोक्त रसानामिदमत्र लक्ष्म दशा च सधित्ततया तत् ।  
विज्ञाय चित्र लिखता नराणां न सजय यानि मनः कदाचित् ।

इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों की अवतारणा से यह प्रबट हो गया है कि चित्र नाट्य पर आधारित है । मग्रे दृष्टि में तो नाट्य तथा चित्र दोनों ही अन्वोग्याश्रयी हैं । चित्र नाट्य का एक दृश्य है और नाट्य चित्रों की कड़ी (Succession of citras) है ।

विष्णुधर्मोत्तर का पूर्वोक्त प्रवचन (विना तु नृत्यशास्त्रेण चित्रसूत्रमुदु-विदमिह्यादि) पढ़ें तो जिस प्रकार नाट्य 'अनुकरण' पर आधारित है उसी प्रकार चित्र भी अनुकरण पर ही आधारित है । पुनः जिस प्रकार नाट्य में हस्त-मुद्राएं अनिवार्य हैं, उसी प्रकार चित्र-शास्त्र एवं प्रतिमा-शास्त्र में भी इन मुद्राओं—शरीर-मुद्राओं (शृङ्गागतादि), पाद-मुद्राओं (वैष्णावादि-स्थानक आदि) तथा हस्त-मुद्राओं (पताका आदि) का भी इस चित्र-कला एवं प्रतिमा-कला में सामान्य प्रग है (दे० समराङ्गण-सूत्रधार का परिमार्जित संस्करण एवं अनुवाद पृष्ठ पटल) । यथाप्रतिज्ञात अथ विष्णु-धर्मोत्तरीय प्रवचन को सामने रखता हूँ :—

विना तु नृत्यशास्त्रेण चित्रसूत्रमुदुविदम् ।  
यमा नस्ते तथा चित्रे प्रैलीक्यानुकृतिः स्मृता ॥  
दृष्ट्याश्च तथा भावा अगोपायानि सर्वशः ।

कराश्च ये महानृते पूर्वोक्ता नृपसत्तम ॥

त एव चित्रे विज्ञया नृत्त चित्रं पर मतम्

इन दोनों सदमों की अवतारणा के उद्गमन यह स्वनः सिद्ध हो गया है कि चित्र जिस प्रकार से मुद्राओं के द्वारा बहुत कुछ व्यक्त अवश्य होते हैं परन्तु रसो और रस-दृष्टियों से वे साक्षात् सजीव हो उठते हैं । जिस प्रकार व्याख्यान, वरद आदि मुद्राओं से प्रतिमाएँ व्याख्यान देने लगती हैं, उपदेश देने लगती हैं, वरदान देने लगती हैं, उसी प्रकार से ये मुद्रायें चित्रों और प्रतिमाओं को अपने पूर्ण अस्तित्व में अभिव्यक्त कर देती हैं । भाव-व्यक्ति जब रसाभिव्यक्ति में परिणत हो जाती है तो यह कला न रह कर रस शास्त्र (Aesthetics) बन जाती है । अब आइये चित्रों को काव्य के रूप में देखें :—

**काव्य एवं चित्र :—**वामन अलंकारिक-परम्परा के प्रौढ आचार्य मान जाते हैं, उनके काव्यालंकार-सूत्र में बहुत से अलंकार एवं वृत्तियाँ चित्र के रूप में व्याख्यापित हैं । इसी महती दृष्टि से काव्य की परिभाषा को चित्र में परिणत कर दिया है :—

रीतिरात्मा काव्यस्य

और रीति को उन्होंने जो वृत्ति से व्याख्या की है वह भी कितनी मामूली है :—

“एतासु तिसृषु रेखास्त्रिव चित्र काव्य प्रतिष्ठतम्”

यतः उन्होंने काव्य की आत्मा ‘रीति’ मानी है उसी प्रकार से चित्र की आत्मा रेखायें हैं । विश्व-धर्मोत्तर के उपरि-उद्धृत रेखा प्रथम-त्याचार्या भी यही परिपुष्ट करता है । पुनः वामन अपने काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति ३११ में रेखा से आग बद्ध कर गुण में आ जाते हैं —

यथा विच्छिद्यते रेखा चतुर चित्र-पण्डितं ।

तर्ध्व वागपि प्रात्रः समस्तगुणगुम्फिता ॥

यह उक्ति पुनः विश्व-धर्मोत्तर की उक्ति का स्मरण कराती है :—

‘वर्णाद्यधमितरे जताः’

निम्नलिखित थोड़े से और उद्धरण पढ़िए, जिससे काव्य एवं चित्र में क्या कोई भिन्नता है—यह सब अपने आप बोध-गम्य हो जावेगा :—

“श्रीज्ज्वल्य कान्तिः—यह काव्य के दस गुणों में से कान्ति भी प्राचीन आलंकारिकों के द्वारा माना गया है ; अतः कान्ति-अर्थात् श्रीज्ज्वल्य यथा पूर्व-

स्वप्नो मे चित्र मुणो मे श्रीज्ज्वल्य की समीक्षा कर ही चुका हूँ वही वामन ने मत मे श्रीज्ज्वल्य काण्ड-गुण है। पुनः उनके लक्षण एवं वृत्ति को देखें :—

“श्रीज्ज्वल्य कान्तिः का सू० ३.१ २५

“यथा विच्छिद्यते रेखा चतुर चित्रपण्डितः।

तथैव वागपि प्राज्ञः समस्तगुणगुम्फिता । वा. सू० ३.१

“श्रीज्ज्वल्य कान्तिः” वा. सू. ३ २५

“वन्धस्य उज्ज्वलत्व नाम यत् असौ कान्तिरिति, तदभावे पुराणच्छाये-  
त्युच्यते”

‘श्रीज्ज्वल्य कान्तिरित्याहुर्गुण गुणविशारदाः।

पुराणचित्रस्थानीयं तेन बन्ध कवेर्वचः॥

वामन अपने काव्यालंकार सूत्र (१३.३०-३१) में भी विष्णुधर्मोत्तर के ५ मान ही नाट्य एवं चित्र को कह ही नोटि में लाकर रख देते हैं :—

“सन्दर्भेषु दशरूपक नाटकादि भव्यः तद्वि चित्र चित्रपटवत् विशेष-  
साकल्यात्”

यही भरत के नाट्य-शास्त्र तथा भाव-प्रकाश से भी समर्थित है—

“भवस्थानुकृतिर्नाट्य रूप दृश्यतयोच्यते” भा० ना० शा०

“रूपक तद् भवेद् रूप दृश्यत्वात् प्रेक्षकैरिदम्” भा० प्र०

(स) अतएव वामन ने जो “रीति-रात्मा काव्यस्य”

कहा है उसी की सुन्दर टीका हमें रत्नेश्वर के द्वारा भोज देव के सरस्वती-कण्ठाभरण में प्रदत्त इस वामन के सूत्र की जो बड़ा व्याख्या मिलती है वह भी कितनी मार्मिक है :

“यथा चित्रस्य रेखा भवप्रत्यङ्गलावण्योन्मीलनक्षमा, तथा रीतिरिति  
द्वितीये विस्तरः”

भाट्टोक्त के निम्न अभिनवगुण ने भी अपनी अभिनव-भारती में वामन के इस नाट्य एवं चित्र के सन्दर्भ को भी समर्थित किया है, जो वही पर पठितव्य है।

(II) राजशेखर की अपने दास-भारत (प्रचण्ड-माण्डव) में प्रदत्त निम्न सक्ति को पढ़िये और समझने की कोशिश कीजिये—

“किञ्च स्तोकतमः कलापकलनश्यामायमान मनाव्  
धूमश्यामपुराणचित्ररचनारूप धगज्जामते”

(III) राजानव कुन्तक के वक्रोक्ति-जीवितम् के निम्न श्लोक

मशनोफलवोत्सेवर्णच्छायाधियः पृथक् ।

चित्रस्येव मनोहारि कर्तुः किमपि वोशलम् ॥

इन दोनों सन्दर्भों से चित्र-विद्या एवं काव्य-शास्त्र का कितना सुन्दर अ.योग्याभ्रयिभाव प्रत्यक्ष है । राजनक-कुन्तक यहा दो भूमि-बन्धनो (कुड्य एवं पट्ट) की ओर सकेत ही नहीं करते, वरन् रेखा-कर्म के सिद्धान्तो—जैसे प्रमाण (anatomical), वृणं, क्षाया-कान्ति आदि पर भी प्रकाश डालते हैं ।

चित्र एवं रस :—चित्र-कला मे रसो एवं रस-दृष्टियो के अन्तर्गत महत्त्व-पूर्ण स्थान का हम पहिले इस स्तम्भ मे विचार कर चुके हैं । यही तो हमे सस्कृत के काव्याचार्यों को लेना था, अतः निम्नलिखित दोनों उद्धरणों को पढ़िये । एक चित्र-शास्त्री अभिसापितार्थ-चिन्तामणि के लेखक, महाराज सोमेश्वरदेव का तथा सस्कृत काव्य-शास्त्री चन्द्रालोक के सम्प्रतिष्ठ लेखक जयदेव का—

शृंगारादिरसो यत्र दर्शनादेव गम्यते ।

भावचित्र तदाख्यातं चित्रकौतुककारकम् ॥ अभि० चि०

काव्ये नाट्ये च कार्ये च विभावाद्यैर्विभावितः ।

आस्वाद्यमानैकतनु रसायी भावो रस स्मृतः ॥—चन्द्रा०

अतः यह पूर्ण प्रकट है जब चित्र नाट्य पर आश्रित है और नाट्य रसास्वाद अथवा रसाभिव्यक्ति पर ही आश्रित है, तो उसी प्रकार काव्य भी तो रस-सिद्धान्त चित्र-कला का भी तत्सम सिद्धान्त है । आइये सर्वोपर कोटि पर—

चित्र एवं ध्वनि :—पीछे के स्तम्भ में प्रतीकात्मक अवलम्बनों (Convention in depicting pictures) पर हम काफी कह चुके हैं, अतः जिस प्रकार व्यञ्जना (Suggestion) उत्तम काव्य की मूल मिति है, उसी प्रकार आकाश, पृथ्वी, पर्वत, जलधारी, मार्ग आदि कैसे बिना प्रतीकात्मक अवलम्बनों (Suggestions or symbols) के चित्र्य हो सकते हैं । आधुनिक काव्य एवं कला के समीक्षक ललित-कला मे मुद्रा-सिद्धान्त (Symbolism in Art) को प्राण माना है तो प्राचीन आचार्यों ने पहले ही यह परम्परा प्रारम्भ कर दी थी । नाट्य, प्रतिभा एवं चित्र मे बिना मुद्रा ये सब निष्पन्न हैं; अतः जो मुद्रा है वही व्यञ्जना है । रसाध्वनि स्वयन्द्वाध्यत्व से हमेशा दूर रहते हैं; तभी काव्य मे जसम काव्यता प्राप्त हो सकती है । उसी प्रकार चित्र भी काव्य एवं नाट्य के

समान तभी ललित कला हो सकती है, जब व्यंजना या प्रतीकात्मक भवत्वम्बन (Suggestion or symbol) उसमें पूर्ण प्रतिष्ठित हो ।

## चित्र-शैलियाँ

(पत्र एवं कण्टक के आधार पर)

जहाँ तक चित्र-शैलियों की बात है स्थापत्य की ही शैलियों में इनको गतार्थ किया जा सकता है । जब तक किसी ने भारत-भांगसी Indology में चित्रों के सम्बन्ध में शैलियों का उपलोकन नहीं किया है । अनेक वास्तु-ग्रन्थों के अध्ययन के उपरान्त जब हम अपराजित-पृच्छा पर आए, तो इस ग्रन्थ के २७७-२२६ सूत्रों में बड़ी ही मार्मिक एवं नवीन उद्भावना प्राप्त की है ।

चित्र-पत्रः—अपराजित पृच्छा में जिस प्रकार रेखा-कर्म, वर्ण-विन्यास, मान-प्रमाण चित्र व लिए अनिवार्य ग्रह हैं, उसी प्रकार पत्र-विन्यास तथा कण्टक स्फूर्ति भी एक प्रकार से चित्र की प्रोज्ज्वलता लाने के लिए एवं छाया और कान्ति के लिए तथा प्रदीप्ति के लिए आवश्यक माने गए हैं । मेरी दृष्टि में इन पत्रों और कण्टकों का सम्बन्ध चित्रकला में प्राकृतिक पृष्ठ-भूमि (Natural Background) से सम्बन्ध रखता है । दूसरी उद्भावना यह है कि ये पत्र और कण्टक चित्र-विशेष केन्द्रों के सम्भवतः विशेष वैशिष्ट्य हैं । अनेक पत्रों और कण्टकों की निम्न तातिका में जो इनकी शैलियाँ और विधा में सम्बन्ध है, इन वास्तु-ग्रन्थों में शैली का कहीं भी कीर्तन नहीं । जातियाँ ही बड़ा प्रतिपादित की गई हैं । इस लिए शैलियाँ और जातियाँ एक ही चीज हैं । इन पत्र-जातियों के सम्बन्ध में अपराजित-पृच्छा में एक बड़ा ही मनोरञ्जक और पौराणिक आख्यान है कि इन पत्रों और कण्टकों का किस प्रकार से प्रादुर्भाव हुआ :—

“समुद्र-मथन में जब नाना रत्न निकले तो सुरतरु-कल्प-वृक्ष भी निकला, जिसमें नाना प्रकार के पुष्प-पत्र लदे थे । जो पत्रादि पूर्व में थे उसकी सजा नागर हुई, जो दक्षिण में थे उनकी सजा द्राविड हुई और जो उत्तर में थे वे वेसर हुए । पुनः इन पत्रों को ऋतु से सम्बद्ध कर दिया अर्थात् बसन्त में नागर, ग्रीष्म में द्राविड तथा शरद् में वेसर । इन्हीं पत्रों की जातियों को एक दूसरे से वैभिन्न्य प्रदान करने के लिए (To distinguish) इन पत्रों के जो कण्टक थे वे ही इनके घटक हुए ।

अस्तु, इस उद्घोषा के बाद पहले हम पत्र-जातिका पर आए :—

### षड्विधा

- |            |          |                                       |
|------------|----------|---------------------------------------|
| १. नागर    | ४. बेसर  | टि० इन पत्रों को हम ग्रन्थ में नाना   |
| २. द्राविड | ५. कलिग  | पत्रों में विभाजित किया है जिनकी      |
| ३. व्यन्तर | ६. यामुन | संख्या मर्यातीत है, जैसे दिन-पत्र,    |
|            |          | शुक्र-पत्र, भेष-पत्र, रक्त-पत्र आदि । |

### अष्टविधा

चित्र-पत्र-कण्ठक इन्—कण्ठको की अष्ट-विधा है :—

- |               |               |
|---------------|---------------|
| १. कलि        | ५. व्यावर्त   |
| २. कलिका      | ६. व्यावृत्त  |
| ३. व्यामिश्र  | ७. सुभग       |
| ४. चित्र-कोशल | ८. भंग-चित्रक |

अपराजित-पृच्छा के निम्नोद्घरण से इन की आकृति भी विभाज्य है—  
 अर्थात् कलि अगस्त्यपुष्पकाकार, कलिक बराहदंष्ट्राकृति, व्यामिश्र बद्धपुष्पाङ्ग-  
 वाकार, मध्यकेशराकार, वाशल उकारसदृशाकार, व्यावृत्त व्याघ्रनगा-  
 कार, सुभङ्ग कृतिवाकृति एवं भङ्ग बदरीफलाकार । जहां तक शैल्पनुरूप  
 अर्थात् जातिपुष्कर इन कण्ठको की विचित्रता है वह इस तालिका से निभात्म्य  
 है —

नागर	व्याघ्रनगाकार
द्राविड	बदरी-बंतकी-आकार
बेसर	अगस्त्य पुष्पकाकार
कालिङ्ग	उकाराकार
यामुन	मध्यकेशरकृति
व्यन्तर	बराहदंष्ट्राकृति—

पत्र एव कण्ठको का चित्र-श्रोतलास महाकवि बाण-भट्ट के कान्यो दे०  
 हर्षचरित का निम्न प्रवचन जो इस चित्र-कोशल का पूर्वं प्रतिबिम्बन करता है,—

बहुविधवर्णदिग्वाङ्मुलीभिर्गोवि, सूत्राणि  
 च चित्रयन्त्रीरिचित्रपत्रमनालेख्यकुसुमाभिः ॥



अन्त में इन शैलियों पर कुछ और भी विवेच्य है । वैसे तो चित्र बसा के तीन प्रमुख युग सम्प्रदायानुसार विभाजित किये गये हैं—हिन्दू चित्र-कला, बौद्ध चित्र-कला, तथा मुगल चित्र-कला । चूँकि हम यहाँ हिन्दू स्यापर्य एव चित्र की शास्त्रीय समीक्षा कर रहे हैं, अतः जहाँ तक हिन्दू युग का सम्बन्ध है उसमें ऐतिहासिक शैलियों का कोई विशेष महत्व नहीं, क्योंकि इस युग की चित्र-कला एक ही आधार पर बनी है जो स्मारक निदर्शन से साक्षात् प्रतीत है ।

तारानाथ ने बौद्ध चित्र-कला पर बड़ी ही मनोरंजक कहानी प्रस्तुत की है । तारानाथ ने बौद्ध-चित्र-कला की तीन शैलियों की उद्भावना की है—

१. देव-शैली २. यक्ष-शैली ३. नाग-शैली ।

देव-शैली—मगध देश (आधुनिक बिहार) की महिमा है, जिसका काल उन्होंने ईसा-पूर्व छठी से लगभग तीसरी शताब्दी तक रखा है । उस समय इस कला का महान् उत्थान बताया गया है जो चित्र महान् आश्चर्य एवं विस्मय के उदाहरण थे ।

यक्ष-शैली—अशोक-कालीन प्रोत्साह है । अशोक के काल में अथर्व तक्षण एव चित्र का महान् विकास हो चुका था । अशोक-स्तम्भ स्मरणीय निदर्शन हैं ।

नाग-शैली—नागार्जुन (बौद्ध भिक्षु एवं महान् बौद्ध दार्शनिक तथा पण्डित) के समय में यह तीसरी शैली ने जन्म लिया । नागों की बला का हम कुछ संकेत कर ही चुके हैं । नाग-जाति बड़ी ही सज्जन-शुश्रूषु थी; अतः चित्र-कौशल में वैसे पीछे रह सकती थी । अमरावती का बौद्ध स्तूप नाग-नक्षत्रों की ही कृति मानी गई है ।

तारानाथ की यह भी प्रतीति है कि इसवीशेत्तर तृतीय शतक से बौद्ध चित्र-कला का ह्रास प्रारम्भ होने लगा था । पुनः बौद्ध चित्र कला जाग उठी । उनका पूर्ण श्रेय महनीय कीर्ति तक्षक एवं चित्रकार विम्बसार को था, जो महाराज बुद्ध-नक्षत्र के राज्य-वाट में उत्पन्न हुए थे । वह मागध थे । उनका समय ५वीं अथवा ६वीं शताब्दी के बीच माना जाता है । उस समय तीन भौगोलिक चित्र-केन्द्र बन रहे थे । मध्य देश, पश्चिम देश, तथा पूर्व । विम्बसार ने इस मध्य प्रदेश की चित्र कला को प्रति प्राचीन देव-चित्र-कला के अवतारण (Renaissance) में परिणत कर दी थी ।

जहाँ तक पश्चिम केन्द्र की बात है, उसे हम राजस्थानी केन्द्र के नाम से संकीर्तित कर सकते हैं। इस केन्द्र का लब्धजीति चित्रकार शरणाधर थे जो मारवाड़ में पैदा हुए थे। उस समय राजा दील राज्य कर रहे थे। सम्भवतः यह राजा उदयपुर के शिलादित्य मुहिन थे, जिनका समय ७वीं ईसवी शती माना जाता है। तारानाथ के मत में ये चित्र-बलाएँ अति प्राचीन मृत् कौशल पर स्थानित थीं।

मगध राज्य पूर्वी स्कूल पर। यह बगाल में विकसित एवं प्रोत्थनमय हुआ था। राजा धनपाल तथा राजा देवपाल बगाल के बड़े कला-संरक्षक नरेश थे। यह समय नवी शताब्दी माना जाता है। इसी प्रदेश में नागों की शैली का पुनरुत्थान हुआ। इसका श्रेय उस केन्द्र के महाकीर्ति-शास्त्री धीमन तथा उनके पुत्र वित्तपाल को था जो दोनों कुशल सभक एवं चित्रकार के साथ साथ धातु-संरक्षण में भी महति प्रवीण थे।

इन प्रमुख चित्र-कन्द्रों एवं तत्सदृशीय शैलिया के अवान्तर केन्द्र एवं भेद भी प्रादुर्भूत हो गये । काश्मीर, नेपाल, चर्मा, दक्षिण के बहुत से नगर इन सभी स्थानों पर उप-केन्द्र विलसित हो गये । इस स्तर में हमें मध्य कालीन चित्र-कला की विशेष अवतारणा आवश्यक नहीं । मध्य-काल की चित्र-शैली को 'कलम' पर आधारित किया गया था । कलम से खेखनी नहीं खुश समझें । देहली कलम आदि से हम परिचित हैं । उसी प्रकार राजपूताने के चित्र-कौशल में जयपुर तथा काणरा ही आते हैं । पुनः अब आइये उत्तराखण्ड की ओर तो हम बहुतों की प्रसिद्धि पाते हैं तथा कुछ नवीन कलमे जैसे खलनधी, दक्षिणी काश्मीरी, ईरानी, पटना आदि आदि ।

अस्तु, थोड़े से विहगावलोकन के उपरान्त अब हम चित्र-कार के चरणों पर पाठकों को नत-मस्तक करने के लिए इच्छुक है, क्योंकि महाराजाधिराज श्रीमेश्वर देव ने चित्रकार को ब्रह्मा के रूप में विभावित किया है।

## चित्रकार एवं उसकी कला

चित्रकार क सम्बन्ध मे कुछ लिखने के प्रथम हमे यहा पर यह भी घोडा इंगित करना आवश्यक है कि भारतीय चित्र-कला तथा पश्चिमीय चित्र-कला मे क्या भन्तर है। सर्व-प्रमुख सिद्धान्त यह है कि इस देश की सभी कलाएँ या संगीत, या नृत्य, या नाट्य, या काव्य—यहा तक कि वास्तु एव शिल्प भी

अन्त में इन शैलियों पर कुछ और भी विवेच्य है । वैसे तो चित्र कला के तीन प्रमुख युग सम्प्रदायानुसार विभाजित किये गये हैं—हिन्दू चित्र-कला, बौद्ध चित्र-कला, तथा मुगल चित्र-कला । चूँकि हम यहाँ हिन्दू स्थापत्य एवं चित्र की शास्त्रीय समीक्षा कर रहे हैं, अतः जहाँ तक हिन्दू युग का सम्बन्ध है उसमें ऐतिहासिक शैलियों का कोई विशेष महत्व नहीं, क्योंकि इस युग की चित्र-कला एक ही आधार पर खड़ी है जो स्मारक निदर्शन से साक्षात् प्रतीत है ।

तारानाय ने बौद्ध चित्र-कला पर बड़ी ही मनोरंजक कहानी प्रस्तुत की है । तारानाय ने बौद्ध-चित्र-कला की तीन शैलियों की उद्भावना की है—

१ देव-शैली २ यक्ष-शैली ३ नाग-शैली ।

देव-शैली—मगध देश (आधुनिक बिहार) की महिमा है, जिसका काल उन्होंने ईसा-पूर्व छठे से लगाकर तीसरी शताब्दी तक रखा है । उस समय इस कला का महान् उत्थान बताया गया है जो चित्र महान् आश्चर्य एवं विस्मय के उदाहरण थे ।

यक्ष-शैली—अशोक-कालीन प्रोत्साहक है । अशोक के काल में अदृश्य तक्षण एवं चित्र का महान् विवास हो चुका था । अशोक-स्तम्भ स्मरणीय निदर्शन हैं ।

नागर-शैली—नागार्जुन (बौद्ध भिक्षु एवं महान् बौद्ध दार्शनिक तथा पण्डित) के समय में यह तीसरी शैली ने जन्म लिया । नागों की कला का हम कुछ संकेत कर ही चुके हैं । नाग-जाति बड़ी ही तक्षण-कुशल थी; अतः चित्र-कौशल में कैसे पीछे रह सकती थी । अमरावती का बौद्ध स्तूप नाग-तक्षकों की ही कृति मानी गई है ।

तारानाय की यह भी सलोचना है कि ईसवीशेस्तर तृतीय शतक से बौद्ध चित्र-कला का ह्रास प्रारम्भ होने लगा था । पुनः बौद्ध चित्र कला जाग उठी । उनका पूर्ण श्रेय महनीय कीर्ति तक्षक एवं चित्रकार विम्बसार को था, जो महाराज बुद्ध-पक्ष के राज्य-काल में उत्पन्न हुए थे । वह मागध थे । उनका समय ५वीं अथवा ६वीं शताब्दी के बीच माना जाता है । उस समय तीन भौगोलिक चित्र-केन्द्र पनप रहे थे । मध्य देश, पश्चिम देश, तथा पूर्व । विम्बसार ने इस मध्य प्रदेश की चित्र कला को अति प्राचीन देव-चित्र-कला के अवतारण (Renaissance) में परिणत कर दी थी ।

जहाँ तक पश्चिम केन्द्र की बात है, उसे हम राज-स्थानी केन्द्र के नाम से संकीर्तित कर सकते हैं। इस केन्द्र का नव्योद्गीर्ण चित्रकार शरणाधर थे जो मारवाड़ में पैदा हुए थे। उस समय राजा भीम राज्य कर रहे थे। सम्भवतः यह राजा उदयपुर के सिमादित्य गुहिन थे, जिनका समय ७वीं ईसवी शताब्दी माना जाता है। तारानाथ के मत में ये चित्र-नक्शाएं अति प्राचीन यज्ञ कौशल पर प्रामाणिक थीं।

अब आइए पूर्वी स्कूल पर,। यह बंगाल में विकसित एवं प्रोत्साहित हुआ था। राजा घनपाल तथा राजा देवपाल बंगाल के बड़े कला-संरक्षक नरेश थे। यह समय नवी सताब्दी माना जाता है। इसी प्रदेश में नागों की शैली का पुनरुत्थान हुआ। इसका योग्य उस केन्द्र के महाकवि-ज्ञानी घीमन तथा उनके पुत्र बिलपल की था जो दोनों कुशल तक्षक एवं चित्रकार के साथ साथ धातु-संयुक्त में भी अति प्रवीण थे।

इन प्रमुख चित्र-केन्द्रों एवं उत्तरीय शैलियों के प्रभावान्तर केन्द्र एवं प्रेरण भी प्रादुर्भूत हो गयी। काश्मीर, नेपाल, बर्मा, दक्षिण के बहुत से नगर इन सभी स्थानों पर उप-केन्द्र विलसित हो गये। इस स्तर में हमें मध्य कालीन चित्र-कला की विशेष अवतारणा आवश्यक नहीं। मध्य-काल की चित्र शैली को 'कलम' पर आधारित किया गया था। कलम से लेखनी नहीं ब्रूषण समझें। देहली कलम आदि से हम परिचित हैं। उसी प्रकार राजपूताने के चित्र-कौशल में जयपुर तथा कागरा ही आते हैं। पुनः अब आइये उत्तरांचल की ओर तो हम बहुतेरी प्रसिद्धि पाते हैं तथा कुछ नवीन कलम जैसे सखनवी, दक्षिणी, काश्मीरी, ईरानी, पटना आदि आदि।

अस्तु, थोड़े से विहंगावलोकन के उपरान्त अब हम चित्र-कार की शरणों पर पाठकों को नमस्तक करने के लिए इच्छुक हैं, क्योंकि महाराजाधिराज श्रीमहेश्वर देव ने चित्रकार को ब्रह्मा के रूप में विभावित किया है।

### चित्रकार एवं उसकी कला

चित्रकार का सम्बन्ध में कुछ सिखने के प्रथम हमें यहां पर यह भी थोड़ा इंगित करना आवश्यक है कि भारतीय चित्र-कला तथा पश्चिमीय चित्र-कला में क्या भिन्नता है। सर्व-प्रमुख सिद्धांत यह है कि इस देश की सभी कलाएं वास्तविक, यथा नृत्य, यथा नाट्य, यथा काव्य—यहां तक कि वास्तु एवं चित्र भी

**चित्रकार**—श्रव आहिये चित्रकार की श्रौर । हम इस स्तम्भ मे पहले ही कह चुके हैं । महाराज सोमेश्वर देव जो लव्य प्रतिष्ठ एक स्वयं चित्रकार भी थे, तथा इस प्रसिद्ध ग्रंथ मानसोल्लास (अथवा अभिलपितार्थ-चिन्तामणि) के लेखक भी थे, व चित्रकार के सम्बन्ध मे लिखते हैं —

प्रगल्भे भाविने स्तब्धं सुसम्प्रेक्षाविद्यारदे ।

विधिनिर्माणकुशलं पत्र-लेखन-कोविदे ॥

वगुणपूरणदक्षद्वय वीरणा च कृत्स्नम् ।

चित्रकैलेखयेच्चित्र नानारससमुद्भवम् ॥

स सू. का भी प्रवचन पढ़े —

बुध्यन्ते केऽपि शास्त्रार्थं केचित् कर्माणि कुर्वन्ते ।

वगमलकथं (स्थास्थ पर ?) द्वयमप्यथ ॥

न वत्ति शास्त्रवित् कर्म न शास्त्रमपि कर्मवित् ।

यो वत्ति द्वयमप्येनत् स हि चित्रकरो वर ॥

प्राचीन भारत के छोटे से ही चित्रकारों के सम्बन्ध मे कुछ साहित्यिक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं । पुराणों एवं ऐतिहासिक ग्रन्थों जैसे महाभारत मे भारत का प्रथम चित्रकार एक नारी थी—चित्रनेत्रा । उसका वृत्तान्त प्राय सभी को विदित है । बात यह है कि भारतीय चित्रकला अनभिषय कला (Anonymous art) है । भारत के चित्रकार के विषय मे एक प्रकार से विलुप्त ही पज्ञात है । पश्चिम के चित्र-कलाकारों के पूर्ण वृत्तान्त ज्ञात हैं । मुगलों, राजपूतानी तथा अन्य प्रदेशों के चित्र ही चित्रकार के वृत्तान्त—जीवन साधना एवं कला—के मूलक इतिहास हैं । हा बौद्धों की चित्र-कला से यह अनुमान अवश्य लगा सकते हैं कि भिक्षु ही चित्रकार था । तिब्बती चित्रों को देखिय व सब सधारामों, चेत्यों एवं बिहारों की कृतिया हैं । वही सत्य अजन्ता आदि प्राचीन बौद्ध पीठों की कथा है । जिस प्रकार भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के लिए बौद्ध धर्म की नियमावली मे जो दिनचर्यायें कल्पित थी वही चित्र-पटों, चित्र-पट्टों के कल्पन, सेवन एवं जानाजान तथा उपदेश वितरण के लिए भी अनिवार्य चर्या थी । राजस्थान मे जिस प्रकार ग्रामे ग्रामे, नाना कलाकार—ततुवाड, धातु-कार, कुम्भ-कार, प्रतिमा-कार थे उसी प्रकार उन्हीं श्रेणियों मे सबत्र चित्रकार भी अपनी आराधना, अध्यवय व्यवसाय से जीविकाप्राप्त एवं जीवन-यापन करते थे । मुगल चित्र-कार वास्तव मे राज दरबार वा दरबारी चित्रकार होता था ।

जिस प्रकार गुप्त-काल में तथा पाराधिप भोज-देव के दरबार में कवियों की श्रेणियाँ रत्नों के रूप में विभाष्य थी, उसी प्रकार चित्रकार भी रत्न कहे जाते हैं। विक्रमादित्य के नौ रत्नों की गाथा एवं श्रुति से हम परिचित ही हैं—उसी प्रकार उत्तर मध्यकाल में यह मुगल-बालीन परम्परा अक्षय में भी प्रवर्धित हो गई।

# चित्र-कला के पुरातत्त्ववीय एवं ऐतिहासिक निदर्शनो' पर एक विहंगम दृष्टि

यद्यपि संस्मरण-सूत्रधार का यह अध्ययन शास्त्रीय है तथापि जैसा कि समाज में और शिष्ट-मण्डली एवं पण्डित-मण्डली में यह उक्ति थी कि 'साहित्य समाज का दर्पण है' अतः कोई भी शास्त्र यदि समाज का दर्पण न भी हो तो वह समाज के लिए निश्चय ही आदर्श, प्रेरणाएँ और पारिभाषिक शास्त्र एवं विज्ञान अवश्य प्रस्तुत करता है। हमारे देश में किस प्रकार से सम्पूर्ण जीवन-चर्या नियत-वद्ध थापन करनी चाहिए उसी के लिए तो प्रभु-सम्मिलित वैदिक आदेश मिले (छोड़नामूलों धर्मः) — बौद्ध-प्रणाली उसी प्रकार हमारे मनु आदि धर्माचार्यों ने धर्मशास्त्र बनाये। इतिहास और पुराणों ने सुहृद्-सम्मिलित उपदेश के द्वारा यही कार्य सम्पादन किया और काव्य-नाटक भी पीछे नहीं रहे। उन्होंने भी कान्तासम्मिलित उपदेश एवं ज्ञान की ही ध्यान में रखकर आदि कवि बाल्मीकि एवं व्यास ऐसे तथा महाकवि कालिदास बाणा, भवभूति, श्री हर्ष आदि भी बहुत सी कलाओं, सामाजिक मान्यताओं एवं धार्मिक उपचेतनाओं अर्थात् समस्त सांस्कृतिक मूलधारों एवं रुढ़ियों को प्रक्षय देने में पीछे नहीं रहे। अस्तु, यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो कला भी समाज का प्रतिबिम्ब है अतः हम इस अध्ययन में पुरातत्त्ववीय चित्र-निदर्शनो को छोड़ना उचित नहीं समझते। पुनश्च उपर्युक्त महाकवियों की धार्मिक उक्तियाँ, जो चित्र से सम्बन्धित हैं, उनका परिशीलन भी इस अध्ययन में उपकारक होगा।

अब प्रश्न यह है कि हम इतिहास की दृष्टि से पहले पुरातत्त्व को लें या साहित्य को लें? वास्तव में कालानुसरूप (Chronological) इन दोनों धाराओं का विवेचन असम्भव है—जहाँ तक परिनिष्ठित कला का प्रश्न है, क्योंकि कोई भी परिनिष्ठित कला बिना शास्त्र के नहीं भी विकसित नहीं की जा सकती। पाषाण एवं धातु इन दोनों युगों में पर्वत की कन्दराओं में कोई न कोई उत्कीर्ण

चित्र अवश्य प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार साहित्यक-नाटकों को देखें तो हमारे इस देश में सुदूर प्रतीत में सम्प्रदाय और संस्कृति का कला-सेवन एक अभिन्न भग था। इस प्रकार पूर्व-ऐतिहासिक, वैदिक तथा शैव बौद्धकाल में—सभी चित्रकला के सेवन में प्रयास उपस्थित करते हैं। महाभारत और पुराणों में उपा और चित्र-लेखा की जो कहानी हम पढ़ते हैं, उस समय चित्र-कला नितनी प्रबल कला थी। यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। ई० पूर्व रचित साहित्यक ग्रन्थ जैसे विनय-पिटक, वात्स्यायन का काम-सूत्र, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, भास के नाटक कालिदास और मण्डवधोप के महाकाव्य—इन सभी ग्रन्थों में चित्र-कला का प्रोत्साहक पद-पद पर दिखाई देता है।

भाज का युग पाण्डव और छपाई का युग है। इस लिए जरा हम सोचें कि उस सुदूर प्रतीत में जनता में उपदेश वितरण करने के लिए, ज्ञानार्जन के साधनों के लिए तथा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में धर्म-वर्षों के उपकरणों के लिए पट-चित्र, पट्ट चित्र, कुड्य-चित्र—तीनों बहुत सुन्दर साधन थे। बौद्धों के अनेक चैत्यो और विहारों (दे० मज्झिमा आदि बुद्ध-पीठ) में कुड्य-चित्रों का निर्माण कोई मनोरंजन-मात्र ही न था। बुद्ध-धर्म की शिक्षा, चर्या एवं दर्शन की प्रत्यभिज्ञा और अभिरूपा के लिए ही इन का उद्देश्य था। बूद्धक के मुद्राराक्षस का यम-पट इसी सध्य का निदर्शन है। प्राचीन काल में धर्म-पुस्तकों एवं उपदेशकों के लिए चित्र ही बड़े साधन थे, जिन से भक्तों एवं शिष्यों को उपदेश देते थे। हमारे देश में ब्राह्मणों का एक सम्प्रदाय था जिसकी सभा 'नख' (नख ब्राह्मण) थी, जो कुडली-चित्रों (portable frame work) की सहायता से ही, वे एक प्रकार से धर्म और धर्म, पाप एवं पुण्य, भोग्य एवं दुर्भाग्य—इन सब का ज्ञान प्रदान करते थे।

हम पहले ही प्रतिपादन कर चुके हैं कि नाट्य और चित्र एक ही हैं तो जब नाट्य एक प्राचीनतम शास्त्र एवं कला थी (नाट्य-वेद) तो फिर चित्र पीछे कैसे रह सकता है। अस्तु, अब कोई भाप-दण्ड हमारे समक्ष नहीं रहा कि पुरातत्व को पहले प्रारम्भ करें या साहित्यक को अतः हम पहले पुरातत्व निदर्शनों को लेते हैं।

**पुरातत्वोप निदर्शन—**ऐतिहासिक दृष्टि से चित्र के पुरातत्वोप स्मारकों को हम दो बानों में विभाजित कर सकते हैं—पूर्व-ईस्वीय तथा उत्तर-ईस्वीय।



पूर्व-ईसवीय को हम दो उप-कालों में विभाजित कर सकते हैं—प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक ।

**प्रागैतिहासिक**—इस काल में जैसा हम ने ऊपर सकेत किया है वे सब पर्वत-कन्दराओं में ही भग्नावशेष हैं । जहाँ तक हमारे देश की इस कला का प्रश्न है, वह निम्नलिखित प्राचीन स्थानों में प्राप्य है:—

(प्र) कामूरपर्वत-श्रेणी—मध्य भारत की इन पर्वत-श्रेणियों में कुछ कन्दराएँ हैं जहाँ पर मृगया-चित्र पाये जाते हैं — पुरातत्त्वान्वेषण की यह विज्ञप्ति है ।

(ब) विन्ध्य-पर्वत-श्रेणी—इन पर्वत-श्रेणियों की गुहाओं में उत्तर-पाषाण-कालीन चित्र-निदर्शन प्राप्त हुए हैं । ये निदर्शन एक विशेष विकास के निदर्शक भी हैं, कि वहाँ पर ऐसा प्रतीत होता है मानो ये Art Studio हैं, जहाँ पर वनों को कूटने छानने एवं विन्यास-प्रदातव्य बनाने के लिए उलूखलादि पात्र पाये गये हैं । पर्सी ब्राउन (दे० उनकी Indian painting) ने इस को Neolithic art studio के रूप में उद्भावित किया है ।

(स) अन्य पर्वत-श्रेणियाँ, विशेषकर माड नदी के पूर्वीय क्षेत्र की ओर जो रायगढ़ स्टेट (मध्य प्रदेश) में सिंहपुर ग्राम है, वहाँ पर अति प्राचीन चित्र प्राप्त हुए हैं, जिनमें रैखिक विन्यास, रक्ताभ वर्ण-विन्यास भी प्राप्त होता है । इन चित्रों में चित्र मानव एवं पशु दोनों ही के चित्र प्राप्त होते हैं । इन चित्रों को ब्राउन ने Hieroglyphics की श्रेणी में उद्भावित किया है ।

पशुओं में हरिण, गज, स्तरगोश आदि के मृगया-दृश्य बड़े ही मार्मिक चित्र यहाँ प्राप्त होते हैं । महिष-घात-चित्र बड़ा ही भयानक एवं विस्मयकारी है, जहाँ पर भालों से भँसा मारा जा रहा है तथा जब वह मरणासन्न हो रहा है तो शिकारी आनन्दातिरेक से विभोर हो रहे हैं । ब्राउन की समीक्षा में इन चित्रों में haematite brush forms से रेखा-चित्रों एवं वर्ण चित्रों की प्रगति अनुमेय हो रही है ।

(द) मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश) के समीप पर्वत-कन्दराओं के चित्र भी यही मृगया-चित्र-निदर्शन प्रस्तुत करते हैं । यहाँ पर लकड़-वर्षा की मृगया विशेष विस्मयकारी है । अतः इन्हें भी हम Haematite drawing के रूप में ही विभाजित कर सकते हैं । आदि प्रागैतिहासिक निदर्शनों के उपरान्त अब आइये ऐतिहासिक निदर्शनों की ओर ।

**ऐतिहासिक (पूर्व-ईसवीय)**—पुरातत्त्वीय अन्वेषणों से प्राप्त ईसवीय-

पूर्व ऐतिहासिक निदर्शनों से सर्वप्रथम निदर्शन मध्यभारत के सिरगुजा-क्षेत्रीय रायगढ़ पर्वत से स्थित प्रथित-कीर्ति जो जोगीमारा कन्दरा है, उसमें इन कन्दरा की दीवारों पर नाना चित्र प्राप्त होते हैं। प्रागुनिक विद्वानों के मन में ये चित्र ईसवीय-पूर्व प्रथम पातक के कहे गये हैं। यद्यपि ये कुछ-चित्र सहे हो प्रोज्ज्वल एवं प्रचर्च नहीं तथापि ये Freacoes का धीमरोश हो नहीं करते धरन् मेध्य-कर्म-कला (Plastic Art) की भी प्रक्रिया की स्थापना करते हैं। भवनो, ग्रामो, पुरो एवं परानो के चित्रों के साथ साथ विक्षेपकर पशु, मृग जलीय-जन्तु—मकर-मत्स्य सभी प्राकृतिक दृश्य यहाँ चित्रित पाये जाते हैं। मेरी दृष्टि में इस देश की भाद-हवा चित्रों के चित्र-काल-सहृद के लिये अनुकूल नहीं है, अतः इन्हीं ध्येनियों से अन्य स्थान भी हैं, जहाँ कुछ-चित्र काफी विकास को प्राप्त कर चुके थे।

ईसवीयोत्तर—अस्तु इस बिज्जिस्कर पूर्व-ईसवीय प्रार्थतिहासिक एवं ऐतिहासिक दोनों के विहगाधमोकन के बाद अब ईसवीयोत्तर काल की ओर चलते हैं, उन में जेता पहले स्तम्भ में सकत हो चुका है, उसी के अनुरूप इस युग की निम्नलिखित तीन कालों में बाट सकते हैं :-

- १ बौद्ध-काल,
- २ हिन्दू-काल,
३. मुस्लिम-काल।

यहाँ पर बौद्धों को प्रथम तथा हिन्दुओं को द्वितीय स्थान देने का अभिप्राय यह है कि हिन्दू चित्र-कला से राज-पूतों (राजस्थानी तथा पंजाबी पहाड़ी राजपूतों) की कला से तत्पर्य है, जो बौद्धों के बाद विकसित हुई। दूसरी विशेषता यह है कि बौद्ध एवं हिन्दू अर्थात् राजपूती चित्र-कला की पृष्ठ-भूमि धर्म एवं दर्शन था। इन दोनों के अन्तर्गत में रहस्यवाद की छाया सदा दिखाई पड़ती है। जहाँ तक मुस्लिम काल की मुगल चित्र-कला का प्रश्न है, वह पूरी की पूरी धर्म-विरुद्ध (Secular) थी। उस में यथार्थवाद विशेष रूप से दृश्य है।

यद्यपि राज-पूती चित्र-कला को विशेषता अर्थात् धर्माधरता पर हन मनेत कर ही चुके हैं, परन्तु इस कला में बौद्ध चित्र-कला की प्रेरणा यह ओर स्थापक क्षेत्र की ओर बढ़ गयी थी। यह केवल धार्मिक नाटकों, धार्मिकों, उपाध्यायों के ही चित्रण में एकमात्र व्यस्त नहीं थी। इस चित्र-कला में शारीक

- मन्दरा न० २- १. अर्हंत, किन्नर तथा अन्य गण जो बोधि-मत्त्व की पूजा कर रहे हैं;  
 २. बौद्ध भक्त-गण;  
 ३. इन्द्र तथा चार यक्ष;  
 ४. उड्डीयमान चित्र—गोष्पिक एवं भगिक चित्रों के साथ;  
 ५. महिला-श्रवास (Exile);  
 ६. महाहस-जातक;  
 ७. यक्ष एवं यक्षिणिया;  
 ८. बुद्ध-जन्म;  
 ९. पुष्प लिये हुए भक्त;  
 १०. पुष्प लिये हुए भक्त;  
 ११. नाग (मज्जर), हंस तथा अन्य भगवत् चित्र;  
 १२. नाना मुद्राओं में भगवान् बुद्ध;  
 १३. भैरव (बोधिसत्व)  
 १४. भगवान् बुद्ध नाना मुद्राओं में;  
 १५. भगवत् चित्र;  
 १६. भवसोकितेश्वर (बोधिसत्व)  
 १७. पुष्पसहित भक्त-गण;  
 १८. पक्षपाणि भक्त-गण;  
 १९. क्षीरीति तथा पार्विक;  
 २०. विधुर-पण्डित-जातक;  
 २१. पूर्ण-भवदान-कथा—समुद्र-यात्रा;  
 २२. पूर्ण-भवदान-कथा—बुद्ध-पूजा;  
 २३. राज-भवन;  
 २४. राज-भवन-महिला क्रुद्ध राजा के चरणों पर;  
 २५. बोधिसत्व—उपदेशक-रूप;  
 २६. भिक्षु-चित्र;  
 २७. नाग, गण तथा अन्य दिव्य-चित्र ।

मन्दरा न० ३- १. बुद्ध का प्रथम-उपदेश (First Sermon);

२. शैव-पाश तथा महिला भक्ता;

३. बुद्धाकर्षण ;
४. एक मिथु ;
५. द्वारपाल एवं नारी-प्रतिहारिण्या,
६. श्रावस्ती का भास्वर्य ।

कन्दरा नं० ७—१. बुद्धोपदेश;

२. बुद्ध-जन्म;

कन्दरा नं० ८—१. नागराज—सगण-सेवक;

२. स्तूप की ओर जाते हुये चक्र;

३. चैत्य एवं विहार;

४. बुद्ध जीवन के दो दृश्य;

५. पशु-चित्र;

६. नाना मुद्रामो में भगवान् बुद्ध;

कन्दरा नं० १०—१ राजा का बोधि-वृक्ष-पूजार्थं भाषमन;

२. राज-जलूष;

३. राज-जलूष;

४. दयाम-जातक-यद्दन्त—हस्ति-कथा,

५. छहदन्त-जातक—यद्दन्त-हस्ति-कथा ।

६. बुद्ध-चित्र;

कन्दरा नं० ११— १. मोक्ष-सत्त्व—पद्मपाणि;

२. बुद्ध तथा भवसोकितेश्वर;

कन्दरा नं० १६— १. तुषिता स्वयं के चित्र—बुद्ध-जीवन;

२. सुत-सोम-जातक—सुदास-सिंहनी-प्रस-यथा,

३. चैत्य-मन्दिर के सम्मुख चैत्य-गण;

४. महा-उम्भम-जातक;

५. भरखासन्ना राज-कुमारी (परित्यक्ता नन्द-पत्नी);

६. नन्द का धर्म-परिवर्तन;

७. मानुष बुद्ध;

८. अप्सरायें तथा बुद्ध का उपदेशक-रूप;
९. बुद्ध-उपदेश-मुद्रा;
१०. हस्ति-जलूस;
११. संघोपदेश—बुद्ध,
११. बुद्ध-जीवन-चरित-दृश्य—मगध के राजा का भागमन,  
बुद्ध का राजगृह में अमण;
१३. बुद्ध-तपस्या—प्रथम ध्यान तथा चार मुद्रायें,
१४. राज-भवन;
१५. Conception;
१६. बुद्ध का शंखाव,

- कन्दरा १० १७—
१. राजा का दान-वितरण,
  २. राज-भवन,
  ३. इन्द्र तथा अप्सरायें;
  ४. मानुष बुद्ध तथा यक्ष एवं यक्षिणिया,
  ५. बुद्ध की पूजा करती हुई अप्सरायें तथा गन्धर्व,
  ६. क्रुद्ध नीलगिरि हस्ति-राज का दृश्य;
  ७. बोधिसत्व अवलोकितेश्वर तथा भिक्षु-भिक्षुणी-बृन्द;
  ८. हस्तिनी के साथ यक्ष,
  ९. राजसी मृगया;
  १०. ससार-चक्र,
  ११. माता एवं शिशु—भगवान् बुद्ध एवं अन्य बौद्ध देवों के  
निकट;
  १२. प्रथम धर्म-चक्र;
  १३. भग-चित्र;
  १४. महाकपि-जातक;
  १५. हस्ति-जातक,
  १६. राज-शङ्ख-प्रदान;
  १७. दरबारी दृश्य;
  १८. हंस-जातक;
  १९. छादूत, अप्सरायें तथा बुद्धोपदेश,

२०. विश्वन्तर-जातक—दानो राजकुमार;
२१. यक्ष, यक्षिणी एवं अम्बरार्य;
२२. महाकवि जातक (२)
२३. सूत-सौम-जातक;
२४. तुषिता मे बुद्धोपदेश—दो और हथ;
२५. बुद्ध के निवट मा और बच्चा;
२६. श्रावस्ती का महान् शास्त्र;
२७. अरम-जातक
२८. मातृ-पौत्र-जातक,
२९. मत्स्य-जातक;
३०. साम (श्याम)-जातक;
३१. महिष-जातक;
३२. एक यदा—राज-परिषद-रूप;
३३. सिंहम अश्वदान;
३४. स्नान-चित्र;
३५. निमि-जातक;
३६. मृग-जातक;
३७. भालू-जातक;
३८. अम्बोध-मृग-जातक;
३९. दो कामल—बाघ-मन्त्रों के सहित,
४०. अथ-चित्र ।

अन्तरा नं० २१— १. अमल-येति तथा अन्य पुष्प-विधित्तिया ।

अन्तरा नं० २२— १. अथ को उपदेश करते हुए भगवान् बुद्ध ।

संरक्षण—इस कालिका के उपरान्त किस राज्य-काल में, किन कलाधायों के सरक्षण में इन चित्रों का निर्माण हुआ यह भी विचारणीय है । ताराणाथ की एतद्विषयणी उद्घाटना का हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, तथापि यह पुनरावृत्ति उचित है । जहाँ तक उत्तम बुद्ध-चित्रों की रचना का सम्बन्ध है, वह देशों के द्वारा बताई जाती है । पुनः यह चित्रण यज्ञी (गुरुजनों) के द्वारा द्वाये धतता रहा, जो अमोह-काल (ई० पूर्वं २५०) की याया है । तीसरी परम्परा नामों के

द्वारा सम्बद्धित हुई, जो नामाजुन (ई० २००) के आधिपत्य में बताई जाती है। लगभग ३०० वर्षों में यह लड़ी टूट गई। फिर बुद्ध-युग (५वीं तथा ६ठी शताब्दी) के काल में विम्बसार नाम चित्राचार्य के द्वारा ये चित्र पुनः उमी देव-परम्परा में रचे जाने लगे।

अब आइये ऐतिहासिक समीक्षा की ओर। जहाँ तक नवी तथा दसवीं कन्दरा के चित्रों का प्रश्न है, वह द्राविड नरेशों (आद्य राजाओं) के काल का विकास है। इसे हम ई० पू० २७ से लगाकर २३६ ई० का काल मान सकते हैं। यह भजन्ता चित्रों का प्रथम वर्ग है।

दूसरा वर्ग (दे० गुहा न० १६-१७) गुप्त-काल (३२० ई०) का प्रतिनिधित्व करता है। मेरी दृष्टि में यह कला गुप्तों की अपेक्षा वाकाटकों की विशेष देन है।

तीसरे वर्ग में जहाँ हम राजा पुलकेशिन द्वितीय को एक पश्चिम दूत से मिलते हुए पा रहे हैं, उससे यह वर्ग ६२६-६२८ ई० के समय का संकेत करता है। अब आइये द्रव्य एवं क्रिया की ओर।

**चित्र-द्रव्य एवं चित्र-प्रक्रिया**—जहाँ लेव्य एवं प्लास्टर आदि प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वे यथा-प्रतिपादित शास्त्रीय विश्लेषणों के ही निदर्शन हैं। जहाँ तक इन कुड्य-चित्रों की व्यापक समीक्षा का प्रश्न है, उसमें भारतीय एवं योरोपीय-ऐशियाई दोनों पद्धतियों की तुलनात्मक समीक्षा आवश्यक है। यहाँ पर हम इतना ही संकेत कर सकते हैं कि ये कुड्य-चित्र भारतीय शास्त्रीय प्रक्रिया के पूर्ण प्रतिबिम्ब हैं। प्रत्येक वर्ग के चित्रों के लिये जैसा भूमि-बन्धन हमारे शास्त्रों में प्रतिपादित है वही यहाँ पर भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। चूँकि आधुनिक कला-समीक्षक हमारे शास्त्रीय विवरणों (चित्र-वृत्तणों) से सर्वथा अपरिचित थे, अतः उनके मस्तिष्क में योरोप-ऐशिया के प्रसिद्ध चित्र-मीठों पर प्रसृत ऐसे निदर्शनों के कारण उन के लिये सकट उपस्थित हो गया, अतः उन्हें इस तुलनात्मक समीक्षा की ओर जाना पड़ा और अन्त में उन्हें झक झक मार कर भारतीय पद्धति के निष्कर्षों पर पहुँचना पड़ा। इस तुलनात्मक समीक्षा में पहली द्राउन ने विशेष विवरण दिये हैं। वे उन्हीं के ग्रन्थ में एवं मेरे Hindu Canons of Painting or Citra-Laksanam and Royal Arts—Yantras and

Chitra में द्रष्टव्य है।

**वर्ण-विन्यास एवं तूलिका-चित्रण**—ये सब अपने ही शास्त्रों के प्रतीक हैं। विशेष विवरण यथा-निर्दिष्ट ग्रन्थों में देखिये। अब आइये अन्त में मेरी समीक्षा की ओर।

**शास्त्र एवं कला**—अजन्ता के चित्रों की सर्व-प्रमुख विशेषता रेखा-कर्म है। विष्णुधर्मोत्तर के निम्न प्रवचन का हम सकें कर ही चुके हैं:—

रेखा प्रसस्तस्याचार्या वर्तना च विवक्षणा।

स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जनाः॥

अतः अजन्ता के चित्रों में रेखा-कर्म परम प्रकर्ष का प्रत्यक्ष प्रमाण है। अजन्ता की चित्र-तालिका में प्राप्त विषयों को लेकर इस महान् प्रख्यात पीठ पर जाइये और देखिये—महाहस-जातक-चित्र एवं उसी चरित्र में बोधिसत्व-प्रवलाकितेक्षर अथवा बुद्ध का वर, ग्य (The Great Renunciation) जिस में सर्वाधिक वंशिष्ट्य रेखा-कर्म है तथा वहा रूप-चित्रण (Modeling of Form) भी हमारे चित्र-शास्त्र के सर्व-प्रमुख क्षय-वृद्धि चित्र-सिद्धान्त का पूर्ण प्रतिबिम्बन कर रहा है।

वर्ण-विन्यास भी हमारे शास्त्रीय पद्धति का अवलम्बन है। महा-हस-जातक-चित्र में जो वर्ण-विन्यास विशेषकर नीली का विन्यास किया गया है, वह राजावताभिषेक वर्ण का प्रतीक है। राजावन्त-राजावर्त-सजावर साजवर्दी के सम्बन्ध में हम अपने पूर्व स्तम्भ में पहले ही समीक्षा कर चुके हैं। जहा तक अन्य शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुगमन का प्रश्न है वहा प्रतिमा एवं चित्र दोनों के सामान्य भग जैसे मुद्रायें वे भी इन चित्रों में पूर्ण रूप से विभाव्य हैं। गुहा न० १ के राज-भवन-चित्र में जो मुद्रा-विनियोग प्राप्त होता है, वह बड़ा आकर्षक है। इसी प्रकार अन्य चित्रों में भी नाट्य, नृत्य, एवं संगीत मुद्राओं का भी बहुत विनियोग प्राप्त होता है। अस्तु, अजन्ता चित्रों के इस स्थूल समीक्षण के उपरान्त अब आइये दूसरे चित्र-पीठ की ओर।

**सिंहल-द्वीप-सिगरिया**—इस पीठ के चित्रों की सर्व-प्रमुख विशेषता है कर्म-प्रेरणा का अभाव। इन चित्रों में लगभग बीस नायिका-चित्र हैं। ये चित्र



सिंह-द्वीप के राजा काश्यप (४७६-४६७ ई०) के समय में चित्रित किये गये थे। मेरी धारणा है कि ये रानियों के चित्र हैं। जहाँ तक चित्रण-प्रकर्ष एवं प्रक्रिया की बात है वे सभी शास्त्रानुरूप हैं। इन में सर्वाधिक वैशिष्ट्य सौन्दर्य है। इन चित्रों में तक्षण एवं चित्र-कौशल दोनों प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं। वृक्ष और छेनी दोनों की कला के ये मिश्रण हैं।

**बाद्य—**वैसे तो भजन्ता से सीधी दिशा में लगभग १५० मील की दूरी पर यह चित्र-पीठ स्थित है, परन्तु नर्मदा दोनों के बीच बहती हुई इनको पृथक् भी कर रही है। अतः इन दोनों के सरक्षण की पृथक्ता भी सुतरा प्रकट एवं समर्थित है। इस पीठ पर न तो कोई शिला-लेख प्राप्त है, न कोई ऐतिहासिक सूचना। इस पहाड़ी के एक विशाल हान में नाना चित्रों का चित्रण हुआ था। यह सम्रा-वैश्व लगभग ६० फुट चौकोर है। इस के स्तम्भ, कुड्य अर्थात् भित्तियाँ सभी चित्रों में चित्रित थे, परन्तु बहन से चित्र नष्ट हो गये हैं। इन चित्रों में भजन्ता और सितारिया दोनों का मिश्रण प्राप्त होता है—एक ओर कुछ बौद्ध-धर्म-प्रतीक चित्र, दूसरी ओर धर्म निरपेक्ष चित्र। बौद्ध चित्रों में बौद्ध-धर्म के इस देश में ह्रास कालीन अवस्था के चित्रण हैं। एक सगीत-नाटक (हल्लिमक) पूर्ण तत्कालीन स्वातन्त्र्य एवं स्वाध्व्य का निदर्शन है। अब चले हिन्दू काल की ओर, जहाँ महाकाल तथा श्री सत् प्रकाल के भी दर्शन हो सकते हैं, क्योंकि जैसा हम पहले सकेत कर चुके हैं कि हिन्दू चित्र-कला से तात्पर्य राज-पूत-कला का अर्थ है। और यह राजपूतानी कला न केवल राज-स्थान की देन है बल्कि पंजाब (देसिये कागड़ा) की भी प्रमुख देन है।

**हिन्दू-काल (७००-१६००)—**इस काल में नाना सम्प्रदायों एवं पन्थों के निदर्शन मिलते हैं। ये चित्र ताल-पत्र की प्रथम विशेषता हैं। इस का प्रारम्भ बगाल से हुआ, जो १२वीं शताब्दी के निदर्शन हैं। पुनः १५वीं शताब्दी में जैन-ग्रन्थ-चित्रण (Book Illustration) काफी प्रसिद्ध एवं सिद्ध-हस्त चित्रकार भी थे। जहाँ तक आङ्गण-चित्रों की बात है वह १२वीं शताब्दी में एलोरा के गुहा-मन्दिरों से प्रारम्भ हुई। इसी प्रकार और बहुत से इस काल में यत्र-तत्र-सर्वत्र चित्र प्राप्त हुए हैं, भी पूर्व-मध्य-काल एवं मध्य-काल की स्मृतियाँ हैं। राजपूती चित्र-कला तो उत्तर-मध्यकाल की कृति है। अब हम इस साधारण प्रस्तावना के उपरान्त वैयक्तिक निदर्शन प्रस्तुत कर रहे हैं।

जैन-चित्र—ताल पत्र पर हस्तलिखित निक्षीप गुर्णी जो चित्रों से चित्रित है वह जैन-भाण्डागार में प्राप्त है तथा यह कृति ११वीं शताब्दी में सिद्धराज जयसिंह के राजत्व-काल में सम्पन्न हुई। यह ताल पत्र चित्रण ११वीं से लेकर १४वीं तक चलता रहा। इन में अग-सूत्र, त्रिपष्टि-शलाका-पुष्प-चरित, श्री मेमिनाथ-चरित, धावण-प्रतिव्रमण चूर्णी—ये सब ११वीं से १४वीं शताब्दी तक के निदर्शन हैं। भव भाइये (१४००-१५००) जैन चित्रों की ओर। उनमें वल्ल-सूत्र, कालकाचार्य-कथा तथा सिद्ध-हेम—ये सभी चित्रित हस्त-लिखित ग्रन्थ हैं जो पाटन भादि प्रसिद्ध जैन भाण्डागारों में प्राप्त हैं। सभी तक हम ताल-पत्र पर चित्रित इन इलस्ट्रेटेड म्यनुस्क्रिप्ट्स की अवतारणा कर रहे थे। भव भाइये कर्मल-पत्र पर चित्रित हस्त-लिखित ग्रन्थ। १५वीं ई० के उपरान्त कागज का निर्माण प्रारम्भ हुआ तो फिर जैन चित्रों का एक नया युग प्रारम्भ हो गया। इन में कल्प-सूत्र तथा कालकाचार्य-कथा असंख्यो पत्र-चित्रणों के साथ साथ हिन्दू प्रेम-मय गाथा-काव्यों के भी चित्रण प्रारम्भ हो गये, जिनमें वसन्त विलास एवं रति-रहस्य के साथ साथ स्तोत्र एवं स्तुति-परक ग्रन्थ जैसे बालगोपाल-स्तुति तथा दुर्गा-सप्त शती ऐसे प्रसिद्ध पौराणिक ग्रन्थ भी चित्रणों से भर गये। इन सभी चित्रों में रैखिक चित्रों की सुन्दर धामा दर्शनीय है। ये Oblong Frame के निदर्शन हैं। रक्त, स्वर्णम, पीत, श्याम, शुभ्र, नीली, हरित तथा अन्य सभी शुद्ध एवं भिन्न वर्णों का पूर्ण विन्यास दर्शनीय है।

अस्तु, इस पूर्व एवं उत्तर मध्यकाल में यत् तक्षण (मूर्ति-निर्माण) एवं आराधना-आस्तु का चरमोन्नति काल था यत् ये वैद्यारी चित्र-कला एक प्रकार से कुछ धीमी पड़ गयी। तथापि यह कला मरी नहीं। यह कला दीपान्तर भारत एवं सीमावर्ती देशों में एक प्रकार से प्रमाण कर गई। यहाँ पर इस कला के बड़े ही प्रौढ़ निदर्शन प्राप्त होते हैं। पूर्वी तुरकिस्तान (सोटेन) तथा तिब्बत में जो चित्र-कला विवक्षित हुई उस पर अजन्ता की कारीगरी पूर्ण रूप से प्रवि-विम्बित दिखलाई पड़ती है। स्टील और लोह के इन चित्र-अन्वेषणों ने समस्त ससार को मुग्ध कर दिया है कि एशियाई चित्र-कला कितनी प्रबद्ध थी। बुद्ध-चित्रों के अतिरिक्त बुण्डली-चित्र-पट-चित्र एवं पट्ट-चित्र सभी भेद इन चर्चों, मन्दिरों एवं विहारों विशेषकर तिब्बती पीठों में काफी संख्या में प्राप्त होते हैं। भव भाइये राजपूताना चित्रकला की ओर।

**राजपूत चित्र-कला**—राजपूती तथा मुगली दोनों ही चित्र कलायें समानान्तर चलने लगी थीं। इन दोनों कलाओं का उद्भव १६वीं ईसवी शताब्दी (१५५०) में प्रारम्भ हुआ था। राजपूती तो १६वीं शताब्दी तक चलती रही, परन्तु मुगली १८वीं में मर गई, क्योंकि यही काल मुगलों के काल की इतिथी थी।

राजपूती बसा पर पूर्ण प्राचीन शास्त्र एवं कला दोनों का प्रभाव था। यद्यपि भ्रमन्ता का प्रभाव अवश्य दिखाई पड़ता है तथापि नवीन उपचेतनाओं तथा उद्भावनाओं का भी इस में प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत होता है। अतः बुद्ध-धर्म एक प्रकार से इस समय खतम था तो हिन्दू धर्म के पुनरावर्तन (Revival) में स्वाभाविक चेतनाओं के द्वारा इस कला का विकास स्वतः सिद्ध है। यह युग शिव-पूजा, शिव-माहात्म्य तथा विष्णु-पूजा एवं विष्णु-माहात्म्य का था। भक्ति-धारा एक भागीरथी की उद्दाम गति से बहने लगी। राधा-कृष्ण-लीला का यह युग था, जिस में रास लीला, नायक-नायिका-लीला बड़े ही प्रकर्ष को प्राप्त हो गयीं। शिव-पार्वती, स-ध्या-गामत्री, रामायण एवं महाभारत के आख्यान चित्र में सब राजस्थानी कला के परम निदर्शन हैं। अतः ये सब चेतनायें जन्म-भावना की प्रतीक थीं। अतः यह चित्र-कला राजस्थान में एक प्रकार से दैनिक व्यवसाय तथा अध्यवसाय हो गया था। राजस्थान का प्रमुख नगर जयपुर इस राजपूती-कला का केन्द्र बन गया। अतएव इस राजस्थानी चित्र-कला को जयपुर कलम की मृत्ता से चित्रकार पुकारते लगे। ये राजस्थानी चित्रकार दरबार के अभिलाषु थे। पुनः मुगल दरबार की राजधानियों उप-राजधानियों जैसे दिल्ली, आगरा, लाहौर आदि नवाबी शहरों में भी यह कला अपनी विशिष्टता से पूर्ण होती रही।

राजपूती चित्र-कला सर्वाधिक प्रकर्ष पंजाब की हिमाचल उपत्यकाओं में एक नवीन प्रकर्ष पर आसीन हो गयी। कागरा की चित्र-कला इस युग की महती देन मानी गयी है। जिस प्रकार जयपुर कलम, उसी प्रकार कागरा कलम से यह राजपूती चित्रकला विद्युत हुई। इस पंजाबी राजपूती कला में रैखिक कर्म, वृण-विन्यास तथा प्रोज्ज्वल भगिमा छाया-शान्ति आदि सभी पटन-चित्र व सिद्धान्तों एवं प्रक्रियाओं का पूर्ण आभास एवं विनास प्राप्त होता है।

इस कागरा केन्द्रीय राजपूती चित्र-कला की सब से बड़ी विशेषता

राजपूत या प्रदेशीय (Local) आवश्यकताओं एवं चेतनाओं तथा रस्म-रिवाजों का भी इन चित्रों में साक्षात् प्रतिबिम्बन है। पहाड़ी राजाओं की आज्ञा ही चित्र-कार के लिये उसका सब से बड़ा अध्यवसाय था। अतएव इन चित्रों में राजसी-राजा रानियों के बहुत से चित्र प्राप्त होते हैं। साथ ही साथ पौराणिक एवं भागवतिक चित्र भी प्रचुर संख्या में प्राप्त होते हैं।

दूरभूमि का विनाश था कि घमें-शासा के भू-कम्प-विप्लव से इन समस्त चित्र-केंद्रों एवं उनमें विनिर्मित, सप्रहीत असंख्य चित्र नष्ट हो गये, भूगर्त में विलीन हो गये तथा यह बड़ी घाती नष्ट-प्राय हो गई। यह घटना १६०५ ई० की है। अब भाइये मुगल कला की ओर।

मुगल चित्र-कला—राजपूतों की चित्र-कला धार्मिक, जनीपयिक तथा रहस्यवादी बला थी, जहाँ मुगलों की चित्र-कला नवाबी तथा यथार्थवादी कही जा सकती है। मुगल सम्राट् अकबर के दरबार में यह कला प्रारम्भ हुई, क्योंकि बलान्तरक्षक अकबर की इस कलाओं में बड़ी रुचि थी, अतएव अनेक विदेशी बलाकार तथा चित्रकार अकबर के दरबार में आ बिराज। ईरान, फारस, समरकन्द आदि स्थानों में प्रोत्थलित चित्र-कला-केंद्रों में शिक्षित एवं दीक्षित चित्रकार इस दरबार के रत्न बन गए। अबुल फजल की आइने-अकबरी में इन चित्रकारों की बड़ी संख्या का निर्देश है। फर्रुख, अय्य-अल-समद, शेरान्जी, और सम्यक आदि छववरी दरबार के चित्रकार-रत्न थे। जहांगीर ने भी इस कला को बहुत प्रोत्साहन दिया और उस समय समरकन्द के कई चित्रकार यहाँ आ पहुँचे। शाहजहाँ विशेषकर स्थापत्य में तत्मीन हो गया तो इस चित्र-कला का ह्रास प्रारम्भ हो गया। पुन औरंगजेब तो इन कलाओं का पूर्ण उन्मूलन का बोधी बना।

यद्यपि मुगल चित्र-कला पर ईरान का समिट प्रभाव है, तथापि देश की संस्कृति एवं जनीन धारा का प्रखर प्रभाव कभी कोई हटा नहीं सकता। अतः यह कला इस देश की इन दोनों धाराओं में समन्वित होकर विलसित हुई। बहुत से मुगल-चित्र-कला में विख्यात हिन्दू चित्रकार भी इस कला को प्रोत्सास देने के श्रेय-भागी हैं। इन में बसवन, दशवन्त, केशोदास आदि चित्रकार विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन मुगली चित्रों की सबसे बड़ी विशेषता चित्र-पृष्ठक हैं। मुगल पृष्ठ

बुद्ध भी इन चित्रों के प्रमुक्त भग है। दरबार तथा ऐतिहासिक इतिवृत्त भा इन चित्रों के पूर्ण भग है। यद्यपि इस कला का प्रथम विकास ईरानी कलम में प्रारम्भ हुआ, परन्तु बालान्तर पाकर इस कला का प्रोत्साह, जैसा पहले हम सूचित कर चुके हैं, देहली कलम, सलजुकी कलम, पटना कलम बादमीनी कलम, आदि भ्रमन्तर कलमों में प्राप्त होता है। अतः मुगली कला काफी प्रबद्ध एवं प्रोत्साहित हो गयी।

एक प्रश्न यह है कि क्या मुगल कला ने ही Portrait Painting का प्रारम्भ प्रदान किया — नहीं। चित्र-रत्न-चित्रण महाभारत की कहानी से स्पष्ट है। चित्र-नेमा (प्रथम चित्रकार) ने अपनी सत्तेकी उपा के स्वप्न-पुष्प का प्रथम पलक-चित्र Portrait Painting का श्रोगर्षण किया था। योद्धा इतिहास में भी हम अस्मरिचित्र नहीं कि जब भगवान् बुद्ध के चौर अनुयायी एवं भक्तप्रवर महाराज अजानसधु ने अपने मास्टर के चित्र की प्रार्थना की तो उन्होंने केवल अपनी पट पर पट्टी हुई छाया के चित्र को चित्रित करने के लिये ही स्वीकृति प्रदान की तो तराशनीन प्रमुक्त चित्रकार ने उस छाया में इतना विषा के चित्र को तूनिता के द्वारा वर्ण-विश्राम में परिणत कर ऐसे चित्र का निर्माण कर दिया। अज-ना के भी ऐसे Portraits को देखे जायेंगे महिमा पर पहुँचे ही कुछ इतिवृत्त कर चुके हैं।

पुनरुत्थान के लिए प्रयत्न किया। कला का पुनरुत्थान जब इस आधुनिक युग में प्रारम्भ हुआ तो इस में सबसे बड़ी प्रेरणा रसास्वाद-आदर्श (Aesthetic Ideal) की ओर था। अखनीन्द्र नाथ टैगोर को ही इस उद्भावना का श्रेय है। इस प्रकार बंगाल के साथ साथ दिल्ली, लखनऊ, पंजाबी पहाड़ी इलाके—पंजाब सात बर लाहौर तथा अमृतसर, पटना इन उत्तरांचल प्रदेशों के साथ पूरा दक्षिण भारत में भी जैसे औरंगाबाद, बीलताबाद, हैदराबाद और निकोडा में भी यह आधुनिक कला अपने पुनरुत्थान पर पहुँच गई। तागनाथ ने अपने चित्र-रत्ना-इतिहास में दक्षिण के प्रसिद्ध-कीर्ति तीन चित्र-बारों में जय, प्रजय तथा विजय का नामोल्लेख किया है। इनके बहुत से अनुगामी भी थे। दुर्भाग्य-वश इनक समय के सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं उपस्थित होता। आगे चलकर इस दक्षिण भारत के दो प्रसिद्ध विष-गोठ बनप उठे जिनको तंजौर और मैसूर के नाम से बोधित करते हैं।

अखनीन्द्र नाथ ने यद्यपि इस दिशा में स्तुत्य प्रयत्न अवश्य किया, परन्तु मुझे यह कहने में सकोच नहीं है, कि उन्होंने अपनी पुरानी याती अर्थात् शास्त्रीय सिद्धान्त एवं परम्परागत कला-प्रक्रिया इन दोनों को अन्त-हस्त देकर योद्धा के अनुगामी होने का बोझ उठाया। इस कदम ने भारत की चित्र-कला को इस नवीन सम्प्रदाय ने एक प्रकार से धूल-धूसरित कर दिया। पौराणिक एवं पाश्चात्य इन दोनों बलाघों की अपनी अपनी मूल भित्तियाँ थी और दोनों में काफी मौलिक भेद भी थे। अतः इन दोनों का मिश्रण कला-सिद्धान्त एवं कला-प्रक्रिया की दृष्टि से यह बहुत बड़ा गलत कदम था। अतः इस युग में हमारे पुर्गने चित्र नहीं रहे। मुझे यह कहने में सकोच नहीं कि आज जहाँ भी विश्वविद्यालय अथवा चित्र-विद्यालय अथवा कला-विद्यालय की ओर जाइये वहाँ सभी स्थानों पर न तो किसी को प्राचीन चित्र-शास्त्रीय सिद्धान्तों का ज्ञान है न आस्था है। वे भी पश्चिम के पीछे परछाई की ओर प्रवास कर रहे हैं। यह सब विडम्बना है। आशा है आज नहीं तो कल वे अपने इस पुराने अत्यन्त मन्दुख शारिभाषिक ज्ञान का सहारा लेकर ही अपनी कला को विश्व के सामने रखने में समर्थ हो सकेंगे।

## साहित्य-निबन्धनीय चित्र-कला के इतिहास पर एक सिंहावलोकन

**उपोद्घात :—**ग्रीक माइसोलोजी में म्यूजिक आफ पाइन घाटस् भूतल पर एक के बाद एक नज़ी उतरी । अतः हमारे देश में भी महामाया भगवती सरस्वती तथा महामाधिक भगवान् नटरात्र जिव भी क्या एक के बाद दूसरे स्वर्ग से भूतल पर उतरे ? ताण्डव नृत्य धनिप्राचीन है । काव्य, नाट्य, समीत भी धनिप्राचीन है । तथैव वास्तु, जिल्प एवं चित्र भी उतने ही प्राचीन हैं । ये मन्त्रित कलायें मभ्यता एवं सस्कृति के अभिन्न भग हैं । अतः पुरातत्त्वोप उपाद्घात में हमन सकेत किया है कि यह मनोरम-कला चित्र-कला—क्या साहित्यिक क्या पुरातत्त्वोप दोनों स्तरों पर एक प्रकार ॥ समानान्तर गुदूर धनीत से चली आ रही है ? पुरातत्त्व स्तर से इसकी समीक्षोपरान्त, अतः हम साहित्यिक-निबन्धनीय इतिहास पर आते हैं हृणने अपने अक्षरी के अन्ध में जा निम्न घाटून प्रस्तुत किया है उसकी पाठक एवं विद्वान् दोनों ही अवश्य ही समर्थन करेंगे—

If the savages could work sculpture and build branch-houses, prepare implements, paint the cave walls (their refuse) and do many other things, painting and allied arts must have been the time-honoured companions in the progress of civilisation throughout the ages.

अस्तु अब हम वैदिक वाङ्मय से प्रारम्भ करते हैं ।

**वैदिक वाङ्मय :—**ऋग्वेद की बहुत सी श्रुत्याओं में चित्र-कला की स्पष्ट भावनायें प्राप्त होती हैं । उपनिषदों में बहुत से ऐसे वाक्य प्राप्त होते हैं जैसे छान्दोग्य में इसी का ४.४. वहाँ तो वहाँ पर रत्न, शुभ्र, श्याम वगैरे पर यद्यपि उनकी प्रौढव्रतता से ऐश्वर्य्य नहीं परन्तु 'ऋ' से है जो कि चित्र-कला का प्रमुख भग है ।

**पाली वाङ्मय :—**विजय-पिटक में वणिज राजा प्रमेनजित के विभास-भवन में चित्रागारों के बड़े मुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं । विजय-पिटक का समय ईशवीय पूर्व तीसरी या चौथी सतावरी है । संयुक्त-निवाय में पट्ट-चित्रों परविनित पुष्प एवं स्त्री चित्रों के मुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं । त्रिबिष चित्र-प्रकारों पर यह सन्दर्भ प्रति प्राचीन माना जा सकता है । जातक-साहित्य में भी इस प्रकार के बहुत से उद्भवे प्राप्त होते हैं । अब घाट्ये रामायण और महाभारत की ओर ।

**रामायण एवं महाभारत :—**धार्मिक-कवि वात्सीकि-कृत रामायण दर्शिते,

जिस में कोई भी ऐसा विमान, सौध, प्रासाद का वर्णन बिना चित्र-भूषा के नहीं पाया गया है। राज-भवनों के विन्यास में चित्रागार अभिन्न अंग थे। महाभारत में कुमारस्वामी ने लगभग १०० चित्र-सन्दर्भों का सकलन किया है। तारानाथ को इस सम्बन्ध में हम ने इस ग्रन्थ में दो तीन बार स्मरण किया है। तारानाथ तिब्बती इतिहास - लेखक १७वीं शताब्दी में पैदा हुए थे, जिन्होंने चित्र-कला को अति-प्राचीन माना है अर्थात् देवों की चित्रकला, यक्षों की चित्रकला तथा माणों की चित्रकला।

**पुराण—**पुराणों में चित्र-कला के सम्बन्ध में असंख्य सदर्भ भरे पड़े हैं। पुराणों की चित्र-कला के शास्त्रीय प्रतिपादन में सब से बड़ी देन पुराणों की है। महा-विष्णु-पुराण के विष्णु-वर्णोत्तर के चित्र-सूत्र में सभी कला-वित्त परिचित हैं।

**शिल्प-शास्त्र—**शिल्प-शास्त्रीय चित्र-प्रतिपादन में हम इस अध्ययन के प्रथम स्तम्भ में पहले ही सकेत कर चुके हैं। अब आइये कवियों और काव्यों पर। वैसे तो प्रायः सभी नाटकों तथा काव्यों में चित्र-कला के सम्बन्ध में बहुत से सन्दर्भ प्राप्त होते हैं परन्तु कालानुरूप हम केवल कवि-पुंगवों को लेते हैं जो निम्नतालिका से विवेच्य हैं :—

१. कालिदास	२. बाणभट्ट	३. दण्डी
४. भवभूति	५. माघ	६. हर्ष-देव
७. राजदोसर	८. धीहर्ष	९. धनपाल
१०. सोमेश्वर सूरि		

**कालिदास—**कालिदास के तीनों नाटकों में तीनों प्रमुख कलाओं का पूर्ण प्रतिबिम्बन प्राप्त होता है। मालविकाग्नि-मित्र नृत्य का, विक्रमोर्वशीय संगीत का तथा अभिज्ञान-शाकुन्तल चित्रकला का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन तीनों नाटकों से उद्धृत निम्न भवतरणों को पढ़िए, जिन से पूरे का पूरा शास्त्र एवं तदनुप्राणित कला करामतसकवत् दिखाई पड़ती है। चित्राचार्य, चित्रागार, चित्र-प्रकार, वर्तिका-नैपुण्य, चित्र-भूमि-बन्धन, वर्ण-विन्यास, तुलिका-लेखन, छाया-शान्ति, लय-वृद्धि-सिद्धान्त, चित्रों में मुद्रों-विनिर्गोष आदि आदि सभी विषयों पर ये उदाहरण साक्षात् भूतिमान् चित्र-विधान के प्रत्यक्ष निदर्शन हैं :—



## चित्रशाला

‘चित्रशाला गता देवी प्रत्यग्रवर्णंगया चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती  
तिष्ठति’—माल. १

‘विद्युत्वं त ललितवनिताः सेन्द्रचापः सचित्राः.....प्रासादास्त्वां तुलसि-  
मलम्,—मेघ०

## चित्राचार्य

‘चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति’—माल० ।

## चित्र

(क) फलक-चित्र (Portraits) :—

‘तेनाष्टौ परिगमिताः समा कथञ्चिद्वासत्वादवितथमूनृतेन सूनोः ।  
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च, ॥’—रघु०  
‘वाष्पायमाख्यो बलिमान्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेक्ष ।’—रघु०  
‘सखि । प्रणम मर्तारि, वः पार्श्वतः पृष्ठतः दृश्यते ।’—माल०

(ख) भावगम्य-चित्र :—

‘मरसादुश्यं विरहस्तनु वा भावगम्य लिखन्ती ।’—प्रभि०

(ग) यायातम्य-चित्र :—

‘ग्रहो राजर्षेर्वतिकानिपुणता । जाने मे सखी ग्रयतो वर्तत इति’—प्रभि०

(घ) प्रकृति-चित्र :—

‘कार्या संवत्तलीनहमभिधुना स्रोतोवहा मालिनी  
वादास्तामभितो निपण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।  
शास्त्रालम्बितवत्कलस्य च हरोनिर्मातुमिच्छाम्यधः  
भृगे कृष्णमृगस्य धामनवन कण्डूयमाना मृगीम् ॥’—प्रभि०

(ङ) पत्रालेखन-चित्र :—

‘रेवा ह्रस्वस्युपसविषभे विन्ध्यपादे विशीर्णाम् ।  
शक्तिच्छंदिरिव विरचिता भूतिमङ्गे गजस्य ॥’—मेघ०

(च) शृंग-लेखन-चित्र :—

‘इहे, कुमारोऽपि कुमारविक्रम. सुरद्विपास्फासनकंक्षागुलो ।  
भुजे दक्षोपत्रविशेषकाकिते स्वनामचिह्नं बिभ्रसान लायकम् ॥’

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिमीतः ।  
धकार बाणैरसुरांगनानां गण्डस्थनीः प्रोषितपत्रतेसाः ॥

भूमि-वर्णन (पट्ट-चित्रोप) :—

‘त्वामालिख्य प्रणयकृपितां घातुरार्गं दिशसायाम्  
घातमानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।  
घस्येस्तावन्मुहुरूपचितेर्दृष्टिरासुष्यते मे  
कूरस्त्वस्मिन्नधि न सहते संगमं नो कृतान्तः ॥’—मेघ०

भूमि-वर्णन (कुड्य-चित्रोप)—

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दन्तमृणालभंगाः ।  
नखाकुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरम्यसिहप्रहृतं बहन्ति ॥—रघु०

### घतना-प्रक्रिया

(अ) भूमि-वर्णन :—

‘ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाक्षिते प्रमथ्यमानार्णवघोरनादिनीम् ।  
रघुः शशाङ्काधंमुखेन यन्निशा क्षरासनज्यामलुनाद्विहोजसः ॥

(ब) गण्डकवर्तन एवं आनसिक-कल्पन :—

‘विधे निवेद्य परिकल्पित सत्त्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विविना कृता नु ।  
स्त्रीरत्नस्रष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे घातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य धपुदध तस्याः ॥’

### तुलिका-उन्मीलन

‘उन्मीलित तुलिवयेव चित्र सूर्यागुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।  
बभूव तस्याश्चतुरसशोभि वपुर्विभक्त नवयौवनेन ॥—कुमा० १ ३२

### क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त

‘स्सलतीव मे दृष्टिर्निम्नोत्प्रदेशेषु’—मभि० ४

### धतिका

दे० घनि० शा० ‘धतिकानिपुणात्’ ।

दे० घनि० शा० ‘धतिकोञ्च्वा ङ’ धक १।

## चित्र-द्रव्य

देखिये अभि० शा० प्र० ६ — 'वर्णिका-करण्ड'—A Colour Box to preserve colours in it.

## चित्र-वर्णाः—शुद्ध-वर्णाः

पोतासितारक्तसितं सुराचलप्रान्तस्थितैर्धातुरजोभिग्म्बरम् ।

भयस्तगधर्वपुरोदयग्रम वभार भूमनोत्पतितैरितस्ततः ॥—कुमा०

'नेत्रा नीता सततगतिना यद्विमानग्रभ्रमो-

रालेख्याना स्वजलकणिकादोषमुत्पाद्य सद्यः ।

शकास्पृष्टा इव जललक्ष्ममुघस्त्वादृशो जालमार्गे-

धूँ मोदगारानुकृतिनिपुणा जजंरा निष्पतन्ति ॥'—मेघ०

'स्विन्नागुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः ।

ग्रभ्रुच कपोलगतित लक्ष्यमिदं वर्तिकोच्छ्वासात् ॥'—अभि०

## चित्र-मुद्रा

व्यूहस्थितः किञ्चिद्विबोत्तरार्धमुन्नद्ध चूडोऽम्बितसम्पन्नानुः ।

प्राकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रे स विनीयमाना ॥—रघु० ११.११

'स दक्षिणावागनिविष्टमुष्टिं नतासमाकुञ्चितसम्पपादम्'—कु० ३.

तस्य निर्दयरतिभ्रमालसा. कण्ठसूत्रमपदिश्य योषित. ।

प्रध्यशेरत् बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तघन्दनम् ॥—रघु० १६.३२

## चित्रावयव

व्यूढोरस्को घृषस्कन्धः सालप्रांशुमंहामुजः ।

प्रात्मकर्मसम देहं साग्री घर्मे इवाश्रितः ॥'—रघु० १.१३

मुवा युगव्यायतबाहुरसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः ।

वपुः प्रकर्षादजयद् गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयादद्दश्यत ॥—रघु० ३.३३

वृत्तानुपूर्वो च न चातिदीर्घो जघे शुभे सृष्टवतस्तदीये ।

रोपागनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्यमुत्पाद्य, इवास यत्नः ॥—कुमा० १.३५

क्षीर्षाक्ष सरश्चिन्दुकान्तिवदन बाहू नटावसयो.

संक्षिप्त निविद्योन्नतस्तनमुरः पाद्वै प्रमृष्टे इव ॥

मध्यः पाणिमितो नितम्बिजघनं पादावरातांगुलीः ।

छन्दो नर्तपितुयंयैव मनसः श्लिष्ट तयास्या वपुः ॥—मात० २.३

### चित्र-प्रतीकावलम्बन

“राजा—दयस्य ! धन्यञ्च, सकुन्तलायाः प्रसाधनमभिप्रेतमत्र विस्मृत-  
मस्माभिः ।

विदूषकः—किमिव ?

सानुमती—जनवासस्य सोकुमर्यास्य च यत् सदृशं भविष्यति ।

राजा—कृतं न कर्त्तापितव्यञ्चनं सत्ते क्षिरीपमागण्डविलम्बिकेसरम् ।

न वा दारञ्चग्रंमरीचिकोमल मृणालमूत्र रचितं स्तनान्तरे ॥—धनि०

‘इयमधिकमनोज्ञा वस्त्रकेलेनापि तन्वी

किमिक हि मधुराणां मण्डनं नाकृतोनाम्’—धनि० १.

‘सखि, रोचते ते श्रेयं मुक्ताभरणभूषितो

नीलायुवपरिश्रहोऽभिसारिकावेशः’—विक्र० ७.

‘देणीभूतप्रतनुसन्निभासावतीतस्य सिन्धुः ।

पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रं निभिर्जीर्णपल्लैः ॥

नीभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती ।

काश्यं येन त्यजति विधिना स स्वयंवोपपाद्यः ॥’—भेष०

‘एवमेव तावत्परिविन्तय स्वयं कदाचिदेते यदि योयमहंतः ।

अपुदुहूनं कलहसलसल गजाग्रिन शोणितविन्दुवापि य ॥—कुमा० १.९७

‘धामुक्ताभरणः सुखो हसन्निहदुकूलवान् ।

आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यधीवबूधरः ॥—रघु० ११.२५

‘सुराज इव दन्तैर्मनदेत्यासिधारैर्नय इव पणवन्धम्यस्वयोर्यरूपायः ।

हरिरिव पुण्डरीकैर्मिरचैस्तदीयैः पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशे चतुभिः ॥’

—रघु० १०.८९

‘वित्तेशानां न च क्षन्तुं यथो धौवनादन्यदस्ति ।’—भेष०

‘सिद्धद्वन्द्वैर्जंसकणभयाद्रेणिभिर्मुक्तमायैः ।’—भेष०

‘न दुर्वेद्ध्योनिपयोपराता भिन्दन्ति अन्दां पतिमसम्भूत्याः ॥—कुमा० १

### चित्र-विषय-क्षेत्र-उद्देश्य

‘वसति ! तदा सप्तभ्रममुत्कण्ठिताहं भूतृरूपदर्शनेन तया न विदुष्यामि

यथाद्य विभावितश्चित्रगतदर्शनो मर्ता ॥'—माल० ४

'अये ! अनुपपुक्तमूपणोऽयं चित्रचित्रकमपरिचयेनाङ्गेषु ते आभरण-  
विनियोग करोति ॥'—अभि० ४

'प्रतिवृत्तिरचनाम्यो दूतिसदृशताम्यः समधिकतररूपाः शुद्धसंतानकामः ।

'अधिविविदुरमात्यैराहुतास्तस्य यूनः प्रथमपरिवृहीते श्रीभूषी रात्रकन्याः ॥'

—रघु० १८ ३९

## चित्र-दर्शन (Philosophy of the Fine Arts)

'यद्यस्याधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा ।

तथापि तस्या लावण्यरेणया विजिबदन्वितम् ॥'—अभि०

'चित्रगतायामस्यां वान्तिविसवादसकि मे दृश्यम् ।

सप्रति सिधिममभाधि मन्ये येनैयमालिखिता ॥'—माल० २,

'पात्रवितोषे भ्यस्त गुणान्तर अजति शिल्पपापातुः ।

अमदिन समुद्रदुबन्धो मृनापलता पयोदस्य ॥'—माल० १

## वाण-भट्ट

हमने अपने इस अध्ययन में पहले ही तिन दिया है कि 'वाणेशिष्ट  
जगत्-नवंम्' का क्या अर्थ है ? वाण-विरचिता दिव्या वादम्वरी तथा रात्रमी  
हर्षचरित—इन दोनों महानाम्यों में चित्रों का विषय पद पद पर दिखाई  
पड़ता है । वाण का वर्ण-चित्रण, वर्ण-भेद शिल्प-रस के सिद्ध उद्योग का पूर्ण  
प्रमाण है :—

अवसाः स्वावरा वा ये सन्नि भुवनत्रये ।

१ तत्तत्तयभावतस्तेषां करणं चित्रमुच्यते ॥'

वाण-भट्ट ने अपनी जीवनी पर (देखिये इ. च.) जो निष्ठा है, उसमें  
वाण के साधियों की ताजिबा देखिये, उसमें चित्रकूटीर-वर्मा का उत्प्रेत है ।  
अतः उनका पर्यटन बिना चित्रकार के पूर्ण नहीं था ।

वाण-भट्ट के राज-भक्तों के वर्णन में जो चित्र-वातावरण घणित  
है, वे विमान-नीति पर निर्मित प्रतीत होती हैं । मारुत-गिर्य में जो चित्र-वाता  
का लक्षण विशेष है, उन्हीं के आधार पर वे दिखाए हैं । निम्न उदाहरणों का  
वर्णन चित्र में चित्र-विषय, चित्र-कार, चित्र-रस, चित्र-प्रतिभा, चित्र-

विन्यास आदि आदि सभी शास्त्रीय सिद्धान्त मूर्तमान् दिखार्ह पडते हैं :

### चित्र-शाला-निर्माण

‘मरासुरमिदगन्धर्वविच ॥ धरोरगाध्यासिताभिश्चित्रशालाभिः

..... दिव्यविमानपक्तिभिरिवालकृता ।’—का. पृ. ६६

### चित्रे-शिल्पाचार्यं

‘सकलदेशादिश्यमानशिल्पिषायांगममम् ।’—ह. च. १४२

‘सितकु सुमविलेपनवसनसत्कृतैः मूत्रधारैः ।’—ह. च. १४२

### चित्र-प्रकार

कूट्य—‘चित्रलैलादीशितविचित्रसकलत्रिभुवनाकाराम् ।’—का. १७६

‘भालेख्यगृहैरिव बहुवर्णचित्रपत्रशकुनिसतसप्तोमितैः’—का. २४७

‘प्रविशेद्य च द्वारपक्षलिखितरतिपतिदेवतम् ।’—ह. १४८

‘मुप्तया वासभवने विचित्रभित्तिचामरप्राहिण्योऽपि चामराणि चालयाञ्चक्रुः ।’

॥

—ह. १२७

‘भालेख्यक्षितिपतिभिरप्यप्रमण्डिः सतप्यमनचरणी ।’—ह. १२९

‘दिवमावस, नेपु—चित्रभित्तिविलिखितानि चक्रवाकभिधूनानि ॥’—का. ४४६

कलकः (Portraits) :—

‘प्रत्यप्रलिखितमङ्गल्यालेख्योज्ज्वलितभित्तिभागमनोहराणि’ ।—का. ११६

‘चतुरचित्रकरचक्रवाललिख्यमानमङ्गल्यालेख्यम् ॥’—ह. १४२

‘चित्रावशेषाकृतौ काव्यश्लेषनाम्नि नटनाये ।’—ह. १७५

‘प्रविशन्ते च—चित्रवति पटे—कथयन्तं यमपट्टिक ददर्श’—ह. १२१

पट-चित्र :—

‘वासभवने मे शिरोमागनिहितः कामदेवपटः पाटनीयः ।’—का. ५१६

पट्ट-चित्र :—

‘यमपट्टिका हवाम्बरे चित्रमासिखन्त्युद्गीतकाः ।’—ह. १३८

शिला-चित्र :—

‘यत्र च स्नानार्थमागतया—विलिखितानि च त्रयम्बकप्रतिविम्बकानि

बुद्धमाना ।’—का. १९१

## चित्र-द्रव्य-वर्ण-कूर्चक

वर्तिका—कालाञ्जन-वर्तिका :—

रूपोलेह्योन्मीलनकालाञ्जनवर्तिका ।'—का. ४५३

वर्णमुधाकूर्चकैरिव करधवलिनदशाशामुखे चन्द्रमसि ।'—का. ५२७

कूर्चक — 'इन्दुकरकूर्चकैरिवाक्षालिताम् ।'—का. २४६

वर्ण-शुद्ध-कूर्चक :—'वही' ।

तूलिका :—'अवसम्बमानतूलिकालावुकाश्च...'—ह. २१०

वर्ण-यात्र (वर्ण-करण्डक) :—'अलावु' ।

## चित्र-प्रक्रिया-आधार—भूमि-वन्धन

कुड्य-भूमि-वन्धन :—

'उर्यापिताभिनवभित्तिपात्यमानबहुलबालुकाकण्ठकासेपाकुलासे-

पकलोकम् ।'—ह. १४२

'उरुकूर्चकैश्च सुधावर्णरस्कन्यै रधिरोहिणीसमारुद्धैर्वर्धवलीः क्रियमाणप्रासाद-

प्रतोलीप्राकाराशितरूम् ।'—ह.

चित्र-फलक-वन्धन :—

'आलिखिता चित्रफलके भूमिपालप्रतिविम्बम्'—का. १७२

प्रमाण एव अण्डक-वर्तन :—

'वत्सस्य धोवनारम्भसूत्रपातेरस्ता ।'—का. ४६६

## छाया-कान्ति—चित्रोन्मीलन

'रूपासेह्योन्मीलनकालाञ्जनवर्तिका ।'—का. ४५३

'प्रातश्च तदुन्मीलित चित्रमिव चन्द्रापीडदारीरमवलोक्य ।'—का. ५४८

पत्र-लेखनावि .—

'उभयतश्च—पुरि-घवर्गोण समधिष्ठितम् ।'—१४३

'बहुविधवर्णवादिग्यामुत्तीभिर्गोविामूत्राणि च—समन्तात्सामन्तसीमन्तिनी-

मिर्व्याप्तम्—ह. १४३

## चित्र-वर्ण-विन्यास-साहस्य

मूला-वर्ण—शुद्ध-वर्ण—

शभ्र-वर्ण :—'हरितालवर्णावशात्तदेह'

‘हसधवला धरण्यामपतज्ज्योत्सना’  
 ‘हिमकरसरसि विकचपुण्डरीकसिते’  
 ‘प्रभिनवसितसिन्दुवारकुसुमपाण्डरैः’  
 ‘वर्णिकारगोरेण वीधकञ्चुकन्धनवपुषा’  
 ‘यकुलसुरभिनि स्वसितया चम्पकावदातया’  
 ‘दन्तपाण्डरपादे शशिमय इव’  
 ‘पीयूषकेनपटलपाण्डरेण’  
 ‘शालदीरकेनपटलपाण्डरम्’  
 ‘विषमकेतकीमर्षप्रपाण्डर रजसधातम्’

रक्त-वर्णः :—

‘तस्य चाधरदीघतयो विकसितबन्धुकवनराज्यम्’  
 ‘मुद्गकुम्भपिञ्जरितपृष्ठस्य चरणयुगलस्य’  
 ‘कुसुम्भरागपाटल मुलकबन्धवित्रम्’  
 ‘रुधिरकुतूहलिकेसरिविशोरबलिह्यमानवठोरघातकोस्त्रबके’  
 ‘लोहिनायमानमन्दारसिन्दूरसीम्नि’  
 ‘माञ्छिठरागलोहिते किरणजाले’  
 ‘धालातपपिञ्जरा इव रजन्यः’  
 ‘पारावतपादपाटलरागः’

हरित-वर्णः :—

‘शुकहरितः कदलीवनः’  
 ‘भरकेतहरितामः कदलीवनानाम्’  
 ‘सरुणसरतमालश्यामले’

धूरा (gray) वर्णः :—

‘दृष्णाजिनेन भीलपाण्डुभावा—धूमपटनेनेव’  
 ‘ससभरोमधूसरासु’  
 ‘वनदेवताप्रासादानां तरूणां—वपोवभानिहोत्रधूमसेवायु’  
 ‘रूपोतकण्ठकबु—रे—तिमिरे’  
 ‘दाफरोदरधूसरे रजसि’



मूरा (brown) वर्णः—

‘गोरोचनाकपिनपुतिः’

‘हरितालकमितपववेणुविटपरचितवृनिभिः’

‘सन्ध्यानुगन्धताग्रं परिणततासपत्तिविषि कालमेषमे दुरे’

‘पूतरोचन् भ्रमेतकचकपिताः पासुबुटयः’

‘गोधूमधामाभिः स्वसोपुष्टैरधिष्ठिता’

दयाम-वर्णः—

‘जरन्महिषमयीमलीमसि समसि’

‘गोसागूतकपोतकालजायलोम्नि मीलसिन्धुवारवर्णे वाजिनि’

‘चापपक्षविषि समस्त्युदिते’

राक्षस-वर्णः—

‘भाषममनशुचिशचीतिमुष्पमानाचंनबुभुमनिवरदारम्’

‘भामरणप्रभाजामजायमानानीन्द्रधनुःसहस्राणि ।’

‘पावविशाराक राजमापनिवरकिर्गिरितैश्च’

‘शयलदाहूँसचमंपटपीडितेन’

‘तिर्यङ् मीलघवलागुशाराम् ।’

मिथ-वर्णः—धन्तरित वर्णः—

स्कन्धदेशावलिम्बिता दृष्ट्याजिनेन नीलपाण्डुभासा तपस्तृष्णानिपीत्रेनान्त-  
निपतता घूमपटलेनेव वरीतमूर्तिः’

‘सरस्वत्यपि क्षप्ता किञ्चिदधोमुखी धवलकृष्णशारा दृष्टिमुखसि पातयन्ती’

‘भाकुलाकुलकाकपक्षधारिणा कनकशलाकानिमित्तमप्यन्तरगतमुत्रप्रभाश्यामा-  
वमान मरकतमयमिव पञ्जरमुद्रहता चाण्डालदारकेणानुगम्यमानम्’

‘भामत्तकोकिललोचनच्छविनीतिपाटलः कषायमधुरः प्रकाममापीतो जम्बू-  
फलरससः’

शरीरामय—चित्रवर्ण (anatomical delineation) :—

चक्षुः कुरङ्गकैर्षोणावश वराहैः स्कन्धपीठ महिषैः प्रबोष्ठबन्ध व्याघ्रैः पराक्रम  
केसरिभिर्नमन—माघबगुप्तम्

‘सद्य एव कुन्तली किरीटी कुण्डली हारी केमूरी मेखली सुन्दरी सगी च  
भूत्वावाप विद्याधरत्वम्’

‘देवताप्रणामेषु मध्यभागभङ्गो नातिविस्मयकरः’

‘भङ्गभङ्गवलनान्योन्यघटितोत्तानकरवेणिकाभिः’

### दण्डिन

दशकुमार-चरित्र का निम्न वाक्य पढ़िए, जिस में भूमि-व्ययन और  
वर्ण-विश्यास का प्रतिबिम्बन प्रत्यक्ष है :—

मणिसमुद्गात् वर्णवित्तिका मुदृत्य .....

—दश० प० उ० २

### भवभूति

भवभूति के उत्तर-राम-चरित में प्राकृतिक चित्रों की भरमार है। हमें  
ऐसा प्रतीत होता है कि Landscape Artist के लिए जो Principles of  
Perspective विशेष महत्व रखते हैं, उनके पूर्ण प्रतिबिम्ब यहाँ पर दिखाई  
पड़ते हैं। उदाहरण के लिए शंखेर पुर के निकट इन्द्रमुदी-पादप का वर्णन,  
भागीरथी गंगा का वर्णन, चित्रकूट के मार्ग पर स्थित श्याम बट-वृक्ष का  
वर्णन, प्रभवण-पर्वत का भव्य वर्णन, पञ्चवटी की पृष्ठ-भूमि पर शूर्पणखा  
के चित्र का विलास-वर्णन, शम्पा-सरोवर के वर्णन—ये सब वर्णन एक-मात्र  
काव्य-मय नहीं हैं, ये पूरे के पूरे चित्र-मय हैं।

### माघ

माघ को तो कालिदास और भवभूति से भी बढ़कर पण्डित-मण्डली  
ने जो निम्न युक्ति से परिकल्पित किया है—

उपमा कालिदासस्य भारवेर्यगौरवम् ।

दण्डिनः पदनालित्य भार्वे सन्ति त्रयो गुणा ॥

यह ठीक है या नहीं ? परन्तु इन के विरचित शिशुपाल-वध के तृतीय  
खंड के ३६वें श्लोक को पढ़िए, जिस में भूमि-व्ययन के लिए कितना सुन्दर  
मानसिक विधान है। अतिस्तकणता अर्थात् बहुत चमकता चिकना एवं धालेद्य वस्त्र  
के लिए भूमि-व्ययन समीचीन नहीं—

यस्यामतिर्लक्षणतया गृहेषु विधातुमालेख्यमशक्नुवन्तः ।

चुक्रुधुर्दानः प्रतिविम्बताम सजीव चित्रा इव रत्नभित्तीः ॥

### हर्षदेव—हर्षवधन

इन के तीनों नाटक-नाटिकाग्रो—नागानन्द, रत्नावली, प्रियदर्शिका से सभी परिचित ही हैं। बाण के 'मल्लव' कालिदास के वर्णिका-करण्डक का हृम उल्लेख कर ही चुके हैं। हर्षदेव की रत्नावली को पढ़िए :-

"गृहीतिसमुद्रकचित्रफलवर्तिका"

इस में पङ्-चित्रागो में वर्ण-नात्र, चित्र-फलक तथा चित्र-लेखनी इन तीनों पर पूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है।

### राजशेखर

राजशेखर की काव्य-मीमांसा में विवेचन कर उनके बाल-भारत में निर्घट्टाक्षर इस सन्दर्भ में चित्र-वर्ण-रसायन पर बड़ा ही पारिभाषिक वैशिष्ट्य प्रतीत होता है। अब आइये श्रीहर्ष की ओर—

### श्रीहर्ष का समय ११वीं तथा १२वीं शताब्दी

उत्तर - मध्यकालीन - चित्रकला का साहित्यिक - निबन्धन इतिहास उपाय तथा तीव्र गति से उल्लसित प्रस्तुत करता है। चित्र-कला में वर्ण-विन्यास को अक्षर-विन्यास में जो परावर्तन प्रारम्भ हुआ, वह श्रीहर्ष के नैषधीय-चरित महाकाव्य के निम्नलिखित सर्गों में प्राप्त होता है। यहाँ पर '४४' इस शब्द के दोनो दल बिन्दु तथा अर्धचन्द्र-चारो के साथ दमयन्ती के दोनो भीहो (दोनों दल), तिसक (बिन्द), अर्ध-चन्द्र वीणाकोण से तुलना की गई है। इसी प्रकार इस निम्नोद्धृत श्लोक में विसर्ग की कितनी सुन्दर समीक्षा एवं तुलना है :-

शृ गवद्बालवत्सस्य बालिकाकुचयुग्मवत्

नेत्रवत्कृष्णसर्पस्य ॥ विसर्ग इति स्मृतः ।

अब हम चित्र-शास्त्रीय-सिद्धान्तों तथा चित्र प्रक्रिया की पृष्ठ-भूमि में नैषध के नाना उद्धरणों को पेश करते हैं, जिनमें चित्र-प्रकार, चित्र प्रक्रिया, विशेष कर मान-प्रमाण, अण्डक-राम, चित्र-वर्ण, वर्ण-विन्यास एवं शरीरावयव-मुस, नासा, चिबुक, कर्ण, घ्रीवा, केश, नितम्ब, गुल्फ, एड़ी तथा अंगुलिया-

समय पर बड़े ही प्रौढ़ षण्ण प्राप्त होने हैं। श्री हर्ष के इन निदर्शनों में सबसे बड़ी विशेषता तल-चित्रकारी, मुद्रा-भविष्या विशेष सूक्ष्म हैं।

### चित्र प्रकार

कड्य-चित्र--'ते तत्र भैम्याश्चरितानि चित्रे चित्राणि पोरैः पुरि लेखितानि ।

निरीक्ष्य निन्दुदिव्यं निशा च सत्स्वप्नसभोगकलाविलासे ॥१०.१५॥

द्वार-चित्र—पूरि पयि द्वारगृहाणि तत्र चित्रीकृतान्यत्सुववाञ्छयेव ।

नभोऽपि किमोरमकारि तेषां महोभूजाभाभरणप्रभामि : ॥१०.३१॥

प्रेमी-प्रेमिका-चित्र—प्रिय प्रिया च विजगज्जयिष्रियो सिद्धाधिलीषा

गुह्यमिति कावपि ।

इति स्म सा कारुवरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सहायमीयते । १.३५ ।

### चित्रमें योजयायोज्य

‘भित्तिचित्रलिखिताखिलक्रमा यत्र तस्युरिनिहाससंकथाः ।

पद्मनन्दसुतारिरसुतामन्दसाहसहसन्मनोभुवः' ॥१८.२०॥

**वर्तमान**

सुप्रपात-सेला-गौरीव पश्या नृभगा कदाचित्कतैषमप्यर्षं ननुतमस्याम ।

इतीव मध्ये विदधे विधाता रोमावलीमैचकसूत्रमस्याः ॥ ३.८३॥

अपागमालिख्य तदीयमुच्चकैरेदीपि रेखाग्रनिताञ्जनेन या ।

आपाति सूत्र तदिव द्वितीयया वयः श्रिया बध्ंयितुं विलोचने ॥१२.३४॥

हस्त-लेखा-पुराकृतिःस्त्रैणमिमा विधातुमभूद्विधातुः खन् हस्तलेखः ।

मेयभवद्भावि पुरन्ध्रसृष्टिः सास्यै यशस्तज्जयज प्रदातुम् ॥७.१२॥

पश्यैव शर्गस्य भवत्करस्य सरोजसृष्टिमम हस्तलेखः ।

इत्याह धाता हरिणक्षणाया किं हस्तलेखीकृतया तयास्याम् ॥७.७२॥

हस्तलेखमसृजत् खलु जन्मस्थानरेणुकमसौ भवदयम् ।

राम रामधरीकृततत्तल्लेखकः प्रथममेव विधाता ॥२१.६६॥

### वर्ण-विन्यास

आर मूल रंग—'विरहपाण्डित्यं, राग, तमोमपीशितम तन्मिजपीतम वारुणः'

दश दिनाः सन्तु तद्दृगवलम्ब्याल्लिपिकरी नलरूपकचित्रिता : ॥४.११॥

‘पीतावदातारुणीनीलभासा देहोपदेहात्किरणमंणीनाम् ।

गोरोचनाचन्दनकुंकुमैरुणाभीविलेपान्पुनरुक्तय-तीम् ॥१०.६७॥

विभिन्न मिश्र वर्ण—न्यस्य मन्त्रिषु स राज्यमादरादारराध मदनं प्रियाससः ।

नैकवर्णमणिचोटिकुट्टिम हेमभूमिभूति सोधभूधरे ॥८.३॥

वर्ण-विन्यास—‘स्थितिशालिसमस्तवर्णता न कथं चित्रमयी विभक्तुं या ।

स्वरभेदमुपेतु या कथं रत्नितानत्पमुखारवा न वा ॥२.६८॥

### शरीरावयवज्ञान

ऋणीकृता किं हरिणीभिरासीदस्या सकाशान्नयनद्वयधीः ।

भूयोगुरोय मकला बलाद्यत्ताम्पोऽनयाऽलभ्यत विभ्यतीभ्यः ॥

मासीदमीया तिलपुष्पतूण जगत्रयव्यस्तशरत्रयस्य ।

वशासानिलाभोदभरानुमेया दधद्विबाणी कुसुमायुधस्य ॥

बन्धूबन्धुभयदेगदस्य भुव्नेन्दुनानेन सहोज्जिहाना ।

रागश्रिया शैरदावयोवनीया स्वमाह सध्यामधरोष्ठलेखा ॥

विनांजितास्या मुलमुन्नमस्य किं वेधसेय सुपमासमाप्ती ।

षट्पुद्भवा यच्चिबुके यवस्ति निम्ने यनागुलिपन्त्रयेव ॥

इहाविशयेन पयातिवक्रं शास्त्रोद्यनिष्यन्दमुष्ठाप्रवाहः ।

सोऽस्या श्रवः पत्रयुगे प्रणालीरेखेव धावत्यभिकर्णरूपम् ॥

प्रीवाद्भुतेवावटुसोमितापि प्रसाधिता माणवकेन सेयम् ।

भालिग्यतामप्यवतम्बमाना सूरूपताभागाखिलोर्ध्वकाया ॥

कवित्वगानाप्रियवादतत्पान्यस्या विधाता व्यधिताधिकण्डम् ।

रेखात्रयन्नासमिपादमीया वाचाय सोऽयं विवभाज सोमाः ।

रज्यन्नसस्यागुलिपञ्चकस्य मिपादसो द्वैतेतपद्मतूणे ॥

हैमैकपुष्पास्ति विशूद्रपदवं प्रियाकरे पञ्चदारी स्मरस्य ।

चत्रेण विश्वे युधि मत्स्यकेतुः पितुर्जित बोध्य मुदशनेन ।

अगजिजगीपत्यमुना नितम्बमयेन किं दुर्लभदशनेन ॥

भूचित्रलेखा च तितोत्तमास्या नासा च रम्भा च यदरूस्पृष्टिः ।

दृष्टा ततः पूरयतीयमेकानेनकाप्सरः प्रेक्षणबौतुकानि ॥

यनेन तन्ध्या जितदन्तिनाथी पादानराजो परमुद्रपाष्णी ।

जाने न मुभूपपितुं स्वमिच्छू नतेन मूर्ध्ना कतरस्य राज्ञः ॥

एष्यन्ति धातुदम्भनाहिगन्तान्नुपाः स्मरार्ताः सारणे प्रवेष्टम् ।  
इमे पदारत्ने विधिनापि सृष्टास्तावरय एवाभु ल गोऽत्र सेसः ॥  
प्रियानलोभूतवतो मुदेव क्वयाद्विधिः साधुदशत्वमिन्दोः ।  
एतत्पदच्छद्मसरागपद्मसोभाग्य कथमन्यथा स्यात् ॥

### तल-चित्र (Mosaic Floor-painting)

कुत्रचित् कनकनिर्मितासितः क्वापि यो विमलरत्नजः किल ।  
कुत्रचिद्वर्चितचित्रशालिकः क्वापि धारिस्परविधेन्द्रजातिकः ॥'—१८.११

### पत्र-भंग-चित्रण

स्तनद्वये तन्वि पर तर्पय पुषी यदि प्राप्तयति नैपयस्य ।  
धनल्पवैग्यद्विविधनीना घनना समाप्तिम् ॥'—३.११८

### हस्त-लेख

दलोदरे काञ्चनकेनवस्य क्षणान्मसीभावकवर्णसेसम् ।  
तस्यपैव यत्र स्वमनःक्षेप लिलेख भेमीनखलेसि नीभिः ॥३ ६३

### चित्र-मुद्रा

नयोद्गता पीवरतापिजंय वृक्षाधिकुब्द विदुषी किमस्याः ।  
यपि भ्रमीमनिभिरावृणाग वासो सतावेष्टितकप्रवीणम् ॥—७.१७

### चित्रकार

‘विपतततदनुकार्यविभ्रसाध्याभ्यननेन विधिरूपरूपवम् ।

बोध्य य बहु मुञ्जिशरो जरावातकी विधिरवल्पि शिल्पिराट् ॥—१८.१२

सोसेडयर-सूरि—इन के यशस्वित्तक-चम्पू में न केवल चित्र-शास्त्रीय

मिष्ठान्तो एवं प्रक्रियाओं का ही पूर्ण प्रोत्साह प्राप्त होता है, बरन् जिस प्रकार  
बाण की रचनाओं से तत्कालीन चित्र-गान्ना-सेवन एक प्रकार से दैनिक-चर्चा थी,  
उसी प्रकार ‘यशस्वित्तक’ के पन्नों में तत्कालीन चित्र-कला के सामाजिक, वैयक्तिक  
एवं गार्हस्थ्य सेवन पर भी बुरा प्रभाव प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में चित्र-कला  
का एक नया विकास प्रारम्भ पाया जाता है, जिसको हम पञ्चाशेकन की सभा से  
पुकार सकते हैं। पञ्चाशेकन में सात्यकमेधा-विधित्त-विषय हैं जो नरो, नारियों,  
पशुओं एवं पक्षियों के वर्णों पर चित्रणीय हैं। कानिदास ने ही सबसे पहले इस

प्रथम पटल

प्रारम्भिका

द्वितीय पटल

राज-निवेश एवं राज-उपकरण

तृतीय पटल

शयनासन

चतुर्थ पटल

सम्पन्न-घटना

पंचम पटल

चित्र-संक्षेप

षष्ठ पटल

चित्र एवं प्रतिमा—दोनों के सामान्य अङ्ग

# प्रथम पटल

## प्रारम्भिका

१. वेदी
२. पीठ



## विषयानुक्रमणी—शेषाक्ष

सवर्धनक-रो-हस्त	८७	हस्त-पाली	१०६
सस्थान	८६, १११	हस्त-मुद्रा	७६, ६६, ११०
स्टक्कणी	८३	हस्त-वासी	३०
स्कन्ध-लेखा	१०१	हस्त-संयोग	८६
स्फिक्	१०२	हस्तावन-पत्नवकोलवण	१२०
स्तम्भ-शीर्ष	५८	हस्तिपक	३५
स्तुतिका	८२	हस्ति-शाला	१२, ३०
स्तोभ	४७	हास्य	७५
स्थानक-मुद्रा	१०२	हास्याण्डक	७१
स्थपति	२८, २६	हिवका	६७, ६६, १०१
स्थाली	४६	हिरण्यकशिपु	४६
स्थिरा	७६	हरी-ग्रहण	१५, ५८
सुही-वास्तुक	६७	हेला	२२
स्यन्दन	३६	हेपन	३२
स्वस्तिक	४२, १११, ११८, १२०	हृदय-रेखा	६८, १०२
स्वस्तिक-मुद्रा	६७	हृष्टा	७६
	ह	क्ष	
हतु-धारण	११७	क्षीर-गृह	१३
हरिण	७४	क्षेत्र	२०
हरिद्रु	३६	क्षोणी-भूषण	१५, १८, २०, २१
हस	७४	त्रिपताक	१०८
हसाक्ष्य	१०८	त्रिपताकाकृति	१२२
हस-पदा	१०८	त्रिपुर	५८, ६०
हंस-पृष्ठ	१६	त्रिविध-गति	१०६
हस्त-कूर्चक	६६	त्रेताग्नि-संस्थित	११५

द्वितीय खण्ड

अनुवाद

प्रथम पटल

प्रारम्भिका

द्वितीय पटल

राज-निवेश एवं राज-उपकरण

तृतीय पटल

शयनासन

चतुर्थ पटल

घन्ना-घटना

पञ्चम पटल

चित्र-संक्षण

षष्ठ पटल

चित्र एवं प्रतिमा—दोनों के सामान्य अङ्ग

# प्रथम पटल

प्रारम्भिका

१. वेदी

२. पीठ

## विषयानुक्रमणी—शेषांश

सवर्धनक, री-हस्त	८७	हस्त-माली	१०६
सस्थान	८६, १११	हस्त-मुद्रा	७६, ६६, ११०
स्टवकणी	८३	हस्त-वासी	३०
स्कन्ध-लेखा	१०१	हस्त-सयोग	८६
स्फिक्	१०२	हस्तावल-पत्नवकोत्खण	१२०
स्तम्भ-शीर्ष	५८	हस्तिपक	३५
स्तुतिका	८२	हस्ति-शाला	१२, ३०
स्तोभ	४७	हास्य	७५
स्थानक-मुद्रा	१०२	हास्याण्डक	७१
स्थपति	२८, २६	हिवका	६७, ६६, १०१
स्थाली	४६	हिरण्यकशिपु	४६
स्थिरा	७६	हरी ग्रहण	१५, ५८
स्तुही-वास्तुक	६७	हेला	२२
स्यन्दन	३६	ह्येन	३२
स्वस्तिक	४२, १११, ११८, १२०	हृदय-रेखा	६८, १०२
स्वस्तिक-मुद्रा	६७	हृष्टा	७६
		क्ष	
ह		क्षीर-गृह	१३
हतु-धारण	११७	क्षेत्र	२०
हरिण	७४	क्षोणी-भूषण	१५, १८, २०, २१
हरिद्रु	३६	त्र	
हस	७४	त्रिपताक	१०८
हसास्य	१०८	त्रिपताकाकृति	१२२
हस-पक्ष	१०८	त्रिपुर	५८, ६०
हस-पृष्ठ	१६	त्रिविध-गति	१०६
हस्त-चूर्चक	६६	त्रेताग्नि-संस्थित,	११५

## वेदी-लक्षण

वेदिया चार है जो पुरा ग्रन्थों के द्वारा कही गयी है उन्ही का भव हम नाम, सस्थान और मान से वर्णन करते है ॥१॥

पहली चतुरश्रा, दूसरी सर्वभद्रा, तीसरी श्रीधरी और चौथी पथिनी नाम से स्मृत की गई है ॥२॥

यज्ञ के भवमग्न पर, विवाह में और देवताओं की स्थापनाओं, सब नीराजनो में तथा नित्य-बलि-होम में, राजा के अभियेक में और शक्रध्वज के निवेशन में राजा के योग्य ये बताया गयी है और वर्णों के लिये भी यथाक्रम समझनी चाहिये ॥३-४॥

चतुरश्रा घेदी चारों तरफ से नी हाथ होती है । आठ हस्त के प्रमाण से सर्वभद्रा बताया गई है । श्रीधरी वेदी का मान सात हाथ समझना चाहिए और शास्त्रज्ञों ने मलिनी नाम की वेदी का छह हाथ का विधान किया है ॥५-६॥

चतुरश्रा वेदी को चारों ओर चौकोर बनाना चाहिए और सर्वभद्रा को चारों दिशाओं में भद्रों से सुशोभित करना चाहिए, श्रीधरी को बीस कौनों से युक्त समझना चाहिये और मलिनी यथानाम पथ के सस्थान को धारण करने वाली समझना चाहिये । अपने अपने विस्तर के तीन भागों से उन सब की उचाई करनी चाहिये तथा मन्त्र-पुरस्सर इष्टकाओं के द्वारा उन का चयन करना चाहिए ॥७-१०॥

यज्ञ के भवमग्न पर चतुरश्रा, विवाह में श्रीधरी, देवता के स्थापन में सर्वभद्रा घेदी का निवेशन करना चाहिए । अग्नि-कार्य-सहित नीराजन में तथा राज्याभियेक में पथावती वेदी नहीं गई है और शक्रध्वज-उत्थान में भी इसी का विधान है ॥११॥

चतुर्मुखी वेदी का विशेष यह है कि चारों दिशाओं में सोपानों से चतुर्मुखी बनाना चाहिए । उसे प्रतीहारों से युक्त और अर्धचन्द्रों से उपशोभित चार खम्भों से युक्त, चार घड़ों से शोभित तथा सुवर्ण, रजत, ताम्र अथवा मृत्तिका में बने हुए कलशों से सुशोभित करना चाहिए । और बड़े घड़े प्रत्येक कोन

पर सुदूर वानरों के चित्रों में भूषित विव्यस्त करना चाहिए। वेदिया के स्तम्भों का प्रमाण छाद्य छप्पर) के अनुकूल करना चाहिए ॥१२-१४॥

‘ एक, दो अथवा तीन आमलसाग्व छाद्य के डाँट स्तम्भ के मूल भागों को गुड़, राहद अथवा धृत में चित्रना कर अथवा श्रेष्ठ अन्न से निबना कर उनका यथास्थान विन्यास करे। पुनः देवताओं की पूजा कर के द्राक्षणों में स्वस्ति-वाचन करवाना चाहिये ॥१५-१६॥

वेदिया का लक्षण जो चार प्रकार का यहाँ बताया गया है वह सारा का सारा जिस स्थपति के मन में वर्तमान होता है, वह ससार में पूजित होता है और राजा की सभा में स्थपति गोभा को प्राप्ति करता है और उसका शुभ्र यश फैलता है ॥१७॥

## पीठ-मान

अथ देवो के और मनुष्यो के पीठ का प्रमाण कहा जाता है। एक भाग की ऊँचाई वाला पीठ कनिष्ठ (छोटा) पीठ, डेढ़ भाग वाला मध्यम और दो भाग की ऊँचाई वाला उत्तम—इस प्रकार पीठ की ऊँचाई बही गई है ॥१-२३॥

महेश्वर, विष्णु और ब्रह्मा का पीठ उत्तम होना चाहिए और अन्य देवों का पीठ बुद्धिमान के द्वारा वैसा नहीं करना चाहिए और ईश्वर का (राजा का) पीठ इन्द्रानुसार विजयन स्वपतियों के द्वारा बनाना चाहिये ॥२३-३॥

जिस पीठ पर ब्रह्मा और विष्णु का निवेश करना चाहिए वही सब जगह ईश्वर का निवेश किया जा सकता है। ऐसा करने पर दोष नहीं और देवों की पीठ की ऊँचाई एक भाग में प्रवर्तित है। जिस का जिस विभाग में वास्तु मान विहित है उसका उसी भाग से पीठ की ऊँचाई भी करनी चाहिए। मनुष्यों के परो के पीठ देव पीठों के तुल्य बराबर करने चाहिए अपवा देवों के पीठ अधिक करने पर देवता लोग वृद्धि करते हैं ॥३-७३॥

पुर के मध्य भाग में ब्रह्मा जी का उत्तम मन्दिर निर्माण करना चाहिए उसको सतुंभुय बनाना चाहिए जिस में वह सब पुर को देख सके। सब देवों से तथा राज-प्रासाद से भी उसे बड़ा बनाना चाहिए ॥७३-८॥

और देव-मन्दिरों से राज-प्रासाद अधिक भी प्रशस्त कहा गया है क्योंकि लोकपालों से श्रेष्ठतम पाचवा लोकपाल राजा कहा गया है ॥८॥

इस प्रकार में देवों के इन संपूर्ण पीठों का वर्णन किया गया। अब ब्राह्मणादि के यम में चारों वर्णों के पीठों का वर्णन करता हूँ ॥९०॥

३६ अंगुल की ऊँचाई का पीठ ब्राह्मण के लिये प्रशस्त कहा गया है और अन्य वर्णों के पीठ चार चार अंगुल से छोटे हों ॥११॥

चारों वर्णों के पीठों और गृहों को विप्र भोग करना है और तीन वर्णों का क्षत्रिय, दो का वैश्य और शूद्र केवल अपने पीठ का भोग करता है ॥१२॥

इस प्रकार पीठों का विभाग गृह-स्वामी का कल्याण चाहता हुआ और राजा की समृद्धि के लिए स्वपति परिवर्तित करें ॥१३॥



प्रमाण के अनुसार स्थापित किया गया एवं पूजा के योग्य होत हैं ॥१३३॥

ब्रह्मा, विष्णु, शंकर तथा अन्य देवों के पीठा का जो नियत प्रमाण कहा गया है वह सब वर्णित किया गया । तदनन्तर विप्र आदि वर्णों का भी पीठ-प्रमाण बताया गया । इस लिए कल्याण चाहने वाले स्थपतियों के द्वारा उस संपूर्ण पीठ-भात की योजना करनी चाहिए ॥१४॥

## द्वितीय पटल

- १ राज-निवेश
- २ राज-भवन

## राज-निवेश

चौमठ पद पर प्रतिष्ठित पुर निवेश यथाविधान, यथाङ्गोपाङ्ग का विधान करने पर अर्थात् यहा पर परिखाओ, प्राकाओ, गोपुरो, अट्टालको के निर्माण करने पर, गलियो का विभाग तथा चारो ओर चबूतरों का विभाग कर लेने पर और क्रमश अन्दर और बाहर बताए हुए देवताओ की स्थापना करने पर पूर्व दिशा मे जल बहुल प्रदेश मे अथवा पूर्व मे भागे के दरवाजे के उन्नत प्रदेश पर पश, श्री, विजय वाले मंत्र-पद-प्रतिष्ठित यथा-वर्णक्रमेण समान चारो कोने वाले शुभ पुर के मध्य भाग से ऊपर दिशा मे स्थित राजा के महल को बनाना चाहिये । १-८ ।

दुर्गो मे राज-महल ऊपर दिशाओ मे भी अथवा जहा उचित भू-प्रदेश प्राप्त हो वहा निश्चित किया जा सकता है और वहा पर विवस्वत, भूधर अथवा अर्धमा के किसी अन्यतम निर्दिष्ट पद निवेश विहित माना गया है ॥५॥

दो सौ सैतालीस चापों से युक्त पद मे ज्येष्ठ प्रासाद कहा गया है और मध्यम प्रासाद एक सौ वासठ और अन्तिम एक सौ आठ का होता है ॥६॥

ज्येष्ठ पुर मे ज्येष्ठ राज-निवेश का विधान है मध्यम ॥ मध्यम और छोटे मे छोटा है ॥७॥

यह राज-भाग पर आश्रित होता है और इस के वास्तु द्वार का मुख पूर्व की ओर होता है । चारो ओर प्राका १ एव परिखाओ से रक्षित, सुन्दर कालि वाले, अङ्गभ्रमो, निरुहो अर्थात् भवन विच्छिन्नितियो एव सुदृढ अट्टालको से युक्त इक्यासी पदो से विभक्त नृप-मन्दिर का निर्माण करना चाहिए । इसी युक्ति मे मध्य दिशाओ मे आश्रित पदो पर निर्माण करना चाहिये, इसका गोपुर-द्वार भस्माट-पद-वर्नी इष्ट माना गया है ॥८-१०॥

उम पुर के द्वार के विस्तार की ऊंचाई के समान कल्याणकारी मह-द्वार महीधर शेष नाम पर नियेद्य कहा गया है । विवस्वत मे पुष्पदन्त, अर्धमा मे गृहगत, और दूसरे प्रदक्षिण पदो मे अपरख इसी प्रकार से अन्य तमो अपनी अपनी दिशाओ मे द्वारो का निर्माण करना चाहिए । सब से अभिमुख्य होने पर वे सब गोपुर-द्वार प्रगस्त बहे गये है । ११-१३॥

उन नगर द्वारों में बीच अशों को छोड़कर सुग्रीव, जयन्त और मुख्य के पदों पर पक्ष-द्वारों का निर्माण करना चाहिए। अथ च उम्मी प्रकार से वितथ में प्रदक्षिण भ्रमों का निर्माण करना चाहिए ॥१४-१५॥

देवताओं के पद-समूहों में पुर के समान वास्तु-पद के विभक्त होने पर मंद पद पर राजा के निवेश के लिए पूर्व-मुख प्रमुख पृथ्वी-जय प्रसाद का यथावत निवेश करना चाहिये ॥१५-१६॥

श्रीवृक्ष, सर्वतोभद्र, अथवा मुक्तकोण इनमें से जिस किसी को राजा चाहे उस शुभ-लक्षण राज-प्रसाद का निर्माण करावे ॥१७॥

अब आइये नाना-विध राज-प्रसाद-निवेशों का सविस्तर वर्णन किया जाता है। शालायें एक कम-चांगियों के अपने अपने पृथक् पृथक् निवेशों के साथ राज-गृह निवेश होता है। प्राची दिशा में आदित्य भगवान् सूर्य के पद से सशित राज-गृह होता है। मध्य में धर्माधिकरण-अवधार-निरीक्षण का न्यास विहित है और मृग में कोष्ठागार और अम्बर में मृग एक पक्षियों का निवास बताया गया है ॥१८-१९॥

अग्नि की दिशा में प्राग्भ कर वायु की दिशा की ओर रसोई, पूजा में समाजनाश्रय तथा भोजन-स्थान का निवेश बताया गया है ॥२०॥

माविश्य में वाद्यशाला और सविता में बन्दि-गणों का निवास बताया गया है। वितथ में चर्मों का एक उनके योग्य अस्त्रों का विधान विहित है। मोना, चाही के कामों का गृहस्त में निवेश करना चाहिए। दक्षिण दिशा में गुप्ति कोष्ठागार बनाना चाहिये ॥२१-२२॥

प्रेक्षा-संगीत और बास-वेश्म गन्धर्व में स्थापित करने चाहिए। रथ-शाला और हस्ति-शाला का निर्माण वैवस्वत में करना चाहिए ॥२३॥

पश्चिमोत्तर भाग में वापी का निर्माण करना चाहिए ॥२४॥

गन्धर्व के बाहर वायु और सुग्रीव के पदों में प्राकार के बलय में आवृत अन्त पुर का स्थान बनाना चाहिए। अथच अन्त पुर के गोपुर-द्वार का निवेश जय पर तथा उसका मुख उत्तराभिमुखी बनाना चाहिए। मृङ्ग में कुमारी-भवन तथा क्रीडा एक दोला गृहों का भी निवेश करना चाहिये। स्थपति के द्वारा अपराङ्मुख वाले ऐसे प्रसाद का भी निर्माण करना चाहिए। मृग में नृप का अन्तःपुर और पित्र्य में अवस्कर अथच यथास्थान राजाओं की स्त्रियों का उपस्थान भी इन्द्र-पद में रहा गया है ॥२५-२७॥

सुग्रीव पद में आवृत अग्नि-द्वार नन्याणवारी होता है एक उभय

निवेश जयन्त तथा मुषीव पदो मे विशेष विहित है ॥ २८ ॥

मनोहर अशोक-वन के स्थान के लिए एक धारा-गृह एक लता मण्डपो से युक्त लता गृह भी यही पर होने चाहिए । सुन्दर मकड़ी के पर्वत, वापियां, पुष्प-घीघियां भी होनी चाहिए । पुष्पादन्त मे पुष्प-वैष्म तथा अतपुर के कर्मादिक निवेश करने चाहिए ॥ २९-३० ॥

वरुण के पद मे बापी और पान-गृह बनाने चाहिए । असुर मे कोष्ठागार, शोष मे आयुध गृह विहित बताये गये है । ॥ ३१ ॥

रौद्र-नामक सुन्दर पद मे भाण्डागार का निर्माण करना चाहिए और पाप-यक्ष्मा के पद पर उलूखन, शिलायन्त्र-भवन, अर्थात् शीखनी और चक्की के स्थान बनाने चाहिए ॥ ३२ ॥

राजयक्ष्मा मे लकड़ी के काम वाला घर कल्याणकारी होता है । वायु-दिशा मे रोग पद पर औषधियों का स्थान होना चाहिए । विद्वानों के द्वारा नागों का स्थान नाग के पद पर शुभ कहा गया है और मुख्य मे व्यायाम, नाट्य और चित्रा की शालाओं का विधान बताया गया है ॥ ३३-३४ ॥

भल्लाट-नामक पद मे गोवा का स्थान तथा शीर-गृह होने चाहिए । सौम्य के उत्तर-प्रदेश मे पुरोहित का स्थान कहा गया है । अथ च मही पर राजा का अभिषेक-स्थान तथा दान, अध्ययन और शान्ति के स्थान भी विहित बताये गये है । भूधर अर्थात् शेष नाग के पद पर नामर तथा छत्र के घर एक मन्त्र वरुण भी प्रतिष्ठाप्य है और यही पर बैठ कर राजा को अपने अधिकांशियों के कार्यों का निरीक्षण करना चाहिए । ३५-३७ ॥

उत्तर माय मे अधिष्ठित घाटो की वाजि दाला हानी है और वह महीधर के पद पर ही दक्षिणामुखी यथोचित रूप से राज-प्रसाद के अनुकूल सबभ वाजिशाला बनानी चाहिए । राजा अपने प्रसाद में जब प्रवेश करता है तो दक्षिण में वाजिशाला पडनी चाहिए और वाम भाग में गजशाला पडनी चाहिए । धरक नामक पद मे राज पुत्रों के घरों का निर्माण करना चाहिए और यहाँ पर इन लोगों की पाठशालाओं का निवेशन भी करना चाहिए । अथ च नृप की माता का निवेशन अदिति के स्थान में करना चाहिए । यही पर पूषक स्थान पर पालकी और शम्भा के घर अलग अलग रहें हैं ॥ ३८-४१ ॥

राजाओं के हाथियों की शालाओं का निर्माण आप पद पर उचित कहा गया है । यही पर मजो व अभिषेकनक स्थान विहित हैं ॥ ४१-४२ ॥

प्रापवत्स के पद पर हम्, त्रौच, गार्ग्य पश्वियों में कुत्रित, और जहा पर

कमल-वन खिले हुए है, ऐसे स्वच्छ सलिल वाले तालाबों का निर्माण करना चाहिए ॥४२३-४३३॥

चाचा, मामा आदि के घर दितिपद में होना चाहिए ।

राजा के अन्य मामन्त आदि ऊँचे अधिकारियों के भी घर यही पर विहित हैं ॥४३३-४४३॥

ऐशानी दिशा में अनल-स्थान पर ऊँचे ऊँचे स्तम्भों एवं उत्तङ्ग वेदिकाओं से युक्त अच्छी अच्छी मणियों से बने हुए सुन्दर देव-कुल का निर्माण करना चाहिये ॥४४३-४५३॥

पञ्च-य के पद पर ज्योतिषी का घर कहा गया है ॥४५॥

सेनापति को विजय देन वाले घर का निर्माण जयाभिध-पद पर करना चाहिए तथा इस भवन को अर्धमा के पद में प्राकार-समाधित द्वार प्रशस्त कहा गया है । और यही पर पूर्वदक्षिणाभिमुखीन शास्त्र-कर्मन्ति शास्त्र-भवन भी उचित है ॥४६-४७३॥

राज-प्रासाद-निवेश में इन्द्र-ध्वज-युत ब्रह्मा का स्थान किसी भी निवेश के लिये वर्जित बताया गया है । इसी स्थान पर केवल अशुभ वेदमो का विधान है और यही पर अमुलावह गवाक्ष एवं स्तम्भा-शोभिनी शालाओं का भी विधान विहित है ॥४७३-४८॥

राज-प्रासाद की रक्षा के लिये यथादिक्-प्रभवा सभा का निवेश बताया गया है । साथ ही साथ राज प्रासादों के सम्मुख गजशालाएँ अनिवार्य हैं, अथवा पुण्ड-भाग में भी विहित है ॥४८-४९३॥

इस प्रकार के शास्त्रानुकूल विधान के अनुसार दश प्रभाद तुल्य राज भवन का जो राजा अनुष्ठान करता है वह सप्तद्वीप सप्तसागर-पर्वन्ता मही का प्रशामन करता है तथा अपने पराक्रम में सभी क्षत्रियों पर विजय प्राप्त करता है ॥५१॥

## राज-गृह

१०५ कर अर्थात् हस्त वाला ज्येष्ठ, ६० हस्त वाला मध्यम, ७० हस्त वाला निवृष्ट राज-वेश्म बनाया गया है अतः महान विभूति एवं सम्पदा को चाहने वाला इसमें हीन मान से राज-वेश्म का निर्माण न करावे ॥१-२३॥

क्षेत्र के चौकार बना लेने पर, दश भागों में विभाजित कर आदि कोण में आश्रित दीवाल आधे भाग से कही गयी है ॥२३-२३॥

चार खम्भों से युक्त मध्य में चार भाग वाले अलिन्द का निर्माण करे और बाहर का अलिन्द बारह खम्भों से आवृत निर्माण करे । तदनन्तर बीच में थोड़ा खम्भों से युक्त दूसरा अलिन्द होता है और तीसरा भी २५ खम्भों वाला होता है और ३६ खम्भों से चौथा अलिन्द विहित है । इस प्रकार से पृथ्वी-जय नामक राज-वेश्म में १०० खम्भे विद्वानों के द्वारा बनाये गये हैं ॥२३-६३॥

उस के चार दरवाजे होते हैं जो कि पञ्चशास-द्वार विहित है । उसमें चारों निर्गम (निकास) प्रत्येक दिशा में होते हैं वे सब बगल में होते हैं । और इसी प्रकार से चारों दिशाओं में भद्राओं का निवेशन विहित है ॥६१-७॥

बीच की दीवाल के आधे में तीनो भद्रों में दीवाल होती है प्रत्येक भद्र में २६, २६ खम्भे रहे गये हैं ॥८॥

मुख-भद्र वेदिवाशों और मन्त्रवाणों से युक्त कहा गया है । क्षत्र-भाग का उदय आदि भूमि के समक तब कहा गया है ॥९॥

आदि भूमि की ऊँचाई के आधे में इस का पीठ वर्णित होना चाहिए । सब भागों से ऊँचाई करके एक भाग में कुम्भिका बनानी चाहिए ॥१०॥

चारों भागों में अष्ट अक्ष से युक्त स्तम्भ-निर्माण करना चाहिए, बाद युक्त एक भाग से उत्तालक बनाना चाहिए ॥११॥

पाद-रहित भाग से हीर-ग्रहण करना चाहिए । खम्भों से युक्त सपाद एक भाग का पट्ट निर्मेय है । पट्ट के आधे में ज्योतिषों का निर्माण करना अभिप्रेत है । अन्य भूमियों पर यही क्रम रहे, पश्चिमी निर्मित भाग में ऊँचाई में यथा छोड़

दिया जाता है अर्थात् तलभूमि से ऊपर की भूमियों का ह्रास आवश्यक है। पञ्च भाग का प्रमाण वाला नवा तल सच्छाद्य होता है। वेदिका का नीचे का छाद्य साढ़े तीन भागों का प्रमाण वाला और वह कण्ठ से युक्त बनाना चाहिए जिसमें वेदिका ढक जाए अथवा उम का कण्ठ बीच में डेढ़ भाग में बनाना चाहिए ॥१२-१५॥

वेदिका का विस्तार अर्धसप्तम भागों में करना चाहिए और वेदिका के ऊपर घण्टा साढ़े चौदह भाग में, पाद सहित दो भागों से कण्ठ, पाल से षट्, चार से दूसरा और फिर तीन से तीसरा गोभा के अनुसार इच्छानुसार बंद-शीर्ष देना चाहिए। क्षेत्र-भाग के बराबर चूलिका का कलश बनाना चाहिए ॥१६-१८॥

भूमि की ऊँचाई के आधे से अन्तरावकाश में तल होना चाहिए और उसका मृगोभित पीठ जैसा अच्छा लगे वैसा बनाना चाहिए। इसकी खुर-परण्डिका ढाई भाग से, जघा चार भाग से, उसके बाद छाद्य-प्रवृत्त करे ॥१९-२०॥

एक पाद कम दो भागों में छाद्य पिण्ड बताया गया है और इसके ऊपर हम नाम का निर्गम चार हाथ वाला बनाया गया है ॥२१॥

उसके बाद दूसरा छाद्य एक पाद कम एक भाग से, प्रासाद की जघा चार भागों से प्रकल्पित करे ॥२२॥

चौथी भूमिका के मिर पर फिर मुण्डों का निवेश करे और शेष भूमिकाएँ क्षण-क्षण प्रवेश में बनानी चाहिये। पूर्वोक्त प्रकार से वर्णित क्रम में घण्टा सहित और कलशों में युक्त वेदिका होनी चाहिए और रेखाओं की शुद्धि से सब मुण्ड ठीक तरह से बनाना चाहिए ॥२३-२४॥

ऊँचाई के आध के तीन भाग करके और फिर तीसरे भाग के दश भाग करें—वामन, आतपन, कुबेर भ्रमरावनी, हमपृष्ठ, महाभोगी, नारद, शम्बुक, जय और दशवा अनन्त, स्वपति मुण्ड की रेखाओं की प्रसिद्धि के लिए इन उदयो का निर्माण करें ॥२५-२७॥

इस प्रकार अगवेदिका, जाल और मत्तवारणों से गोभित विन्दिकाओं और निर्गुहों से युक्त, चन्द्रशता से विभूषित, कर्माङ्ग और वहवित्र उम पृथ्वी-जय नाम का प्रासाद निर्माण करे ॥२७॥—२८॥

जो बड़े बड़े प्रासाद बहे गये हैं वे बराबर ऊँचाई वाले बनाने चाहिये। अवाक् कोण से ऊँचाई के आधे से छोटे हो यह क्रम है ॥२९॥

प्रागे भाग से ऊँचाई क्षेत्र-विस्तार युक्त दूसरा प्रासाद कहा गया है। इसका नाम विभूषण (क्षोणी-विभूषण) है ॥३०॥

जिन में बहुत से निवर हो, उन में आगन दिया जाना है। पहिली



रेखा अथवा दूसरी रेखा में या फिर तीसरी रेखा में सम्मरण बताया गया है। दस भाग वाले क्षेत्र में इस तरह से भूमि का उदय करना चाहिए। कम और अधिक विभक्त क्षेत्र होने पर यथोचित करना चाहिए ॥३१—३३॥

अब क्रम-प्राप्त मुक्तकोण नामक प्रासाद का लक्षण कहा जाना है ॥३३॥

क्षेत्र के चोकोर कर लेने पर द्वादश भागों में विभाजित करने पर इस के मध्य भाग को चार खम्भों से विभूषित करना चाहिए, एक भाग से अलिन्द १२ खम्भों से युक्त होता है और इसी के समान दूसरा अलिन्द भी बीस धरो से धारित कहा गया है। तीसरा अलिन्द २८ धरो से और चौथा अलिन्द ३६ से, ४४ धरो में पाचवा कहा गया है ॥३४—३७॥

प्राथम्य भाग से दीवाल बनवावे, डेढ भाग को छोड़कर फिर तीन भाग करे। उस से प्राचीव का द्वैर्घ्य और विस्तार बनावे। इन के विस्तार और निर्माण एक भाग से भद्र का निर्माण करे। उसमें एक भाग छोड़ कर इस का दूसरा भद्र होता है। भाग-निर्माण और विस्तार का सभी दिशाओं में यही क्रम है ॥३७१—३९॥

५४ खम्भों से युक्त एक एक भद्र युक्त होता है और इस के मध्य में १४४ खम्भे विहित हैं अथवा २१६ दोनों मिला कर इस प्रकार से सब धरो की मर्यादा ३६० (१४४+२१६=३६०) हुई। यहां पर गोप निर्माण पृथ्वी-जय के समान ही इष्ट होता है ॥४०—४२॥

सम्पूर्ण निवासों में तीसरी भूमिका के ऊपर आगनों का निर्माण करना चाहिए। यह विशेष यहां पर फिर बता दिया गया है ॥४२३—४३॥

इसी प्रकार सर्वतोभद्रमन्त्र तथा शत्रुमदन मन्त्र राज वेश्म में यही विधान करना चाहिए। और यही मण्डरवा-प्रमिद्धि के लिए क्रम है ॥४३१—४४॥

श्रीवत्स के भी मध्य में मुक्तकोण के समान स्तम्भ आदि प्रवर्त्यन करे। डेढ भाग को छोड़ कर तीन भागों से विस्तृत एक भाग से निकला हुआ इसका प्राचीव होता है और इस का भी मुक्तकोण के समान ही मध्य भद्र का विधान है। यह विधि सम्पूर्ण दिशाओं में है। गोप पूर्ववत् है। हर एक भद्र में ३० द्वादश खम्भे होते हैं सब धरो की मर्यादा १२० होती है और इसी प्रकार में सब स्तम्भों की मर्यादा २६४ होती है ॥४४१—४८॥

सर्वतोभद्र-नामक वेश्म का अब लक्षण कहने है। चोकोर क्षेत्र को १४ भागों में विभाजित करने पर चार खम्भों से विभूषित और इसका चतुर्दश एक भाग वाला कहा गया है और द्वादश खम्भों में युक्त प्रथम अलिन्द, बीस में दूसरा

२८ स्तम्भों में तीसरा, ३६ में चौथा, ४४ में पाँचवा, ५२ में छठा प्रतिन्द विहित है। सब घोर से सुदृढ़ घोर पन धाये भाग में दीवाल कही गयी है ॥४६-५३॥

बेड़ भाग को छोड़ कर तीन भागों में विस्तृत बरुणों का प्राग्भोवन विहित है घोर एक भाग में निर्गम ॥ ५४ ॥

भाग-निर्गम-विस्तृत इसका भी भद्र करना चाहिए। दो भागों में निबला हुआ मध्य में भद्र बनाना चाहिए। इसका भी बीच में तीन भागों से विस्तृत भद्र होना चाहिए। एक भाग से निर्गम, अन्तर भाग से निर्गम कहा गया है। भाग-विस्तार में युक्त दूसरा भद्र प्रकल्पित करना चाहिए। भद्रों के प्रकल्पन में यह विधान सब दिशाओं में बताया गया है ॥५५-५७॥

इस रात्र-प्रागाद के मध्य भाग में स्तम्भों की संख्या १६६ होनी चाहिए घोर इन सभी भद्रों में १६० स्तम्भ होंगे। इस प्रकार सब स्तम्भों की संख्या ३५६ होती है। परन्तु इसकी जगह तीन भूमिकाओं वाली बतायी गई है ॥५८-६०३॥

हानु-मर्दन नामक राज वेध का सब मक्षण कहते हैं। पृथ्वी-त्रय के समान मध्य में हमकी दीवाल उगी प्रकार होनी चाहिए। बेड़ भाग को छोड़ कर एक भाग में घायत घोर विस्तृत घोर उम क बीच में तीन भागों में विस्तृत भद्र बनावे घोर इसी प्रकार तीन भागों में निबला हुआ भद्र बनाय। दोनों पार का भद्र प्रायति घोर विस्तार में तीन भागों में विस्तार घोर एक भाग में निर्गम विहित है। वहाँ पर भी मध्य भद्र एक भाग से घायत घोर विस्तृत घरी वम ६५ की गिडि के लिए सर्वा दिशाओं में करनी चाहिए ॥६०३-६४॥

गये है ॥६८३—७०३॥

क्षेत्र के चौकार करने पर दश भागो मे विभाजित कर मध्य मे चार लम्बो वाला चतुष्क बनाना चाहिए । बाहर का अलिन्द एक भाग और अन्त में अश-त्रय से आयत, तीन भागो से विस्तृत कर्ण-प्रासादो का निर्माण करना चाहिए । उनके मध्य में पङ्क-दाहक होना चाहिए । प्राधे भाग के प्रमाण मे युक्त दीवाल और उसका चतुष्क बहिर्भाग-निष्क्रान्त और भद्र मे एक भाग से विस्तृत तीन प्राचीवो से युक्त, और एक भाग के अलिन्द से वेष्टित और प्राधे भाग की भित्ति से वेष्टित होता है । इस प्रकार यह मनोहारी भवनि-शंखर (छोली-विभूषण) राज-प्रासाद होता है । ७०३—७४॥

क्षेत्र के चौकोर कर लेने पर १२ भागो मे विभाजित कर मध्य मे एक भाग से चतुष्क और दश भागो से बाहर के दो अलिन्द, कर्णों में त्र्यकोणक-प्रासादो का सन्निवेश करें और उनके अन्दर पङ्क-दाहक का सन्निवेश भी अनिवार्य है । तब बाहर सब तरफ प्राधे भाग से दीवाल बनानी चाहिए । भद्र मे एक भाग से आयत चारो दिशाओ मे भाग-विष्क्रान्त होना चाहिए । और इस का चतुष्क एक भाग वाले अलिन्द से वेष्टित कहा गया है और इसकी तीन भद्राधे भाग विस्तार और निर्गम वाली बनाना चाहिए और वे प्राध भाग की भित्ति से वेष्टित हों । ऐसा विधान है—कर्ण कर्ण मे विस्तीर्ण भाग निर्गत २ भद्र चाहिये । इस प्रकार का राज-प्रासाद भुवन-तिसक नाम से सङ्कीर्तित किया गया है ॥७५—८०३॥

क्षेत्र को चौकोर कर लेने पर उस को १२ भागो मे बाट लेने पर चार लम्बो वाला चतुष्क मध्य मे एक भाग से निर्मित कर और उसके बाहर वाला अलिन्द एक भाग मे और दूसरा भी एक भाग से । कर्णों मे त्र्यकोणक-प्रासादो का विनिवेश करें और उसके अन्दर पङ्क-दाहको को लगावे । उसके बाद बाहर सब तरफ प्राधे भाग से दीवाल बनावे । भद्र मे एक भाग से आयत भद्र विनिष्क्रान्त चार लम्बो वाला चतुष्क होता है और वह एक भाग वाले दो अलिन्दो से परिवेष्टित होता है । तीन भागो से विस्तृत एक भाग विनिर्गत बाहर का भद्र होता है । दोनो तरफ दोनो भद्र एक भाग से बराबर करने चाहिये और भद्र के चारो तरफ बाहर की प्राधे भाग से भित्ति बही गई है । चारों दिशाओ मे इस प्रकार विधान कहा गया है और यह प्रासाद विलास-स्तवक के नाम से प्रसिद्ध है ॥८०३—८६॥

कर्णों के दो दो प्राचीव और शाला के दो प्राचीव जब इसके हो तो

इसका नाम कीर्ति पातक कहा गया है ॥ ८७ ॥

इसी की पीठ पर चारो तरफ आठ निर्मुक्त खानाभो मे परिवेष्टित एव शालायें एक दूसरे मे सम्बन्ध कर्ण-प्रासादो से युक्त गानोज्ज्वल कोनो से युक्त प्रासादो मे सुन्दर भुवन-मण्डन जानना चाहिए ॥ ८८—८९ ॥

तल-छन्द ये बताये गये, जो जघा, सवरण आदि और भूमि-मान आदि सब पृथ्वी-जय के समान होते हैं ॥ ९० ॥

अथ क्षोणी-भूषण वेदम का लक्षण कहता हू ॥ ९१ ॥

५५ हाथो से कल्पित चौकोर भूमि को आठ भागो मे विभक्त कर, चार खभो मे युक्त चतुष्क बनाया गया है और इसका अलिन्द पहला १२ खम्भो से और दूसरा २० और तीसरा २८ से युक्त होता है ॥ ९१-९३ ॥

भित्ति व डेढ भाग को छोड़ कर एक भाग से निर्गत, पाच भाग से विस्तीर्ण भद्र कहा गया है और दूसरा मध्य भद्र भी तीन भागो से विस्तृत और एक भाग से निर्गत बनाना चाहिए । उसके आगे क भद्र एक भाग से विस्तृत और एक भाग से निर्गत कहे गये हैं । इस प्रकार से इसकी सिद्धि के लिए यह विधि सब दिशाभो मे बनायी गयी है । सारदारु से निर्मित एव १८ हाथ के प्रमाण से ६४ मध्य-स्तम्भो से युक्त प्रत्येक भद्र का निर्माण करे । इस तरह यहा पर सब जगह खम्भो की संख्या १२६ होती है । इसके चार दरवाजे करने चाहिये जो यग, लक्ष्मी और कीर्ति व वधन करने वाले हात हैं ॥ ९४—९८ ॥

अथ पृथिवी-तिलक का लक्षण कहा जाता है । ४० हाथ वाल क्षत्र का तीन भागो मे विभक्त कर भीतर व चार खभो से स्रूपित एक भाग से चतुष्क और अलिन्द भी बारह खम्भो मे युक्त एक भाग वाला होता है और दूसरा अलिन्द बीस से और इसकी भित्ति एक पाद बामी (पादिका) कर्णो मे तीन भागो मे निर्गत प्रायत प्रासाद (त्रण-प्रासाद) कहा गया है ॥ ९९—१०१ ॥

एक भाग निर्गत एव विस्तृत इसके दोना भद्रा का निमाण करना चाहिए । वर्ग और प्रासाद व मध्य मे पाच भागो से विस्तृत और एक भाग से निर्गत मध्य भद्र कहा गया है । तीन भाग मे विस्तीर्ण एक भाग मे निर्गत मध्य मे दूसरा भद्र बनाया गया है । इस प्रासाद के भीतर ३६ खम्भ और भद्रा पर २०८ खम्भ बताये गये हैं ॥ १०२—१०४ ॥

अथ रजः वाद श्रीनिवास का लक्षण कहता हू । इसका मध्य पृथिवी-तिलक के समान परिकल्पित किया गया है । मपाद भाग छोड़ कर तीन भाग से विस्तृत, एक भाग मे निर्गत इसका पहला भद्र होता है । उस व भी मध्य

भाग वाला दूसरा भद्र एक भाग से निर्गम एव विस्तृत, सुदृढ दश खभो से युक्त कहा गया है। सभी दिशाओ में इसी प्रकार की भद्र-कल्पना की जानी चाहिए। इकट्ठी सख्या से इसके ७६ खम्भे होते हैं ॥ १०५—१०८ ॥

अब उसके बाद प्रताप-वर्धन का लक्षण कहा जाता है। माढे अठ्ठाईस हाथो से विभक्त होने पर मध्य में चार घरो (खम्भो) से सम्भृत और भागैर्विहित चतुष्क और इसका घनिन्द १२ खभो से युक्त एव भागैर्विहित बताया गया है। इसकी भित्ति पादिका ज़ोनी है और इसका भद्र भाग-निर्गम-विस्तार वाला चार खम्भो से भूपित होता है। इसकी सिद्धि के लिए समग्र दिशाओ में यही विधि करनी चाहिए। बाहर भीतर के ३२ स्तम्भ कहे गये हैं और सर्वां धरो (खम्भो) की गणना ६४ बहो गयी है ॥ १०९—११३ ॥

अब लक्ष्मी-विलास का ठीक तरह से लक्षण कहता हूँ। प्रताप-वर्धन की तरह ही इसका मध्य प्रकल्पित करें। प्रताप-वर्धन के समान ही सब तरह से यह कहा गया है। परन्तु इसके भद्रो के कोनो में ही पार्श्व-भद्र करना चाहिए और दोनों पार्श्वों में भी भद्रो का सन्निवेश कहा गया है। इन भद्रो का निर्गम एक भाग का होता है—यह विशेष कहा गया है। इसका भद्र १० खम्भो से और मध्य भद्र १६ धरो से विहित बताया गया है। चारो दरवाजे इच्छानुसार अणम-प्यग और अपने पद में सुशोभित दमरा दरवाजा बनावे ॥ ११३ १/२—११७ ॥

अब विशेष उल्लेखनीय विधि यह है कि साढे छैं भूमियो में क्षोणी-भूषण का निर्माण करें और पृथिवी निलक-सज्जक वैश्य साढे आठ भूमियो से, श्रीनिवास साढे पाच भूमियो से, लक्ष्मी विलास भी साढे पाच भूमियो से तथा प्रताप-वर्धन साढे चार भूमियो से विनिर्मय है। ११५-१२० १/२ ॥

राजाओ के पृथ्वी-जय आदि निवास-भवन और क्षोणी-विभूषण आदि विलास-भवन जो राजाओ के निवास और विलास के लिए बह गये हैं उन पृथ्वी-जय आदि राज-वेश्मा के दरवाजों का अब मान कहा जाता है ॥ १२० १/२—१२२ १/२ ॥

५४ अंग सहित तीन हाथ से विस्तृत द्वार का उदय अर्थात् ऊँचाई कही गयी है, उसमें आगे से उसका विस्तार और उसके उदय के तीसरे भाग से खभो का पिण्ड कहा गया है ॥ १२२ १/२—१२३ ॥

सपाद, सचतुष्कर, सत्ताइसवा गृह-भाग राज-वेश्मो की पहिली भूमि कही गयी है ॥ १२४ ॥

भूमि की ऊँचाई के नौ भाग से विभक्त करने पर उसने चार अंशों में निर्गम,

दो घण्टों में छाद्यक और पाद कम से ऊँचाई विहित बतायी गयी है ॥ १२५ ॥

इसी प्रकार से भीतर की जमीन छाद्यक-उच्छ्राय-निर्गत हरीग्रहण-पिण्डाग्र-वाहृत्य करने पर वह प्रसस्त होती है। उसका अपना ही वाहृत्य पादकम विस्तृत कहा गया है। अन्तरावणिका के समान मदला का विन्निगम बताया गया है। अपने निर्गम में उसको पाद-मदित ऊँचाई होती है और इसकी भूमि भी ऊँचाई के नवै अग के पाद में हमका पिण्ड द्रष्ट होता है। तीन भाग से कम भूमि के नौ घण्टों से मदला का विस्तार कहा गया है। लुमा-मूल का विस्तार खमो का प्राधा कहा गया है। वह तीन घण्टों से अग्रभाग में विस्तीर्ण और घाट में मूल में विहित बताया है ॥ १२६-१२७३ ॥

मनीषियो ने तुम्बिनी, लुम्बिनी, हेला, शान्ता कीला मनोरमा तथा प्राध्माता—ये सात लुमाय बताई हैं। उनमें से तुम्बिनी सीधी होती है और प्राध्माता कर्णवा बताई गयी है। प्रमथः अन्तराल में पात्र अन्य लुमायें कही गयी हैं ॥ १२७३-१२७३ ॥

स्तम्भ में हाथ धरने के लिए बृह शुभ मदला रखे। स्तम्भ के प्रभाव में फिर उसके कुड्य-पट्ट पर बुद्धिमान रखे। मल्ल-नामक छाद्य में सात घण्टा पात्र या तीन लुमायें कही गयी हैं। इनके दोनों में इनके अलावा अन्य प्राज्ञ और सम बनानी चाहिये। छाद्य में कर्ण से कही कही उनको मल्ल-प्रानन-मल्लद्वरण से विभूषित बनाना चाहिए। ये विद्याधरो ने युता और कही पर गजतुण्डिका-युता (मूढ वाणी) बनाना चाहिए ॥ १२७३-१२७३ ॥

दृग मकुम्भिक-स्तम्भ का उदय सीम प्रकार से विभाजित कर उस में दो भागों को प्राधे प्राधे चार भाग करे। वही पर पादकम भाग से राजितामनक अलङ्कृत होना है और उसके बाद उत्फालक-मदित साध्रिभागा वेशी विनिमित्त होनी है ॥ १२७३-१२७३ ॥

## राज-निवेश-उपकरण

१. सभाष्टक
२. गज-शाला
३. अश्व-शाला
४. नृपायतन

## सभाष्टक-आठ सभा-भवन

आठ प्रकार की सभायें (सभा भवन) होती हैं—मन्दा, जया, पूर्णा, भाविता दक्षा, प्रवरा और विदुरा ॥१॥

क्षेत्र को चौकोर कर, मोसह भागो में विभाजित कर मध्य में चार पद हो और सीमालिन्द एक भाग वाला हो । उसी प्रकार आदि का अलिन्द और उसी प्रकार प्रतिसर नामक अलिन्द भी विहित है । और प्राचीव नामक तीसरा अलिन्द क्षेत्र के बाहर चारों दिशाओं में होना चाहिए ॥२-३॥

राज-भवन की चारों दिशाओं में सभा-भवन बनाने चाहिये । क्रमशः तब मन्दा, भद्रा, जया, पूर्णा ये सभायें होती हैं ॥४॥

क्षेत्र को पद भागो में विभाजित करने पर कर्ण-मिति का निवेदन करे, तो प्राचीव वाली भाविता नाम की पाचवी सभा होती है । इन पाचों सभाओं में ३६ खम्भों का निवेदन करे और प्राचीव में सम्बन्धित खम्भों को इन से अलग अलग विनिर्दिष्ट करे ॥ ५-६ ॥

दक्षा नाम वाली छठी सभा चांगे तरफ में तृतीय अलिन्द से वेष्टित बनी गयी है और प्रवरा नाम की सातवी यह सभा द्वारों से युक्त परिकीर्तित की गयी है । प्राचीव और द्वार से युक्त आठवी विदुरा नाम की सभा बनी गयी है । इस तरह इन आठों सभाओं का लक्षण बताया गया है ॥ ७-८ ॥

इस प्रकार से आठों सभाओं का ठीक तरह से दिशा-सम्बन्धित अलिन्द-भेद से लक्षण बताया गया है । उसी प्रकार से द्वार और अलिन्द के मध्य के जानने पर राजाओं का स्थान-योग भी सम्पादित होता है ॥ ९ ॥



## गज-शाला

अब गज-शालाओं का खणन कहता हूँ ॥१॥

चौकोर क्षेत्र बना कर फिर आठ भागों से विभक्त कर मध्य में दो भागों से विस्तृत हाथी का स्थान बनावे । प्रामाद के समान त्रयणः ज्येष्ठ, मध्यम और अश्वमेध गजशालाओं के भागों का प्रवर्णन करे ॥१—२॥

उसके बाहर एवं भाग में अतिन्द और उसके भी बाहर दूसरा अतिन्द, एक भाग में भित्ति का निर्माण भी हमने अतिन्द से बाहर करना चाहिये ॥३॥

उस गजशाला के द्वारों पर दो कूर्पों का निर्माण करना चाहिये और हमने अतिन्द के महारे कर्ण-प्रामादिका का निर्माण करना चाहिए ॥४॥

दीवाल में चारों दिशाओं में दो दो गवाक्षों का निर्माण करना चाहिए । अश्वभाग में प्राचीव होना चाहिए । इस शाला का नाम सुभद्रा बताया गया है ॥५॥

जब इसी शाला में सामने दो पक्ष-प्राचीव होते हैं, तब इस शाला का तदिनी नाम चरितार्थ होता है । यह हाथियों की वृद्धि के लिये शुभ कही गयी है ॥६॥

इसी शाला के दोनों तरफ जब दोनों प्राचीवों का सन्निवेश किया जाता है तो गज-शाला का यह तीसरा भेद मुभोगदा नाम में परिकीर्तित किया जाता है ॥७॥

इसी शाला के पीछे जब दूसरा प्राचीव निर्माण किया जाता है तो गजशाला का यह चौथा भेद हाथियों को पुष्टि देने वाली भद्रिका नाम में विख्यात होती है ॥८॥

पाँचवीं गज-शाला चौकोर होती है और यह वपिणी नाम से कीर्तित होती है । हमने अतिशक्ति स्रष्टी गजशाला प्राचीव, अतिन्द, निर्युह में हीन बताया गयी है । आर्य, धन और जीवन का अग्रहण करने वाला यह प्रमारिका नाम की शाला होती है । हम निम्न इस का वर्णन किया गया है और अन्त्य मय गज-शालाओं का महत्त्व मनोरथ-गम्पादन के लिए निर्माण करना चाहिए ॥९—१०॥

वास्तु-शास्त्र में इस प्रमाणिका नाम की जो शाला बही गई है वह जीवन, धन और धान्य के नाश का कारण होती है। इस लिए उसको न बनाए और जो खेद शालाये बही गई है उनको जीवन और धन की वृद्धि के लिए अवश्य बनायें ॥११॥

## अश्व-शाला

अश्व अश्व-शाला का लक्षण विस्तार-पूर्वक कहता है । अपने घर की वास्तु अर्थात् राज-प्रासाद के गन्धर्व-सजक पद में अथवा पुण्यदन्त-सजक पद में घोड़ों के रहने के लिए स्थान बनावे ॥१-२१॥

उपेष्टा शाला सौ अरत्तियो (हाथों) के प्रमाण की, मध्यम ८० और अधम ६० की कही गई है ॥२३-२३॥

सुपरिस्कृत प्रदेश से आगलिक स्थान पर घोड़ों का शुभ स्थान बनाना चाहिए । यह प्रदेश ऐसा हो जिसका स्थल-प्रदेश अर्थात् मैदान काफी बड़ा हो, वह स्थान गुप्त हो, सुन्दर और शुचि होना चाहिए, बराबर चौकोर, और स्थिर भी विहित है ॥२३-४॥

नीचे के गुल्म अर्थात् क्षुद्र झाड़ियों और सूखे वृक्षों, चैत्य और मन्दिर तथा बाबी और पत्यगो से वर्जित प्रदेश में घोड़ों के स्थान का सन्निवेश करे ।

निस्मग, काटो में रहित (शल्य-हीन) पूवाभिमुख जल-सम्पन्न प्रदेश में ठीक तरह से देखदाख कर उसका निर्माण करे ॥५-६॥

ब्राह्मणों के द्वारा बनाये गये किसी शुभ दिन स्वपतियों के साथ भूमि के विभाग को देय कर शुभग एक शुभ वृक्षों को लाना चाहिए जिनकी लकड़ी से अश्व-शाला के सभार प्रतिष्ठाप्य होंगे । ऐसे वृक्ष नहीं लाने चाहिये जो इमशानों में, देवतामतनी में अथवा अन्य निषिद्ध स्थानों में उत्पन्न हुए हों ॥७-८॥

गृह-स्वामी के घर के समीप प्रशस्त वृक्षा का लाकर फिर प्रशस्त और अप्रशस्त भूमि की परीक्षा करे ॥९॥

इमशानों में, बाबी प्रदेशों में, ग्रामों में और धान्य के बूटने वाले स्थलों में और बिहार-स्थानों में घोड़ों का निवेशन-स्थान नहीं बनाना चाहिए ॥१०॥

गावों में और धान्यस्थलों में अश्व-शाला के निवेशन करने से स्वामी को पीडाएँ प्राप्त होती हैं । इमशान में वाजि-वेशम-निवेशन में मनुष्यों की मृत्यु कही गयी है ॥११॥

बिहारों और बन्नीकों में बनाया गया अश्व-स्थान अनपेक्षणी, तथा

तपस्विनो के लिए नित्य मत्ताप-काग्री और विनाश-काग्री होना है ॥१२॥

चैत्य में उत्पत्ति होने वाले वृक्षों के द्वारा निर्मित वाजि-मदन देवोपघात का जन्म करने वाला, स्त्रियो का नाश करने वाला और भूतो का भय देने वाला होता है ॥१३॥

काँटे वाले पेड़ों में विहित होने पर स्वामी के लिए गेग-काग्व होना है । फटी हुई और उन्नत जमीन पर बग्ने में वह क्षयावह होती है ॥१४॥

नीची भूमि में बनाया गया वाजि-मन्दिर क्षुधा और भय का कारण बहा गया है । इस लिए उसको प्रवृत्त भूमि में घोड़ों की वृद्धि के लिए करना चाहिए ॥१५॥

शुभ और रमणीय, मनोज्ञ और चौकोर स्थान में बनाया गया वाजि-मदन सद्यः कल्याण कारक होता है । स्थपति वाजियो का निवेशन इस प्रकार करें कि मालिक के निकलने पर उसके वाम पार्श्व में छोड़े हो । अन्त पुर-प्रदेश (रनिवास) के दक्षिण भाग पर उसका निर्माण करना चाहिए जिस में राजा के अग्नपुर में प्रवेश करने पर दाएँ तरफ़ उसका हिनहिनाना सुनाई पड़े ॥१६-१८॥

स्वामी के हित के लिए घोड़ों की शाला उचित करनी चाहिए और उस का मुख (शरवाजा) मोर्गण-महित पूर्व की ओर या उत्तर की ओर बनावें । १९॥

प्राचीन से युक्त चार शालाया वाला और खुला हुआ दश अग्निलि ऊँचा और आठ अग्निलि विस्तृत, नागदन्तो (खूंटियों) में शोभित मामने आधी कुड्य से युक्त हो, बहा पर इस प्रकार के वाजि स्थान की कल्पना करें और बहा पर घोड़ों के थाने बनाने चाहिए जो पूर्व-मुख हो अथवा उत्तर-मुख हो । आयाम में एक बिष्कु और विस्तार में तीन बिष्कु ॥२०-२२॥

उनके ऊपर के भागों को लम्बे, ऊँचे और चौकोर बनाना चाहिए । उन में आगे से ऊँची सुख-मचार भूमि की प्रवृत्तना करें । सूत्र व मध्य-भाग में एक हाथ स्थान चारों तरफ़ मजबूत, बराबर चिकने और घने पत्तों से बिद्धा दें । ॥२३-२४॥

घातकी, अर्जुन, पुन्नाग, कुकुम आदि वृक्षों में विनिर्मित आठ अग्निलि ऊँचे आधे आधे हाथ विस्तृत बिना छेद वाले दोनों पार्श्वों पर लोहे में बद्ध और सघत जन्तु-रहित लकड़ियों से शुभ निर्व्यूहों से बूब विस्तीर्ण घास अथवा भूसे का स्थान होना चाहिए । वह एकान्त में सुसमाहित और तीन विष्कुओं में ऊँचा होवे ॥२५-२७॥

खाने की नाद दो हाथों के प्रमाण की बनानी चाहिए । यह विस्तार और ऊँचाई में बराबर, बिना दुर्गन्ध और मूलनिष्ठ होना चाहिए ॥२८॥

स्थान स्थान पर तीन खूटे बनाने चाहिये । जिन में दो, छोड़े के पाच अंगों के निग्रह (पञ्चाङ्गी-निग्रह) के लिए बनाये जाते हैं । एक पीछे बाधने के लिए सुगुप्त पङ्क्तिवर्णन करे । हस्ति-शाला के चारों कोनों पर चार हाथ छोड़कर इन सभी स्थानों में घोड़ों का निवेशन करे ॥२७-३१॥

छुटे हुए इन स्थानों पर वनि, होम, स्वस्ति-वाचन तथा जप कराना चाहिए ॥३१॥

शीघ्र ऋतु में पृथ्वी को सूख सींच देना चाहिए और वर्षा ऋतु में उस स्थल को जल और कीचड़ से व्याप्त नहीं होने देना चाहिए और शिशिर ऋतु में यह ठंडा हुआ होना चाहिए जिससे गहरा पर बिना किसी मकोच और मकीर्णता के छोड़े बैठ सकें । उन्हें इस तरह से बाधे कि वे एक दूसरे का स्पर्श न कर सकें । और सभी प्रकार की बाधाओं से वे अपने वा वांछित समर्थ ॥३२-३३॥

दक्षिण पूर्व दिशा में वनि का स्थान प्रकल्पन करे और जल का कलश इन्द्र की दिशा (पूर्व) में समाहित कर के रखे ॥३४॥

प्राग्नी दिशा में घास घनवा भूसे का स्थान बनाना चाहिए और वायव्य दिशा में शीतल का स्थान बनाना चाहिए ॥३५॥

निथेणी, छुन और पलक से ढके हुये कुबे, कुहान, उद्दाल, गुडक, तुल्ययोग और मुर, बच-ग्रहणी, मीन और पर्ण, नादी और प्रदीप ये सब मभार वाजि-शाला के उपयोगी रह गये हैं ॥३६-३७॥

घोड़ों के पीछे से जमश पश्चिम दिशा की तरफ जाता है। कल्याणार्थियों को घोड़ों का पूर्व-मुख स्नान, सजावट (अभिषासन), पूजा तथा अन्य श्रद्धा मानसिक कार्य करने चाहिये ॥४५-४६॥

ऐसा करने पर राजा को भूमि, सेना, मित्र और यश वृद्धि की प्राप्ति होने है। इसलिए प्राची दिशा ही प्रशस्त कही गयी है ॥४७॥

वाय्विन अर्थ को देने वाला स्वामी की वृद्धि करने वाला घास का स्थान दक्षिणाभिमुख शाला में विहित है। सूर्य के पद में बनाया गया घोड़ा का स्थान होता है क्योंकि वह दिशा अग्नि से अधिष्ठित कही गयी है और अग्नि घोड़ों की आत्मा कही गयी है। वहाँ पर बघा हुआ घोड़ा अजर और बहुभोक्ता होता है और उत्तर मुख वाले वाजि-मदन में भी घोड़े कल्याण प्राप्त करते हैं। इस प्रकार से घोड़ों के स्थान होने पर सूर्य दहिने उदय होता है फिर उन को दहिने करके अस्त होता है। घोड़ों के वाम भाग में निकलता है। इसलिए उनको उत्तराभिमुख स्थापित करना चाहिये। उनको इस प्रकार में बाँधे जिम में चन्द्र और सूर्य के सम्मुख हिनहिनाये। राजा जय, सिद्धि, पुत्र और धन को प्राप्त करता है और अश्व नीरोग रहते हैं और मन्त्रति का बढाते है ॥४८-५३॥

दक्षिणाभिमुख उनको कभी न करे क्योंकि दक्षिण दिशा पितृ कार्य के लिए कही गयी है। अतः वह इस काम के लिए अशुभ है। इसी दिशा में सब प्रेत प्रतिष्ठित है और सूर्य बायें में उदय होता है और दक्षिण में अस्त होता है ॥५४-५५॥

चन्द्रमा पीछे हो जाता है जिससे घोड़े देव-पीडा से पीडित होने हैं और विविध ग्रहों के विकारा से अशुभ-विह्वल वे बेचारे पीडित होन हैं। भय और व्याधियों में दुःखित वे घास को नहीं खाने की इच्छा करते हैं और मालिक की पराजय, शत्रुघ्नि, अनर्थ उपस्थित करन है इसलिए कभी भी उनको दक्षिणाभिमुख न बाँधे ॥५६-५८॥

पश्चिम दिशा में अर्थात् पश्चिमाभिमुख घोड़ों को बाँधने पर सदैव सूर्य पृष्ठ-भाग से उदय होता है और गामने में अस्त होता है। इस तरह तत्-पृष्ठ-वर्ती स्वामी की विजय नहीं होती और इन्द्र के पृष्ठ-वर्ती होने के कारण और सूर्य की प्रतिशून दिशा होने के कारण देह को विनाश करने वाली व्याधियाँ उन घोड़ों के लिए शीघ्र ही कुपित होती है। उन से वे घोड़े घबराते हैं, कापते हैं, और जल से डगते हैं और घास को नहीं खाते हैं और सब प्रकार से पृथ्वी

भेषजागार के पास अरिष्ट-मन्दिर बनवाना चाहिए। रोगी घोड़ों के लिए व्याधित-भवन भी बनाने चाहिये ॥ ७७ ॥

ये चारों वेदम पूर्व-निर्दिष्ट वेदम के समान मुमुक्षु एव मन्त्रविहित करें। चूने के बघ से मजबूत दीवारों से प्राचीव और उच्च तोरण के सहित ये चारों विशाल (विना शाना) और सुगम बनवावें और इस प्रकार के वेदमों में घोड़ों को स्थापित कर उनका परिपालन करें ॥ ७८-८० ॥

दक्षिण दिशा में आठ अंग-हीन बनाना चाहिए ॥१०३-१२॥

सामन्तो, हस्तिपको, भटो और परिजनो के क्रमश आयतनो का यथाभाग निर्माण करना चाहिए । समवेध-प्रदेश-स्थित अथवा द्वार-वेध-स्थित और स्वस्य ना-तरित आयतनो का निर्माण हित-कामना रखने वाले व्यक्ति को नहीं बनवाना चाहिए ॥१३-१४॥

अग्निद्वो के द्वारा, गर्भ-कोण्डो के द्वारा, सीमा के स्तम्भ और गवाक्षो के द्वारा, द्वार-द्वय के तल की ऊँचाईया, प्राप्तीवो, सिंहकर्णों एवं भूषणो के द्वारा उन को नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो सम-हर्म्य होगा वही सुवद्रायक । इन के आधिपत्य में राज-पीडा और कुल-ध्वं होता है ॥१५-१७३॥

जो नियुक्त होगा वह आनन्द नहीं दे सकता । राजा के प्रासाद की परिधि में स्थित किसी भी निवेश को किसी भी द्रव्य से उत्कृष्ट नहीं करना चाहिए । अथवा उसका मस्थान, मान, विस्तार और ऊँचाई से भी उत्कृष्ट नहीं करना चाहिए ॥१७३-१८॥

पूर्वोक्त भागो में कुछ कम घुम रहता है । पारस्परिक अन्तर दुगुने छाद में शुभ कहा गया है और बहुत से भवनान्तरो से उसको मुभोग बनाना चाहिए । कोष्ठिकागो (कोठरिया), भोजनागार (रसोई) तथा भाण्डागार (वर्तन रखने के स्थान), उपस्करागार (वस्तुओं को रखने के स्थान) से यह मुभोग्य होता है ।

॥१९-२०॥

अन्य अवशेष स्थानो की भी यही क्रिया है । जालागो में पूर्ण कर देना चाहिए । शुभ-रूप, मनोरम तथा प्रशस्त सब प्रासादो को बनाना चाहिए ॥२१॥

प्राय राजा के आयतन के निवेश से अपने अन्य भालयो का और सब के अन्य गृहा का निर्माण करना चाहिए, अन्यथा विपरीतावरण से और उलट-कंठ से कुल-नाश और महादोष उपस्थित होते हैं ॥२२-२३३॥

इस प्रकार में प्रतिपादित दिशागो आदि के भेद योग में जिस राजा का मुर-भवन होते हैं वह अविरत-मुदित-वदित-प्रताप वाला अपने प्रताप से जीती हुई इस पृथ्वी को बहुत काल तक शासित करता है ॥२३३-२४॥



तृतीय पटल  
शयनासन

## शयनासन-लक्षण

अथ शयनासन लक्षण कहूंगा जिस में शुभ और अशुभ का परिज्ञान हो जावे ॥१॥

शय्या : मैन मुहूर्त में चन्द्रमा के पुण्य नक्षत्र में स्थित होने पर शुभ दिन देवताओं का मर्म्यक पूजन करके कर्म का आरम्भ समाचरित करे ॥२॥

शयनासन-निर्माण में चन्दन, निम्ब अर्जुन, तिन्दुक, माव और माव, शिरीष, आम्र, धनु, हस्ति, देवदारु, स्यन्दन, ओव, पत्रक, औषणी, दधिपण, शिशापा और भी जो शुभ वृक्ष हैं, वे प्रशस्त कहे गए हैं ॥३-४॥

गृह-कर्म में जो अनिष्ट वृक्ष कहे गये हैं, वे शयनासन में भी निम्नित हैं। सोने से, चादी से या हाथी दात से जड़ी हुई, पीतल से नद्ध शय्याएँ शुभ कही गई हैं। विचक्षणों के द्वारा उनका निर्माण कराया जाना चाहिए ॥५-६॥

जब शयनासन के लिए लकड़ी काटने के लिये प्रस्थान करे तो पहिले निमित्तों को देखे। दधि, घसत से भरा हुआ घड़ा, रत्न अथवा पुष्प, सुगन्धित द्रव्य, वस्त्रादि, मछली, घोड़े का जोड़ा, भत्त हाथी और अन्य इसी प्रकार के शुभों को देख कर शुभ का आदेश करना चाहिए ॥६-७॥

बिनुष आठ यवों से कर्म का अंगुल समुद्दिष्ट किया गया है। इस तरह १०८ अंगुलों की ज्येष्ठ शय्या राजाओं के लिए कही गयी है ॥८॥

१०४ अंगुलों की राजाओं की मध्यम शय्या कहलाती है और कनिष्ठ शय्या १०० अंगुलों की राजाओं के लिए विजयावह बताई गई है ॥९॥

राजा के सड़के की ६० अंगुल की, मन्त्री की ८४ की, सेनापति की ७८ की और पुरोहित की ७२ की शय्या विहित है ॥१०॥

शय्याओं में आयास के आधे से सब विस्तार कहा गया है अथवा आठ भाग से अथवा छह भाग से अधिक ॥११॥

ब्राह्मणों की शय्या ७० अंगुल दीर्घ होनी चाहिए और दो दो अंगुलों से शेष तीन वर्णों की ॥१२॥

उत्तम शयनासन के उत्पल का बाहुल्य तीन अंगुल होना चाहिए, तथा मध्य का दाई और कनिष्ठ का दो ॥१४॥

ईशा-दण्ड का बाहुल्य उत्पल के बराबर होना चाहिये और उस का विस्तार उत्पल से आधा, चौथाई अथवा एक तिहाई होता है ॥१५॥

शय्या के आधे विस्तार से कुब्ज का विस्तार होता है और उस के पायों की ऊंचाई मध्य से हीन दो चार छोड़ कर विहित है (मध्यहीनी द्विच-सुवर्जितो) ॥१६॥

मध्य-विस्तार के आधे से मध्य में बाहुल्य इष्ट है । कोई लोग तीन भाग से हीन, अथवा एक पाद से हीन उस चाहते हैं ॥१७॥

नीचे के शीर्ष से पावे की मोटाई उत्पल के समान होती है । मध्य में एक चौथाई अथवा आधी क्रमशः तल में वृद्धि होती है ॥१८॥

अन्य विवरण भी शास्त्रानुकूल विहित है ॥१९॥

उत्सेप के समान दो अंगुल से अधिक विस्तार करना चाहिए और उसे पत्तो, कलियों, पत्रपुटों और आस में भूषित करना चाहिए ॥२०॥

चारों ओर शय्या के अंग प्रदक्षिणाग्र करने चाहिए । ऊर्ध्वग्र सब पाद स्वामी की वृद्धि के लिये होते हैं ॥२१॥

एक ही द्रव्य से उत्पन्न होने वाली अर्थात् निमित्त शय्या भेष्ट कहलाती है और मिश्र द्रव्य वाली प्रशस्त नहीं बही गई है । एक लकड़ी वाली प्रशस्त होती है और दो लकड़ी वाली भयजनक होती है ॥२२॥

तीन लकड़ी से बनी होने पर नियत ही बध है । इस लिये ऐसी शय्या का वर्जन करना चाहिए ॥२३॥

अग्र भाग में युक्त मूल और बाए हाथ से युक्त निन्दित कहा गया है । अथवा मूल मूलविद्ध एव एकाग्र में दो लकड़ियां होती हैं यह भी वर्ज्य है ॥२४॥

मध्य में अग्र छेद हो तो मृत्यु-कारक, त्रिभाग में व्याधिकारक और चतुर्भाग में क्लेश और सिर में स्थित द्रव्य-हानि-कारक होता है ॥२५॥

निर्दोष अंग वाले पर्यङ्क में पाप-स्वप्न नहीं दिखाई पड़ता है । इस लिये गाढ और कोटर वाला शयनासन नहीं बनाना चाहिए ॥२६॥

आसन और शयनीय गाढो एव कोटरो से वजित होने पर बहुपुत्र देने वाला और धर्म, काम और अर्थ का माघने वाला कहा गया है ॥२७॥

छाट पर आरोहण करने पर यदि वह चलायमान होती है अथवा नापती है तो अमश-निदेश-गमन अथवा क्लृप्त शय्या होते हैं ॥२८॥

इस लिये उसको स्तूपनि मुल्लिङ्ग, निर्दोष, वर्णशान्तिनी, दृढ, स्थिर

बनाये । ऐसा करने पर स्वामी की मनोरथ-वृद्धि होती है ॥२८॥

निष्कुट, कोलहक, क्रोडनयन, वत्सनाभक, कालक और बधक ये सक्षेप मे छिद्र कहे गये हैं ॥३०॥

मध्य मे घट के समान मुपिर तथा सकरा मुख वाला निष्कुट नाम से कहा जाता है । कोलास उडद के निकलने लायक छिद्र होता है ॥३१॥

आधे आधे पोर से दोष, विवरण और विषय छिद्र को महर्षियों ने क्रोडनयन कहा है ॥३२॥

पर्वमित भिन्न वामावर्त वत्सनाभक कहलाता है । कृष्ण-कान्ति वाला कालक तथा विनिभिन्न बधक कहा गया है ॥३३॥

लकड़ी के वणं वाला छिद्र शुभकर नहीं होता है । निष्कुट मे अर्थ का नाश, कोलहक मे कुल विद्रोह, क्रोड-नयन मे शास्त्र से भय, वत्सनाभक मे रोग से भय और कालक मे, बधक मे—इन दोनों के बीट-बिद्ध होने पर शुभ नहीं होता ॥३४-३५॥

वह सब लकड़ी जिस में सब जगह बहुत अधिक गांठें होती हैं वह अनिष्ट-दायक कही गई है ॥३६॥

आसन—धर्म्या के लिये कही गई लकड़ियों से निर्मित आसन बैठने में सुख-दायक प्रकल्पित किया गया है । उसका पुंकर और सूत्रहस्त चार चार अंगुल से गान होना चाहिये । विस्तार से आरम्भ करे जब तक ती अंगुल न हो जाए । पुंकर व ध्यास स उसका योगुना दण्ड बनाना चाहिए ॥३६-३७॥

पुंकर व आध स फलक और उसक समान भूलक-दण्ड और पुंकर के विस्तार से चार अंश मोटा बनाना चाहिए ॥३८॥

पुंकर का अतर्भाग खुदा हुआ गम्भीर दृष्ट है । प्रशस्त सार नामक लकड़ी से इस का निर्माण करे ॥ ४० ॥

अब अग्न्य फर्नीचरो का वर्णन करता हू ।

कधे—कधा बड़ा ही चिकना बनाना चाहिए और उस चिकने तना वाला लकड़ी से बनाना चाहिए । इसकी लम्बाई ८ अंगुल से १२ अंगुल हानी चाहिए । इस का विस्तार लम्बाई स आधा अंगुल सहित ४ भाग होता है ॥४१-४२॥

उसके मध्य मे विस्तार के आठव अंश से बाहुल्य कहा गया है और उस के एक से स्थूल-विस्तार वाले दन्तक कहे गये हैं । दूसरे से भाग की तरफ घन, मूढम एवं तीक्ष्ण दन्तको का निर्माण करना चाहिए । मध्य मे तीन भाग को छाड़ कर दोनों भागों मे दन्तको का निर्माण करना

चाहिये उनके तीन भाग के हर लेने पर यदि कुछ बोर न रहे तो उनको छोड़ देना चाहिये । हाथी के दात अथवा शाखोट (शामू) वृक्ष में निर्मित श्रेष्ठ कहलाने हैं । मध्यम अन्य शेष लकड़ियों में और जघन्य अर्थात् निकृष्ट प्रकार-दारु में निर्मित होता है । स्वस्ति आदि स्वरों में मध्य भाग को असंस्कृत करना चाहिए ॥४३-४६॥

यूना आदि के अपनयन के लिये तथा केश प्रमाणन के लिये यह बंधा काम में लाया जाता है ॥४७॥

पादुका—दो पादुकाओं की सम्बाई पाद से एक अंगुल में अधिक बनानी चाहिये । सम्बाई के पाच भाग करने पर सामने तीन भाग से पीछे दो भाग में इस प्रकार से इसका मंग्रह-विधान है ॥४८॥

तीन अंगुलों की ऊंचाई और चरणों के अनुसार उस का विस्तार, अंगुल और अंगुष्ठ के दोनों मध्य भाग मत्स्य आदि से असंस्कृत करना चाहिए ॥४९॥

दन्त, सींग आदि से उमारी दोनों मूर्तियों का निर्माण होना चाहिए ॥५०॥

गजेन्द्र दन्त, श्रीखड्ग, श्रीपर्णी, मेघ धृगिका, शाख, क्षीरिणी, चिर अथवा घेल की लकड़िया लड़ाऊं के लिये प्रशस्त नहीं गई हैं ॥५०१-५१३॥

इस प्रकार से यहां पर साम्याओं का और आसनों के लक्षण बता दिये और उमकें बाद दर्वा और बंकत और पादुकाओं का ठीक तरह से लक्षण बता दिया गया और शुभ और अनुभ संपूर्ण लक्षणों को जान कर विद्वान पूजा को प्राप्त होता है ॥५२॥

# चतुर्थ पटल

यन्त्र-घटना

- १ यन्त्र बीज
- २ यन्त्र-गुण
- ३ यन्त्र प्रकार :
  - (अ) आमोद
  - (ब) सेवक
  - (स) योष एव द्वारपाल
  - (घ) सप्राप्त
  - (र) विमान
  - (ल) धारा एव
  - (व) दोला

## यन्त्र-विधान

अतश्च, मध्य धूमते हुये सूर्य एवं चन्द्र मण्डल के चक्र से प्रशस्त इस जगत्त्रय-रूपी यन्त्र को सम्पूर्ण भूजो (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) तथा बीजो (उपादान कारणो) को सम्प्रकल्पित कर जो सतत धुमासे हैं, वे कामदेव को जीतने वाले (भगवान् धर्मर) तुम लोगों की रक्षा करें ॥१॥

क्रम से प्राप्त अब यन्त्राध्याय का वर्णन करता हूँ। यह यन्त्र-विधान धर्म, धर्म, धाम और मोक्ष का एक ही कारण है ॥२॥

अपनी इच्छा से, अपने मार्ग से प्रवृत्त महाभूतो (पृथ्वी आदि) का नियमन पर जिस में नयन होता है, उस को यंत्र कहा गया है। अथवा अपनी बुद्धि से, अपनी इच्छा से प्रवृत्त महाभूतो का जिस से निर्माण-कार्य समित होता है, उसको यन्त्र कहते हैं ॥३-४॥

उस यन्त्र के चार प्रकार के तीज कहे गये हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। इन चारों का आश्रय होने की वजह से आकाश भी पाचवा बीज उपयुक्त होता है ॥५॥

सूत अर्थात् पारे को जो योग एवं भलग बीज मानते हैं, वे ठीक नहीं जानते। सूत प्रकृति से वास्तव में पार्थिव बीज ही है। जल, तेज और वायु की उस में प्रिया होती है। बू कि यह पार्थिव है अतः यह पारा भलग बीज नहीं है। अथवा इनके द्रव्यत्व होने के कारण जो अग्नि का उत्पादक होना परिकल्पित किया गया है, तब इस का अग्नि से विरोध नहीं उत्पन्न होता और पृथ्वी गन्धवती होने के कारण और अग्नि से विरोध होने के कारण बलात् इसमें पृथिवीत्व स्थापित हो ही जाता है ॥६-८॥

अथवा पाचो महाभूत एक दूसरे के स्वयं बीज होते हैं तथा और भी बीज होते हैं और इस प्रकार साधारण (मिश्रण) से इनके बहुत से भेद होते हैं ॥९॥

यन्त्र नामा प्रकार के होते हैं जैसे स्वयं-वाहन (Automatic), सञ्चालक (Propelling only once), अन्तिमिग वाहक तथा अदूर-वाहक। पहला भेद स्वयं-वाहन उत्तम कहा गया है और अन्य तीन निवृष्ट। उनमें दूरस्थ, अलक्ष्य, निवृष्ट स्थित ही प्रगति की गई है। जो यन्त्र उत्पन्न होता है और जो वृत्तों का मापन कहा गया है, वह यन्त्रों के लिये विस्मय करने वाला दूराव कहा गया है।

विस्मय-कारी इस बाल्य-यन्त्र में एक अपनी गति होती और दूसरी बाहक में आश्रित होती है। अरघट्ट-घटी में आश्रित कीड़े में से दोनो दिखाई पड़ती है। इस प्रकार दो गतियों से वैचित्र्य का कल्पन स्वयं करे और न दिखाई पड़ने वाली जो विचित्रता होती है, वह यन्त्रों में अधिक प्रशस्त मानी गई है ॥१०-१५३॥

और दूसरा भेद जो कहा गया है वह भीतर से चलाया जाता है। उसे मध्यम कहते हैं। दो तीन के योग से अथवा चारों के योग से प्रशासि-भाव से भूतो की यह संख्या बहुत बढ जाती है। जो मनुष्य इन सब बातों को ठीक जानता है, वह स्त्रियो का, राजाओं का, विद्वानों का प्रिय होता है। और लाभ, त्याग, पूजा, यश, मान क्या क्या नहीं प्राप्त करता है जो मनुष्य इस को तत्त्वतः जानता है ॥१५३-१८३॥

यह विलासों का एक ही घर, आश्चर्य का परम पद, रति (काम-कीड़ा) का आवास-भवन, (निकेतन, घर) तथा आश्चर्य का एक ही स्थान कहा गया है ॥१८३-१९३॥

देवता आदिको की रूप एवं चोष्टा दिखाने से वे लोग (देवता लोग) मनुष्ट होते हैं और उनकी सन्तुष्टि को ही पूर्वाचार्यों द्वारा धर्म कहा गया है। राजाओं आदि के सन्तोष से धन प्राप्त होता है (इस प्रकार धर्म के बाद धर्म-सिद्धि हुई)। अर्थ में ही काम (इच्छा, मनोरथ आदि) प्रतिष्ठित कहे गये हैं। इसका निर्माण धन-साध्य है और मोक्ष भी इस से दुर्लभ नहीं ॥१९३-२१३॥

पार्थिव बीज :- यह बीज पार्थिव बीजों से, जल से उत्पन्न होने वाले पदार्थों से, वही तेज से उत्पन्न होने वालों से और वही वायु से उत्पन्न होने वालों से विहित है। आप्य अर्थात् जल सम्बन्धी बीज आप्य बीजों से उसी प्रकार अग्नि सम्बन्धी एवं वायु सम्बन्धी बीजों से विहित है। वह्नि-बीज वायु से उत्पन्न होने वाले और पार्थिव एवं वायु बीजों से भी तथैव विहित है। मातृ बीज वायु, जल, पृथ्वी एवं अग्नि सम्बन्धी बीजों से वैसे ही विहित है। वह्नि से उत्पन्न होने वालों द्वारा भी बीज होता है। वह पारा होता है। वह अनिल में भी होता है। पार्थिवों का भी और आप्यों का भी जल जलोप बीज होता है। इस प्रकार सब भूतों के सम्पूर्ण बीजों का वर्तन हुआ ॥२१३-२४३॥

कूट्यवरण भूत, भार-गोलक-पीडन, लम्बन, लम्बकार और विविध चक्र, लोहा, तावा, तार (पीतल, गंगा, सम्बित, प्रमदंन, बाष्ट, चर्म, वस्त्र—ये सब अपने बीजों में प्रयुक्त होने हैं ॥२४३-२७३॥

ऊर्ध्व, वर्तन, यष्टि, चक्र और घमरव, धुंगावली और बाण, ये भी बीज और कहे गये हैं ॥२७३-२८३॥



जल के सम्पर्क से उत्पन्न ताप, उत्तेजन, स्तोभ, और क्षोभ इत्यादि पार्थिव बीज के अग्नि-बीज कहे गये हैं ॥२८३—२९३॥

भारा, जलभार, जल की भँवर इत्यादि पृथ्वी से उत्पन्न जलज बीज कहे गये हैं ॥२९३—३०३॥

जैसी ऊँचाई, जैसी अधिकता और जैसी नीम्नधरा (सटा हुआ) और अत्यन्त ऊर्ध्व-गामित्व (ऊँचे जाना) ये सोहे के अपने बीज हैं ॥३०३—३१३॥

स्वाभाविक वायु, गड-ग्राहको के द्वारा प्रेरित होकर पत्थरो से, पत्थियों से, गज-वर्णादिको से भी निर्मित, चालित और गलाया हुआ ये वायु पार्थिव भूत में बीज होता है। काष्ठ (लकड़ी), चमड़ा और लोहा जल में उत्पन्न होने वाले बीज में पार्थिव होता है ॥३१३—३२३॥

दूसरा जल वह भी तिरछा, ऊँचा और नीचा जल-निर्मित यन्त्रों में अपना बीज होता है। ताप आदि पहले बड़े हुए बह्लि से उत्पन्न, जल में से उत्पन्न होते हैं ॥३२३—३४॥

स प्रहीत, दिया हुआ और भरा हुआ और प्रतिनोदित अर्थात् प्रेरित वायु जल-यन्त्रों में बीज बनता है ॥३५॥

बह्लि से उत्पन्न होने वाली से मिट्टी, तावा, सोना, लोहा आदि तदनुकूल बीज-विवक्षण विद्वान इस वास्तु शास्त्र में उम्मे पार्थिव बीज कहते हैं ॥३६॥

बह्लि से बह्लि-बीज, जल से जल और पहले बड़े हुये पत्थर आदि से वायु बीजता को प्राप्त होता है ॥३७॥

प्रत्येक अर्थात् पदार्थ-सम्बन्धी (Material), जनक, प्रेरक और ग्राहक तथा सग्राहक रूप में वायु से उत्पन्न होने वालों के द्वारा पार्थिव बीज बहलाता है ॥३८॥

प्रेरण और अभिघात, विवर्तन तथा भ्रमण रूप में वायु से पैदा होने वाली में जनज बीज सम्मत होता है ॥३९॥

ताप आदि से जो पवन से उत्पन्न होने वाली के द्वारा जो होते हैं वे पावक-सम्बन्धी बीज में समूहीत किए गये हैं ॥४०॥

प्रेरित, स प्रहीत और जनित रूप में वायु अपना बीज होता है। इसी प्रकार से और भी कल्पना कर लें ॥४१॥

एक भूत अत्यधिक, दूसरा हीन, तीसरा और भी अधिक हीन। इसके अतिरिक्त दूसरा और भी हीन। इस प्रकार विवक्षित से इन बीजों के नाना भेद होते हैं। उनको पूर्ण रूप से बोन वह सबेगा ॥ ४२-४३॥

पृथ्वी तो निष्क्रिया है और उस में जो क्रिया है वह अन्त में बचे हुए तीनों भूतों—वायु, जल, अग्नि में होती है। इस लिए वह क्रिया पृथ्वी में ही प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न करने योग्य है और ऐसा करने पर साध्य अर्थात् उपादान कारण पृथ्वी का रूपवशतः सन्निवेश होता है ॥४३३-४४॥

यन्त्र गुण :—यन्त्रों की आधृति जिस प्रकार न पहचानी जा सके, उस प्रकार ठीक तरह से बीज-संयोग करना चाहिए। उनकी बहुत सुन्दर जडावट और सफाई होनी चाहिए। इस प्रकार यन्त्रों के निम्नलिखित गुण कहे गये हैं—सौदिलिप्य, क्लृप्ता, निर्ध्वज, सघुत्व, शब्द-हीनता और जहाँ पर शब्द ही साध्य अर्थात् उपादान कारण हो, वहाँ पर आधिव्य, असौधिल्य और अगाढता कहे गये हैं। अन्यथा सभी बाहुक-यन्त्रों में सौदिलिप्य, अस्खलितत्व, अभीष्टार्थ-कारित्व, लयतालानुगामित्व, दृष्ट-काल में अर्थ-दत्तित्व और फिर ठीक तरह से गोपन, अप्रकाशन, अनुलक्षणत्व, तादृश्य मुखणत्व (चिह्नादृष्ट), चिरकाल-सहत्व—ये सब यन्त्र-गुण हैं ॥४५-४६३॥

पहला भेद बहुतों को चलाने वाला और दूसरा भेद बहुतों में चलाये जाने वाला कहा गया है ॥४६॥

यन्त्रों का न दिखाई पड़ना और ठीक तरह से उनकी जडाई होना पञ्चम गुण कहा गया है ॥४७३॥

अब इस के बाद यन्त्रों के विचित्र-विचित्र कार्यों का यथाविधि न विस्तार से न संक्षेप से वर्णन करता हूँ ॥४७३-४८३॥

किसी की क्रिया साध्य होती है और किसी का काल, और किसी का शब्द, और किसी की ऊँचाई अथवा रूप और स्पष्ट। इस प्रकार कार्यवशात् क्रियायें तो अनन्त परिकीर्तित की गई हैं ॥४८३-४९॥

क्रिया से उत्पन्न होने वाले भेद हैं—तिरछे, ऊपर, नीचे, पीछे आने अथवा दोनो बगलो में भी गमन, सरण और पात भेद से अनेक भेद हैं ॥४९॥

जहाँ तक यन्त्र से काल-ज्ञान की बात है वह काल, समय बताने वाले घटा-ताड़नों के भेदों से अनेक भेद वाला होता है। यन्त्रों से उत्पादित शब्द विचित्र, सुखद, रतिकृत भी और भोषण भी होते हैं। उच्छ्वास गुण तो जल का होता है। कहीं पर पार्थिव में भी कहा जाता है ॥५०-५१३॥

गीत, नृत्य और वाद्य (गाना, नाचना और बजाना), पटह, वश, सीणा, काश्यताल (मजीरा), तुमसा, करटा और भी जो बाजे विभावित होते हैं वे सभी यन्त्रों से उत्पन्न होते हैं ॥५१३-५७३॥

नृत्य में नाटकीय नृत्य होता है, उसके सादर, सारण, राज मार्ग और देशी ये सब भेद यन्त्र से सिद्ध होते हैं ॥३७३-५८३॥

उसी प्रकार स्वाभाविक चेष्टायें या विच्छेद चेष्टायें वे भी यन्त्र की सम्म्यक् साधना से निष्पन्न होती हैं ॥५८३-५९३॥

पृथ्वी पर रहने वालों की आवाज में गति, आकाश में चलने वालों की भूमि में गति, यन्त्रों की विविध प्रकार की चेष्टायें तथा विविध मनोरथ में सब यन्त्र के निर्माण से उत्पन्न होते हैं ॥५९३-६०॥

जिस प्रकार से असुर लोग हारे और जिस प्रकार से देवों के द्वारा समुद्र-मन्थन हुआ और उनका, नृसिंह भगवान् द्वारा हिरण्यकशिपु नामक दैत्य मारा गया, हाथियों का मुँह और छोड़ना तथा पकड़ना और जो नाना प्रकार की चेष्टायें हैं और विविध प्रकार के धारा-गृह और विचित्र भूतों की वेशिषा और विचित्र रति-गृह और विचित्र सेना तथा कुटिया एवं लेवक (Automatic) तथा विविध प्रकार की सच्ची और झूठी सभायें और इस प्रकार जितनी बातें हैं वे सब यन्त्र के रूपन से सिद्ध होती हैं ॥६१-६४॥

शय्या-प्रसर्पण-यन्त्र — पांच भूमिवासी अर्थात् षण्णो का निर्माण कर पहिले छठ में स्थित शय्या प्रति गृह दूरर पड़ों में प्रसर्पण करती हुई पाचवें छठ में पहुँच जाती है । इस प्रकार के चित्र विचित्र आश्चर्य, यन्त्र से ठीक सिद्ध होते हैं ॥६५-६६३॥

नाडो-प्रबोधन-यन्त्र — शय्यापरिसर्पण-यन्त्र कीर्ति हो चुका है, अब पुत्रिका-नाडो-प्रबोधन-यन्त्र का वर्णन करते हैं । क्रमशः तीन गो आकर्षण में स्थाली में यह दन्तों को घुमाती है । उस के मध्य में बनायी हुई पुतली प्रति नाडी में जमाव और यन्त्र के द्वारा बल्लि का जल में दर्शन, बल्लि में बाँव से जल का निकलना, यन्त्र से वस्तुत्व, वस्तु से अन्य प्रकार की चोर्ने दिखाना एक साथ में आकाश जाती है, एक साथ में पृथ्वी आती है ॥६६३-६८॥

गोलक-भ्रमण-यन्त्र — अब गोलक-भ्रमण-यन्त्र का वर्णन है, जो सूर्यादि-ग्रहों की गति प्रदर्शन कराती है । क्षीर-सागर के मध्य में एक सुन्दर शेष-नाग के फण पर शय्या बनायी जाती है और सूची-विहित गोला सूर्य-ग्रहों का प्रदर्शना करता हुआ दिन रात घूमता हुआ ग्रहों के दर्शन कराता है । लकड़ी के गज आदि रूप यन्त्रों के यन्त्र रूप में दिखलाया गया मनुष्य नाडी के द्वारा घूम कर राज की गति से चार कोस तक जाता है ॥ ६९-७१३ ॥

पृथ्वी तो निष्क्रिया है और उस में जो क्रिया है वह अन्त में बचे हुए तीनों भूतों—वायु, जल, अग्नि में होती है। इस लिए वह क्रिया पृथ्वी में ही प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न करने योग्य है और ऐसा करने पर साध्य अर्थात् उपादान कारण पृथ्वी का रूपवशतः सन्निवेश होता है ॥४३३-४४॥

यन्त्र-गुण —यन्त्रों की आकृति जिस प्रकार न पहचानी जा सके, उस प्रकार ठीक तरह से बीज-संयोग करना चाहिए। उनकी बहुत सुन्दर जड़ावट और सफाई होनी चाहिए। इस प्रकार यन्त्रों के निम्नलिखित गुण कहे गये हैं—सौक्ष्मिण्य, श्लक्ष्णता, निर्घर्हण, सघुत्व, शब्द-हीनता और जहा पर शब्द ही साध्य अर्थात् उपादान कारण हो, वहाँ पर आधिवय, असौख्यत्व और भगाढता कहे गये हैं। अग्न्या सभी बाह्य-यन्त्रों में सौक्ष्मिण्य, अस्खलितत्व, अभीष्टार्थ-कारित्व, समयतालानुगामित्व, इष्ट-काल में अयं-दर्शित्व और फिर ठीक तरह से गोपन, अप्रकाशन, अनुत्पन्नत्व, ताद्रूप्य मूलराज्य (चिकनाहट), चिरकाल-सहत्व—ये सब यन्त्र-गुण हैं ॥४५-४६३॥

पहला भेद बहुता को चलान वाला और दूसरा भेद बहुता से चलाये जाने वाला कहा गया है ॥४६॥

यन्त्रों का न दिखाई पड़ना और ठीक तरह से उनकी जड़ाई होना यन्त्र गुण कहा गया है ॥४७३॥

अब इस के बाद यन्त्रों के विचित्र-विचित्र कार्यों का यथाविधि न विस्तार से न संक्षेप से वर्णन करता हूँ ॥४७३-४८३॥

किसी की क्रिया साध्य होती है और किसी का कास, और किसी का शब्द, और किसी की ऊँचाई अथवा रूप और स्पर्श। इस प्रकार कार्यवशत् क्रियायें तो अनन्त परिकीर्तित की गई हैं ॥४८३-४९॥

क्रिया से उत्पन्न होने वाले भेद हैं—तिरछे ऊपर, नीचे, पीछे भागे अथवा दोनों बगलो में भी गमन, सरण और पात भेद से अनेक भेद हैं ॥४९॥

जहा तक यन्त्र से काल-ज्ञान की बात है वह कास, समय बताने वाले घटा-ताड़नों के भेदों से अनेक भेद वाला होता है। यन्त्रों से उत्पादित शब्द विचित्र, सुसुद्ध, रतिकृत भी और भीषण भी होते हैं। उच्छ्वाय गुण तो जन का होता है। कही पर पायिब में भी कहा जाता है ॥४९-५०३॥

गीत, नृत्य और वाद्य (गाना, नाचना और बजाना), पट्टह, वण, मोरणा, कास्यताल (मजीरा), तूमला, करटा और भी जो बाजे विगारित होते हैं वे सभी यन्त्रों से उत्पन्न होते हैं ॥५०३-५०३॥

नृत्य में नाटकीय नृत्य होता है, उसके ताडव, तारव, राज मार्ग और देशी ये सब भेद यन्त्र से सिद्ध होते हैं ॥१७३-१८३॥

उसी प्रकार स्वाभाविक चेष्टायें या विरुद्ध चेष्टायें व भी यन्त्र की सम्मिलित साधना से निष्पन्न होती हैं ॥१८३-१९३॥

पृथ्वी पर रहने वालों की आकाश में गति, आकाश में चलने वालों की भूमि में गति, मनुष्यों की विविध प्रकार की चेष्टायें तथा विविध मनोरथ में सब यन्त्र के निर्माण से उत्पन्न होते हैं ॥१९३-२०॥

जिस प्रकार सँ समुद्र लोग हारे और जिस प्रकार सँ देवों के द्वारा समुद्र-मन्थन हुआ और उनका, नृसिंह भगवान् द्वारा हिरण्यकशिपु नामक दैत्य मारा गया, हाथियों का घुड़ और छोड़ना तथा पकड़ना और जो नाना प्रकार की चेष्टायें हैं और विविध प्रकार के चारा-गृह और विचित्र झूलों की केलियाँ और विचित्र रति-गृह और विचित्र सेना तथा कुटियाँ एवं सेवक (Automatic) तथा विविध प्रकार की सच्ची और झूठी सभायें और इस प्रकार जितनी बातें हैं वे सब यन्त्र के रूपन से सिद्ध होती हैं ॥२१-२४॥

शय्या-प्रमर्पण यन्त्र — पाँच भूमिकाओं अर्थात् खण्डों का निर्माण कर पहिले खण्ड में स्थित शय्या प्रति पहर दूसरे खण्डों में प्रसर्पण करती हुई पाँचवें खण्ड में पहुँच जाती है । इस प्रकार के चित्र विविध आरचन, यन्त्र से ठीक सिद्ध होते हैं ॥६५-६६॥

नाडी-प्रबोधन-यन्त्र — शय्यापरिसर्पण-यन्त्र कीतिन हो चुका है, अब पुत्रिका नाडी-प्रबोधन यन्त्र का वर्णन करते हैं । क्रमशः तीन सौ श्रावत से श्याली में यह दन्तों को घुमाती है । उस के मध्य में बनायी हुई पुतली प्रति नाडी में जगावे और यन्त्र के द्वारा बल्लि का जल में दर्शन, बल्लि के बाँध से जल का निकलना, अवस्तु से वस्तुत्व, वस्तु से अन्य प्रकार की चीजें दिखाना एवं सात में आकाश जाती है, एक सास में पृथ्वी आती है ॥६६३-६८॥

गोलक-भ्रमण यन्त्र — अब गोल-भ्रमण-यन्त्र का वर्णन है, जो सूर्यादि-ग्रहों की गति प्रदर्शन कराती है । क्षीर-सागर के मध्य में एक सुन्दर शय-नाग के कण्ठ पर शय्या बनायी जाती है और सूची-विहित गोला सूर्य ग्रहों की प्रदर्शिका परता हुआ दिन रात घूमता हुआ ग्रहों के दर्शन कराता है । मकड़ी के गज आदि रूप प्रपञ्च रमिक रूप में दिखलाया गया मनुष्य नाडी के द्वारा घूम कर बाज की गति से चार कोश तक जाता है ॥ ६९-७१॥

पृथ्वी तो निष्क्रिया है और उस में जो क्रिया है वह अश में बचे हुए तीनों भूतो—वायु, जल, अग्नि में होनी है। इस लिए वह क्रिया पृथ्वी में ही प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न करने योग्य है और ऐसा करने पर साध्य अर्थात् उपादान कारण पृथ्वी का रूपवशतः सन्निवेश होता है ॥४३३-४४॥

यन्त्र-गुण.—यन्त्रों की आकृति जिस प्रकार न पहचानी जा सके, उस प्रकार ठीक तरह से बीज-संयोग करना चाहिए। उनकी बहुत सुन्दर जड़ावट और मफाई होनी चाहिए। इस प्रकार यन्त्रों के निम्नलिखित गुण कहे गये हैं—सौक्ष्मिष्ठ्य, श्लक्ष्णता, निर्घेहण, सघृत्व, शब्द-हीनता और जहा पर शब्द ही साध्य अर्थात् उपादान कारण हो, वहाँ पर आधिक्य, असंश्लिष्ट्य और अगाढता कहे गये हैं। अन्यथा सभी बाह्य-यन्त्रों में सौक्ष्मिष्ठ्य, अस्त्रसित्तत्व, अभीष्टार्थ-कारित्व, लयतालानुगामित्व, इष्ट-काल में धर्म-दक्षित्व और फिर ठीक तरह से गोपन, अप्रकाशन, अनुत्पन्नत्व, तादृश्य मूलणत्व (चिक्नाहट), बिरकाल-महत्त्व—ये सब यन्त्र-गुण हैं ॥४५-४६३॥

पहला भेद बहुतों को चलाने वाला और दूसरा भेद बहुतों से चलाये जाने वाला कहा गया है ॥४६॥

यन्त्रों का न दिखाई पड़ना और ठीक तरह से उनकी जड़ाई होना परम गुण कहा गया है ॥५०३॥

अब इस के बाद यन्त्रों के विविध विविध कार्यों का यथाविधि न विस्तार से न संक्षेप से वर्णन करता हूँ ॥५०३-५१३॥

किसी की क्रिया साध्य होती है और किसी का काल, और किसी का शब्द, और किसी की ऊँचाई अथवा रूप और स्थान। इस प्रकार कार्यवशात् क्रियायें तो अनन्त परिकीर्तित की गई हैं। ५१३-५२॥

क्रिया से उत्पन्न होने वाले भेद हैं—तिरछे, ऊपर, नीचे, पीछे आगे अथवा दोनों बगलों में भी समान, सरण और पात भेद से अनेक भेद हैं। ५३॥

जहाँ तक यन्त्र से काल-ज्ञान की बात है वह काल, समय बताने वाले घटा-नाढ़नों के भेदों से अनेक भेद वाला होता है। यन्त्रों से उत्पादित सन्ध विभिन्न, सुसुप्त, रतिकृत भी और भीषण भी होते हैं। उच्छ्वास गुण तो जल का होता है। वहीं पर पार्थिव में भी कहा जाता है ॥ ५४-५५३॥

गीठ, नृत्य और वाद्य (गाना, नाचना और बजाना), पटह, वस, बीणा, कांस्यताल (मञ्जीरा), तुमला, करटा और भी जो बाजे विभावित होने हैं वे सभी यन्त्रों से उत्पन्न होते हैं ॥५५३-५७३॥

नृत्य में नाटकीय नृत्य होता है, उसमें सादर, सारथ, राज-मार्ग और देशी ये सब भेद यन्त्र से सिद्ध होते हैं ॥५७३-५८३॥

उसी प्रकार स्वाभाविक चेष्टायें या विरुद्ध चेष्टायें वं भी यन्त्र को सम्यक साधना से निष्पन्न होती हैं ॥५८३-५९३॥

पृथ्वी पर रहने वाली की आकाश में गति, आकाश में चलने वाली की भूमि में गति, मनुष्यों की विविध प्रकार की चेष्टायें तथा विविध मनोरथ ये सब यन्त्र के निर्माण से उत्पन्न होते हैं ॥५९३-६०॥

जिस प्रकार से समुद्र लोच हारे और जिस प्रकार से देवों के द्वारा समुद्र-मन्थन हुआ और उनका, नृसिंह बगवान्-द्वारा हिरण्यकशिपु नामक दैत्य मारा गया, हाथियों का युद्ध और घोड़ना तथा पकड़ना और जो नाना प्रकार की चेष्टायें हैं और विविध प्रकार के धारा-गूह और विचित्र झूलो की बेलिया और विचित्र रति-गूह और विचित्र सेना तथा कुटिया एवं सेबक (Automatic) तथा विविध प्रकार की सच्ची और झूठी सभायें और इस प्रकार जिसकी बातें हैं वे सब यन्त्र के वर्णन से सिद्ध होती हैं ॥६१-६४॥

शय्या-प्रमर्षण यन्त्र — पांच भूमिकाओं पर्याप्त स्थानों का निर्माण कर पहिले खड में स्थित शय्या प्रति पहर दूसरे खडों में प्रसर्पण करती हुई पाचवे खड में पहुँच जाती है । इस प्रकार के चित्र विचित्र आश्चर्य, यन्त्र से ठीक सिद्ध होते हैं ॥६५-६६॥

नाडो-प्रबोधन-यन्त्र.—शय्यापरिसर्पण-यन्त्र कीर्तिन हो चुका है, अब पुत्रिका-नाडो-प्रबोधन-यन्त्र का वर्णन करते हैं । क्रमशः तीन ही आश्रयों में स्थानी में यह दन्तों को घुमाती है । उस के मध्य में बनायी हुई पुतली प्रति नाडी में जगाने और यन्त्र के द्वारा बलि का जल में दर्शन, बलि के बीच से जल का निकलना, अस्तु से अस्तुत्व, वस्तु से अन्य प्रकार की चीजें दिखाना एक साथ में आकाश जाती है, एक साथ में पृथ्वी आती है ॥६६३-६८॥

गोलक-भ्रमण-यन्त्र — ग्रह गोल-भ्रमण-यन्त्र का वर्णन है, जो सूर्यादि-ग्रहों की गति प्रदर्शन कराती है । क्षीर-सागर के मध्य में एक सुन्दर शप-नाग के फण पर शय्या बनायी जाती है और सूची-विहित गोला सूर्य-ग्रहों की प्रदर्शिका करता हुआ दिन रात घूमता हुआ ग्रहों के दर्शन कराता है । चकड़ी के यन्त्र आदि रूप प्रथमा शक्ति रूप में दिखलाया गया मनुष्य नाडो के द्वारा घूम कर बाज की गति से चार कोश तक जाता है ॥ ६९-७१॥

पुतली के द्वारा दीपक में तेल डालने वाला यन्त्र है। बनी हुई दीपिका-पुत्तलिया ताल की गति से नाचती हुई घीरे २ दीप में तेल डालती है। यत्र के द्वारा बनाया गया हाथी वह जाता हुआ नहीं दिखाई पड़ता। जब तब पानी दो तब तक वह निरन्तर पानी पीता रहता है। यन्त्र-शुक आदि बनाये गये जो पक्षी बार बार नाचते हैं, पढ़ते हैं और मनुष्य का आश्चर्य करते हैं वे सब अमोदवितरण करते हैं। यन्त्र के द्वारा बनी पुतली अथवा गर्जन्द अथवा घोड़ा अथवा वानर भी ताल से उलटते पलटते नाचते मनुष्य के मन को सुन्दर लगते हैं ॥७१३-७५३॥

जिस भाग से खेत घृत होता है उस में वह पानी जाता है और आता है फिर उसी के समान गड्ढे से पुष्करिणियों से पानी आता जाता है ॥७५३-७६३॥

फलक पर कील बठती है, दौड़ती, है ताली बजाती है, और लड़ती है, नाचती है, गाती है, बाम आदि को बजाती है। वायु के बह जाने पर फिर छोड़ देने पर यन्त्र की मणियों की जो दिव्य और मानुष्य चेष्टाय होती हैं वे ही केवल नहीं और भी जो कुछ भी दुष्कर होता है यन्त्र के द्वारा सिद्ध होता है ॥ ७६३-७६३॥

यन्त्रों का निर्माण अज्ञानता-वश नहीं बल्कि छिपाने के लिए, नहीं कहा गया है। उसका कारण यह जानना चाहिये कि यत्र व्यक्त हो जाने पर फल-प्रद नहीं होते। इसी लिये यहाँ पर उनका बीज बता दिया गया बल्कि उनकी घटना निर्माण नहीं बताई गयी। क्योंकि व्यक्त हो जाने पर न तो स्वार्थ-सिद्ध हो सकता है न कीतुष ही हो सकता है और वास्तव में तो यन्त्रों के बीज अर्थात् साधन कीर्तन करने से घटना आदि सभी कुछ वह दी गई है ॥७६३-८१॥

बुद्धिमान् लोगो को, अपनी बुद्धि से जैसा जो यन्त्रों का कर्म होता है, उस को समझ लेना चाहिए और जो यन्त्र देखे गये हैं और जो वर्णित किये गये हैं उन को भी समझ लेना अथवा अनुमान कर लेना चाहिए ॥८२॥

औ यत्र सुन्दर एवं सुखद हैं उनको उपदेश के द्वारा बता दिया गया है। यह सब हमने अपनी बुद्धि से कल्पित कर लिया है। अब आगे पुरातनो (शास्त्रियों) के द्वारा जो प्रतिपादित किया गया है उसको कहता हूँ। यन्त्रों के सम्बन्ध में चार प्रकार का बीज उन लोगो ने कहा। उनका प्रत्येक का विभाग अक्ष, अग्नि, पृथ्वी और वायु के द्वारा बहुत प्रकार का कहा गया है और उनके पारस्परिक मिश्रण एवं सावधान से फिर ये यन्त्र वर्णित कहे जाने हैं। ससार में यन्त्रों से बह कर



और कौन सी आश्चर्य की बात है अथवा इस के अतिरिक्त और कौन सा तुष्टि का साधन है और आश्चर्य-जनक वस्तु है। इस से बढ़ कर कीर्ति का भी कौन सा स्थान है और यन्त्र के अतिरिक्त दूसरा काम-सदन या रति-केलि-निवेदन भी दूसरा नहीं है। इस से बढ़ कर पुण्य अथवा ताप दामन का और कौन सा उपाय है ॥८३-८५॥

मूत्र-धारो के द्वारा योजित बीज-योग अत्यन्त प्रीति देने वाले हो जाते हैं। भ्रान्ति-जनक और विस्मय-कारक लकड़ी से निर्मित दोला (झूला) आदि विस्मय-कारक यन्त्र हैं। अतः ये यन्त्रों का पाँचवाँ बीज हुआ ॥८६॥

यही आदमी चित्र-विविध यन्त्रों का निर्माण करना जानता है जिस में यह समय सामग्री होती है—परम्परागत कौशल, उपदेश-युक्त अर्थात् गुह्य से अर्थात् शास्त्राभ्यास, वास्तु-कर्म, उद्यम और निर्मल बुद्धि ॥८७॥

जो लोग चित्र-गुणों से युक्त यन्त्र-शास्त्राधिकार वाले इन पाँचों बीजों को जानते हैं, अथवा जो इन बीजों को पूर्ण रूप से योजना करते हैं, उनकी कीर्ति स्वर्ग और भूमि दोनों पर फैलती है ॥८८॥

एक मंगुल से मित (नापा गया) और अंगुल के एक पाद से ऊँचा, दो फुट वाला, गोल प्राकृति वाला, ऋजू, बीच में छेद वाला, सुदृढ़ सन्धि वाला और मजबूत ताबे में निर्मित उन्हे सम्पादित करे। लकड़ी के बने हुए पक्षियों में उसको उनके भीतर छिपत कर निबलती हुई वायु के द्वारा चलने पर सुन्दर शब्द करता है और सुनने वालों के लिए आश्चर्य कारक होता है ॥८९-९०॥

सुदृढ़ दो लकड़ी से सरम्भ (छेद-रहित) मध्य भाग मुरज नामक वाद्य-यन्त्र की प्राकृति के समान निर्मित कर दो कुण्डलों से ग्रस्त कर, बीच में मृदु पुट देवे और पूर्वोक्त यन्त्र की विधि से इसके उदर के क्षिप्त होने पर शय्या-तल पर स्थित यह यन्त्र संचरण में अर्न्त-क्रीड़ा को रसोल्लस्य करने वाली ध्वनि करता है और इस के शय्या-तल के नीचे रखने पर सुन्दर सुन्दर मनोमोहक विचित्र शब्द छोड़ता है जिससे मृग-सिंघुओं के समान नेत्र वाली नायिकाओं का भय से मान चला जाता है और इन प्रेमासक्तों, दयिताओं को अपने प्रिय के प्रति भासक्ति और अधिक २ काम-श्रीदार्पण प्रीति को प्राप्त होती है ॥९१-९३॥

पटह, मुरज, वेणू, शष, विपंची, बाहला, डमरू, टिविल, ये वाद्य-यन्त्र और आतोद्य-यन्त्र (Instruments by beating) बड़ा ही मधुर और चित्र-रस और उन्मुक्त वायु से भरे हुये ध्वनि करने में समर्थ होते हैं ॥९४॥

पुतली के द्वारा दीपक में तेल डालने वाला यन्त्र है। बनी हुई दीपिका-पुत्तलिया ताल की गति में नाचती हुई घीरे २ दीप में तेल डालती हैं। यंत्र के द्वारा बनाया गया हाथी वह जाता हुआ नहीं दिखाई पड़ता। जब तक पानी दो तब तक वह निरन्तर पानी पीता रहता है। यन्त्र-शुक्र आदि बनाये गये जो पक्षी बार बार नाचते हैं, पड़ते हैं और मनुष्य का आश्चर्य करते हैं वे सब अमोद-वितरण करते हैं। यन्त्र के द्वारा बनी पुतली अथवा गजेन्द्र अथवा घोड़ा अथवा घानर भी ताल से उलटते पलटते नाचते मनुष्य के मन को सुन्दर लगते हैं ॥७१३-७५३॥

जिस मार्ग से खेत घृत होता है उस में वह पानी जाता है और आना है फिर उसी के समान गड्ढे से पुष्करिनियों से पानी आता जाता है ॥७५३-७६३॥

फलक पर बौन बटती है, दौड़ती, है ताली बजाती है, और लड़ती है, नाचती है, गाती है, बाग आदि को बजाती है। वायु के बंद हो जाने पर फिर छोड़ देने पर यन्त्र की भगियों की जो दिव्य और मानुष्य चेंष्टाय होती हैं वे ही केवल नहीं और भी जो कुछ भी दुष्कर होता है यन्त्र के द्वारा सिद्ध होता है ॥ ७६३-७६३ ॥

यंत्रों का निर्माण अज्ञानता-बल नहीं बल्कि छिपाने के लिए, नहीं कहा गया है। उसका कारण यह जानना चाहिये कि यंत्र व्यक्त हो जाने पर फल-प्रद नहीं होते। इसी लिये यहाँ पर उनका बीज बता दिया गया बल्कि उनकी घटना निर्माण नहीं बताई गयी। क्योंकि व्यक्त हो जाने पर न तो स्वार्थ-सिद्ध हो सक्ता है न कीतुव ही हो सक्ता है और वास्तव में तो यंत्रों के बीज अर्थात् साधन कीर्तन करने में घटना आदि सभी कुछ कह दी गई है ॥७६३-८१॥

बुद्धिमान् लोगों को, अपनी बुद्धि से जैसा जो यंत्रों का कर्म होता है, उस को समझ लेना चाहिए और जो यंत्र देखे गये हैं और जो वर्णित किये गये हैं उन को भी समझ लेना अथवा अनुमान कर लेना चाहिए ॥८२॥

जो मन्त्र सुन्दर एवं सुखद हैं उनको उपदेश के द्वारा बताया गया है। यह सब हमने अपनी बुद्धि से कल्पित कर लिया है। अब आगे पुरातनो (पाचार्यों) के द्वारा जो प्रतिपादित किया गया है उसको कहता हूँ। यंत्रों के सम्बन्ध में चार प्रकार का बीज उन लोगों ने कहा। उनका प्रत्येक का विभाग अक्ष, अंगि, पृथ्वी और वायु के द्वारा बहुत प्रकार का कहा गया है और उनके पारस्परिक मिश्रण एवं साक्यं से फिर ये यन्त्र वर्णित कहे जाते हैं। सगार में यंत्रों से बड़ा कर

और कौन सी आश्चर्य की बात है अथवा इस के अतिरिक्त और कौन सा तुष्टि का साधन है और आश्चर्य-जनक वस्तु है। इस से बढ़ कर कीर्ति का भी कौन सा स्थापन है और यन्त्र के अतिरिक्त दूसरा काम-मदन या रति-केलि-निकेतन भी दूसरा नहीं है। इस से बढ़ कर पुण्य अथवा पाप समन का और कौन सा उपाय है ॥८३—८५॥

मूत्र-पारो के द्वारा योजित बीज-योग अत्यन्त प्रीति देने वाले हो जाते हैं। भ्रान्ति-जनक और विस्मय-कारक लकड़ी से निर्मित दोला (झूला) आदि विस्मय-कारक चक्र है। अतः ये यन्त्रों का पाँचवाँ बीज हुआ ॥८६॥

वही आदमी चित्र-विचित्र यन्त्रों का निर्माण करना जानता है जिस में पट्ट समय सामग्री होती है—परम्परागत कौशल, उपदेश-युक्त अर्थात् गुह्य से अर्थात् शास्त्राभ्यास, वास्तु-कर्म, उद्यम और निर्मल बुद्धि ॥८७॥

जो लोग चित्र-गुणों से युक्त यन्त्र-शास्त्राधिकार वाले इन पाँचों बीजों को जानते हैं, अथवा जो इन बीजों को पूर्ण रूप से योजना करते हैं, उनकी कीर्ति स्वर्ग और भूमि दोनों पर फैलती है ॥८८॥

एक अंगुल से मित (नापा गया) और अंगुल के एक पाद से ऊँचा, दो फुट वाला, गोल माकूनि बाना, ऋजु, बीच में छेद वाला, सूड्ड सन्धि वाला और मजबूत ताबे में निर्मित उसे सम्पादित करे। लकड़ी के बने हुए पक्षियों में उसको उनके भीतर क्षिप्त कर निकलती हुई वायु के द्वारा चलने पर सुन्दर शब्द करता है और सुनन वालों के लिए आश्चर्य कारक होता है ॥८९-९०॥

सूड्ड दो खंडों से सरन्ध्र (छेद सहित) मध्य भाग मुरज नामक वाद्य-यन्त्र की आवृत्ति के समान निर्मित कर दो कुण्डलों से ग्रस्त कर, बीच में मुटु पुट देवे और पूर्वोक्त यन्त्र की विधि से इसके उदर के क्षिप्त होने पर शय्या-तल पर स्थित यह यन्त्र संचरण में अनंग-क्रोश के रसोल्लास करने वाली ध्वनि करता है और इस के शय्या-तल के नीचे रखने पर सुन्दर सुन्दर मनोमोहक विचित्र शब्द छोड़ता है जिससे मृग शिशुओं के समान नेत्र वाली नायिकाओं का भय से मान चला जाता है और इन प्रेमासक्तों, दयिताओं को अपने प्रिय के प्रति आसक्ति और अधिक २ काम-प्रीतियों प्रीति को प्राप्त होती है ॥९१-९३॥

पटह, मुरज, वेणु, दध, विपची, बाह्ला, डमरू, टिक्कि, ये वाद्य-यन्त्र और पातोद्य-यन्त्र (Instruments by beating) बड़ा ही मधुर और विनोद और उन्मुक्त वायु से भरे हुये ध्वनि करने में समर्थ होते हैं ॥९४॥

**अम्बरचारि-विमान-यन्त्र** —अब अम्बरचारि-विमान-यन्त्र का वर्णन करते हैं। छोटी लकड़ी से बनाया गया महा विहंग बना कर और उसके शरीर को दृढ़ और मुस्लिष्ट अर्थात् खूब मटा और जुड़ा हुआ बना कर उस के अम्बर पारा रक्खे और उस के नीचे अग्नि के स्थान को अग्नि में पूर्ण करे और उसमें बैठा हुआ पुरुष उससे दोनो पक्षों के संचालन से प्रोज्झित वायु के द्वारा भीतर रक्खे हुए इस पारद को शक्ति से आकाश में आश्चर्य करता हुआ दूर तक चला जाता है। इसी प्रकार से यह बड़ा दारु-विमान गुरु-मन्दिर के समान चलता है और विधि पूर्वक इसके भीतर चार पारे में भरे हुए दृढ़ कुम्भों को रक्खे। लोहे के कपाल में रक्खी हुई मन्द वह्नि के द्वारा तपे हुए (तप्त) कुम्भों में उत्पन्न गुण से सन्तप्त और गर्जन करता हुआ पारद की शक्ति से आकाश का भ्रमकार बन जाता है अर्थात् आकाश में उड़ जाता है ॥६५—६८॥

**सिंहनाद-यन्त्र** —अब लोहे के यन्त्र को खूब ठीक तरह से कसकर और उसके अम्बर पारद को रसकर और फिर यह ऊँचे प्रदेश में रक्खा हुआ सिंहनाद मुरज (वाद्य-विशेष) की ध्वनि करता है। इस नर-सिंह की महिमा विवक्षित है। इसके सामने मद और जल को छोड़ने बाने हाथियों की घटारों भी इसके गम्भीर घोष की बार-बार मुन कर अमुदा की भी परवाह न कर शीघ्र भागने लगते हैं ॥६९-१००॥

इस में हाथियों को जलकीड़ा करते हुए एक दूसरे की सूट से छोड़े गये मीरुरो 'जलकणो' से बन्द हो गए हैं नयन जिन के ऐसे जोड़ों को दिखाना चाहिए ॥१३४॥

इस प्रेमास्पद यन्त्र में वर्षा का अनुकरण करने वाला हाथी दूसरे हाथी को देख कर घास, गण्ड-स्थल, मेहन और हाथों से मद के समान वर्षानुवृत्त जल को छोड़ता हुआ दिखाना चाहिए । १३५ ।

वहा पर कोई ऐसी स्त्री बनावे, जो अपने दोनों स्तनों से दो जल-धारायें निकाल रही हो और वही सजल बिन्दुओं को आनन्दायु-वर्णों के समान अपनी पलकों से निवाल रही हो ॥१३६॥

कोई स्त्री ऐसी दिखाई जाय, जो अपनी नाभि-रूपी नदी से धारा को निवाल रही हो और कोई अशुणियों की नखायुओं के समान धाराओं से मिचन कर रही हो । इस प्रकार के आश्चर्य-कारक स्वभाव-चेष्टायें और बहुत से रमणीय क्षोभों का निर्माण कर के स्वर्पति राजा के लिए मनोरंजन करे । ॥१३७-१३८॥

उसके मध्य में निर्मल स्वर्ण और मणियों से निर्मित सिंहासन बनाना चाहिए और उस पर नरपति, अश्वनिपति, श्रीपति, देव (अर्थात् राजा जो) बैठे ॥१३९॥

वर्षा २ इस में उसको स्नान करावे और मंगल-गीतों से अपने आनन्द को बढ़ाता हुआ कादित्र और नाट्य निपुणों (गाने वालों, बजाने वालों, नक्त करने वालों) से सेवित वह राजा साक्षात् इन्द्र के समान आनन्द का भोग करे ॥१४०॥

जो राजा भीषण गर्मी में स्फुट जल-धारा वाले इस धारा-गूह में सुख-पूर्वक बैठता है और विविध-प्रकार की जल-कारीगरी को देखता है वह मर्त्य नहीं बरन पृथ्वी पर निवास करने वाला साक्षात् सूरपति इन्द्र है ॥१४१॥

प्रवर्णन :—पहिले की तरह मेघों के आठ कुलों (पुष्कारावतंकादि) से युक्त दूसरा जल घर बनावे । बरसती हुई धाराओं के निकरों (समूहों) के कारण इसका नाम प्रवर्णन पड़ा है ॥१४२॥

इस में मेघों के प्रतिकुल में दिव्य अलंकार धारण करने वाले सुदृढ़ एवं सुन्दर तीन चार अथवा सात विधि-पूर्वक पुरुषों का निर्माण करे ॥१४३॥

फिर भीषे समोच्छ्राय-यन्त्र स उन टेढ़ी नाली वाले उन पुरुषों को मिल जलो से पूरित करे ॥१४४॥

पुरुषों के सम्पूर्ण सलिल-प्रवेश वाले छेदों को बंद कर तदनन्तर उनमें जल निकालने वाले अंगों को खोल दे ॥१४५॥

पुष्प-द्वार-प्रतिगोघ और मोचनों से टेढ़े नल से निकले हुए पानी आश्चर्य-कारक पात से आश्चर्य-कारक स्वेच्छापूर्वक जल को छोड़ते हैं । ॥१४६॥

इस प्रकार इन जल-धारण करने वाले सब पुरुषों से अथवा दो से अथवा तीन से महान् आश्चर्य विधायक स्वेच्छापूर्वक प्रवर्णन करावे ॥१४७॥

यह नाना आकार वाला, रति-पति कामदेव का प्रथम बल-भवन विचित्र पदार्थों का निवास और मेघों का एक ही अनुकरण ग्रीष्म से जल के पात से सूर्य के ताप का घमन करने वाला किन्तु लोगों के नयनों का आनन्द दायक नहीं होता (अर्थात् सभी के लिये होता है) ॥१४८॥

प्रणाल — यह प्रणाल-नामक जल घर का वर्णन किया जाता है । एक, चार अथवा आठ अथवा बारह अथवा सोलह खम्भों से दृढ़ता मनीहर घट बनाये । सब दीवारों से युक्त चौकोर चार भद्रों से युक्त ईली-तोरण-युक्त पुष्पबाजार हों बनाना चाहिये । उसके ऊपर बीच में एक सुदृढ़ प्रागण-वापी बनाये और उसके बीच में कमलों से सुशोभित पणिका का निर्माण करे और उसके चारों ओर पर वापी के मध्य भाग में खिले हुए कमल पर लगाये हुए आखों वाली, अनवरत धारण किये और विभिन्न शृंगार किये रमणीय दारु-दारिकाओं का निर्माण करना चाहिये ॥१४९-१५२॥

पूर्वोक्त मन्त्र के तम से पद्मासन पर राजा के बैठने पर फिर सबों के निर्मल जल से प्रागण की वापी को भरे और फिर उस वापी को भर कर फिर उस जन को उसके निम्न गद्गु गभों में ले जाया जाय । पुनः उस में शुगन्धि की योजना करें । मुख के बगैरे से गमुाकीर्ण रूप वाले चित्र-विचित्र नासिका, मुल, बाल, नेत्र, आदि प्रतिज अंगों से जल छोड़ा जाता है । प्रणाल-नाम का यह अद्भुत धारा-भयन जिस राजा के अगण प्रदेश में स्थित होता है अथवा जो स्वपति प्रणी चतुर बुद्धि से इसका निर्माण करता है, वे दोनों ही (राजा और राज) सगार में बड़े यशस्वी होते हैं ॥१५३-१५६॥

जलमग्न — चौकोर, दृढ़ महरी, सुदृढ़, मनोरम वापी बनाये फिर उसका घर जीवन के नाथे, गन्धियों को लित करके, निर्माण करे । शुग्ग में विविध द्वार से गुदर पुरुषों के द्वारा ऊपर जल सभा जावे ॥१५७-१५८॥

चित्राध्याय में वर्णित क्रम से फिर चित्र से अलंकृत इसका मध्य भाग घण-वाम के समान बनावे ॥१५६॥

उस कपड़े के नाल से उत्पन्न उन नाल वाले ऊपर निकले हुए कमलो में सन्निध कर्णिका-स्थित मूर्त्यं किरणों के द्वारा विकास कराया जाय ॥१६०॥

निर्मल कमलो तक मिरते हुए जल से उसे पूरा किया जाय और इसी विधि में ठीक तरह से सुन्दर भवन का निर्माण करके माना सजावट से युक्त प्रांगन का तोरण-द्वार बनावे और चारों दिशाओं में लम्बी चौड़ी शालामें बना कर शोभा करे । बनावटी मछली, मगर और जल-पक्षियों से युक्त और कमलो से युक्त उस बापी को इस तरह से बनावे कि मानो ये सब जीव-जन्तु एवं पक्षी मछने ही हों ॥१६१—१६३॥

सामान्य लोग प्रधान पुष्प राजा की आज्ञा प्राप्त कर प्राथम्य लेने वाले दूसरे रास्तों में भाये हुए दूत यहां पर एकान्त में बैठें ॥१६४॥

तदनन्तर पूर्वोक्त मार्ग से निरूपित विभिन्न रूपों की जल-क्रीड़ा को देख कर मुग्ध नृपति पर्यङ्गारीकृत करे ॥१६५॥

वहां पर जल-भवन में वारागनाओं से चारों तरफ घिरे हुए राजा का पानाल-गृह में जिस प्रकार भुजगेश्वर शेष-नाग का प्रमोद होता है उसी के समान उसका अत्याधिक आनन्द वाला प्रमोद होता है ॥१६६॥

नन्दावर्त—पूर्वोक्त बापिका में मध्य भाग में चार खम्भों से निर्मित मोती-मूंगी से युक्त पुरुष और लट्भ का निर्माण करे । बापी के चारों ओर छूव निकलते हुए पानी से सुदृढ पुष्पक को भर कर अन्दर स्वस्तिक दीवारों से चारों ओर शोभा करावे । पूर्वोक्त जल-योग से कान तक पानी भरा कर जल-क्रीड़ा के लिये उत्कण्ठित राजा पुष्पक पर जाए और फिर वहां पर विदूषकों और वार-विज्ञानियों के साथ उस दीवाल के अन्दर होकर जल में डूबने और निबलने की क्रीड़ा करे ॥१६७—१७०॥

एक जगह डूबते हुए, दूसरी जगह पानी से बाहर कर मूट होते हुए केलि करने में सहायकों के साथ राजा छूव सेलता है और आनन्द लेता है ॥१७१॥

बापी-तल में स्थित, लज्जा से झुके हुए कर-जल्लव से अपने स्तन-भाग को ढके हुए, सरीर से मादावसक्त वस्त्र वाली जलरोष को छोड़ने वाली ऐसी प्रणयिनी को जो आदमी देखता है, वह धन्य है ॥१७२॥

दोला-यन्त्र जो पाचवा बीज-सयोगात्मक यन्त्र-भ्रमणक-कर्म कीर्तित किया गया है ; अब दाह-निर्मित उस रथ-दोला आदि के विधान को ठीक तरह से कहता हूँ । उनमें वसन्त, मदन-निवास, वसन्त-तिलक, विभ्रमक तथा त्रिपुर नाम वाले ये पांच भूले कहे गए हैं ॥१७३—१७४॥

वसन्त .—ऋज, मुदृढ एक सूत्र बाने चार खम्भों को खचित करे, भूमि-वश उनके प्रवक्ता बराबर हों और सुदिनष्ट तथा पीठगत हो । प्रासाद की उक्त दिशा से अर्थात् प्रकार से आठ हस्तों से उस का दिव्य सम्पादन करे और उसके आगे से गहरा रमणीय भूमि-गृह बनावे ॥१७५—१७६॥

उस के गर्भ में भ्रम-सहित, पीठ-सहित और द्वादश तुलाओं से प्रस्त लोहे का खम्भा स्थापित करे ॥१७७॥

पीठ के ऊपर खूब मजबूत विभक्त कुम्भिका स्थापित कर, फिर उस को धनुष की ऊँचाई में आठ भद्रों से घेरे । इसके उपरान्त इसके ऊर्ध्व भाग में ऋजु स्वेच्छा पूर्वक भूमिका की ऊँचाई बनावे और वेष्टन के ऊपर पट्युत स्तम्भ-शीर्ष रखे । हीर-ग्रहण तब मदला गज-शीर्षिका बनानी चाहिए । वह खूब मजबूत हो, प्रयत्न से बनाई गई हो और मनोज हो ॥१७८—१८०॥

पट्ट के ऊपर असीम क्षेत्र के मान (प्रमाण) से सधिया (चतुष्पिका) बनावे और उसके ऊपर मजबूत तल-बन्ध निर्माण करे ॥१८१॥

तदुपरान्त क्षेत्र में युक्ति से उठाए हुए, सुन्दर बारह खम्भों से रूपवती-कोणस्थिति से अधिक, पहली भूमि बनावे ॥१८२॥

उस के मध्य में गर्भ-स्तम्भ-प्रतिष्ठित अम की रचना करे और पश्चात् क्षेत्र-मान में उसको वस्त्रों से ढक दे ॥१८३॥

रथिका के शिखा के अग्र-भागों में पलकावरण के ऊपर स्तम्भ के मध्य पांच भ्रम-वस्त्रों का न्यास करे ॥१८४॥

इस के ऊपर पुष्पक की आकृति की सुशोभित भूमि का निर्माण करे, उस आघार मध्य वा स्तम्भ होता है और उस के मिर पर बनावे हुए बलश सुशोभित होते हैं । स्तम्भ के नीचे घुमाए जाने पर अर्ध भूमिका उसमें खूब घूमती है । वह अर्धभूमिका चक्र-यन्त्र से ऊपर ऊपर गिरा-भ्रमर से युक्त हो कर घूमती है ॥१८५—१८६॥

इस प्रकार वसन्त-रथिका-भ्रम-नामक भूने में बैठी हुई बार-विलम्बियों के परिभ्रमण में उत्पन्न दृष्टि विभ्रम आता मदनोत्सव जो



स्वर्ग में नहा गया है, वैसे ही वसन्त के समय प्रमल कीर्तिवाना यह धाम राजा के लिये होता है । १८७ ।

**मदन-निघातः**—इसके बाद विना नीव के एक स्थिर, लम्बे का आरोपण कर फिर इसके ऊपर चार हाथ ऊंची भूमिका बनावें ॥१८८॥

मध्य में भ्रमरक-युक्त बनावें और शेष पहले के समान यहा पर भी निवेश करें और स्तम्भ में पुष्पक को भी कलश से ऊँचा और शिथिल न्यास करे । उस में ऊपर चार आसनो से युक्त श्रीवा का निर्माण करे और फिर वहा पर बड़े बड़े दो घण्टा-स्तम्भो का निर्माण करे ॥१८९-१९०॥

इस प्रकार पुष्पक-भूमिकाओ के भीतर बँठा हुआ पुष्ट जन तब तक आमक यन्त्र-चक्र-ममूह को क्रमशः चलाव जब तक रथिका पर बँठी हुयी मृगनयनियां पुष्पक में सब की सब काम-वासना के कौतूहल से अपित आसो वाली घुमाई जाने लगे ॥१९१॥

**वसन्त-तिलकः**—इस के बाद प्रथम चार कोने पर ऋजु एवं मुट्ट बर लम्बो को निवेशित करे और भूमि के अनुसार बराबर अन्तर पर पृष्ठ-भूमि पर उन्हे स्थापित करे । उनके ऊपर तलान्तर-संयुक्त भूमिका बनानी चाहिए और प्रत्येक दिशा में स्थापित पहले की तरह वहा पर चार रथिकायें बनाई जाती है । उस के ऊपर सुश्लिष्ट दाह-संघानित ग्रन्थ-भूमि का निर्माण करना चाहिए । उस का मध्य भाग भ्रमरक-युक्त और मत्तवारण-युक्त एवं रूपको युक्त होना चाहिए ॥१९२-१९४॥

परस्पर यन्त्र के परिग्रहण से चलायमान अखिल चक्रों की रथिकाओ के भ्रमण से सुन्दर इस वसन्त-तिलक झूले को देख कर सुर-मन्दिरो के भूषामय कौन विस्मय को प्राप्त नहीं होता ॥१९५॥

**विभ्रमकः**—मह्यी रगभूमि बना कर चौकोर चार-भद्रा वाली रूपवती भूमि का निर्माण करे ॥१९६॥

इस के भद्रो से प्रत्येक कोने पर भ्रमर-संयुक्त होते हैं और भूमि के ऊपर भाठ आसन वाले भ्रमरो का निर्माण करे ॥१९७॥

बाहर भीतर और बहुत सी चित्र-विचित्र शुद्ध रेखाओं को खचित करे । फिर पीठो में मध्य भाग में स्थित दूसरी भूमिकाओ का निर्माण करे ॥१९८॥

पीठ के मध्य-भाग में स्थित परस्पर निकट योजित चक्रों से सब भ्रमर

शीघ्रता से घूमने लगते हैं। स्वर्ण में बैठने के समान भूले पर बैठा हुआ वह राजा चारि-विलासिनियों के द्वारा सम्भृत चित्र-विचित्र मिश्रम से जोहर्ष को प्राप्त करता है तथा उसकी नीति तीनों लोको में समुल्लसित होती हुई समाती नहीं है ॥१६६—२००॥

त्रिपुर :—यद्य क्षेत्र को चौकोर बना कर घाठ अक्षों से विभाजित कर शेष कोणी के द्वारा चौकोर भद्र का कल्पन करे ॥२०१॥

उस से दुगुनी भूमिकाओं की भाग-सख्या से इसका ऊर्ध्व-भाग निर्मित करे। वहा पर भूमिका की ऊंचाई चार अक्ष की हो। २०२।

वहा पर घाठ, छी, चार भागों से वजित ऊपर २ भूमिकायें क्रमशः होती हैं और उन में से तीन अर्ध-समृत होती हैं। शेषाक्ष से उच्छ्राय-युक्ता चतुरश्रायता घण्टा बनानी चाहिए। तीसरी और चौथी भूमि का निर्माण ६ और ४ भागों के विस्तार से करना चाहिए। प्रथम भूमि में रंग, दूसरी भूमि में कोनो में रथिकाय और वहा पर भद्रों की आकृति से युक्त रमणीय दोला भी हो ॥ २०३—२०५ ॥

तीसरी भूमि में भद्रों में अतिरमणीय रथिकायें बनानी चाहिए। कोनो में आसन और अन्य अर्ध-वास्तुक में भी भ्रम का न्यास करे ॥२०६॥

चार आसन वाले दोगा-रथिक में आठ आसन वाला भ्रम होता है। आसन से वहा पर अभिप्राय है कि वह युवती का एक स्थान होवे। २०७।

जो सब आसन भ्रमण सम्मुख घूमते हैं वे सारे के सारे आसन एक प्रकार से भ्रम ही हैं ॥२०८॥

यष्टि के ऊर्ध्व भाग में भ्रम के नीचे एक चक्र को योजित करे और उसी प्रकार वहा पर आसनो में लघु चक्रों का नियोजन करे ॥२०९॥

लघु चक्राकार वृत्त में (चौकोर गोले में) कीलों को लगाना चाहिए और वह समान अन्तर पर सभी छोटे चक्र के वृत्त दिखाई पड़ने चाहिए ॥२१०॥

रथिका का ऊपर का चक्र भ्रम-चक्र से विनियोजित करे और इस में दो चक्रों से युक्त चार यष्टियां टेढ़ी २ लगावे ॥२११॥

रथिका-यष्टि-भ्रम में सलग यन्त्रों को द्वितीय भूमि के ऊपर और तृतीय भूमि के अन्तर में करना चाहिए ॥२१२॥

आसन की आधार-यष्टियों के नीचे समान अन्तर पर रथिका-चक्रों से योजित चार परिवर्तकों का निर्माण करे ॥२१३॥

उसी प्रकार द्वितीय भूमि दोला-गर्भ में दो समानान्तर यष्टियों का निर्माण करना चाहिए, जिस में एक २ पहिया लगा हो और इतका दक्षिण और उत्तर के चक्रों में न्यास करे। इसी प्रकार नीचे भू-कोण तक जाने वाली रथिका-समूह के दश-चक्र में समी हुई दो दो पहियों वाली चार यष्टियों का दूसरी दिशाओं के चक्रों में न्यास करे। शान्त के दोनों चक्रों में कोनों की रथिका-चक्र में योजित दोला के गर्भ में जाने वाली दूसरी दो यष्टियाँ तिरछी बनानी चाहिए। पूर्व-भद्र में सोपानों से शोभित द्वार-निर्माण करे और नीचे गर्भ के पश्चिम भाग में देवता-दोला का निवेश करे ॥२१४-२१७॥

इच्छानुसार छोड़ा जाने वाला चक्र-अम विधान-पूर्वक ठीक तरह से जानकर शीघ्र चलने वाला अथवा मन्द चलने वाला प्रयोजित करे ॥२१८॥

संक्षेप से जहाँ तक हो सका हमने इस प्रकार से अम-भाग कीर्तित किया। दूसरों में उसी तरह अम-हेतु के लिए ठीक तरह से करना चाहिए ॥२१९॥

दृढ़ और धिकने स्तम्भ-आदि द्रव्यों के धिन्यासों में कल्पित सुनिश्चित सन्धि-यन्त्र वाला बड़े मुख्य-स्तम्भों से धारण दिया गया, तिलको से परिवारित और चारों तरफ सिंहकरणों से युक्त, अपने चित्रों से विचित्र रूप वाला त्रिपुर नाम का दोला ठीक तरह से बनावे ॥२२०-२२१॥

बुद्धि से निर्मित और पूर्व यन्त्रों से युक्त जो मनुष्य इस यन्त्राध्याय को ठीक तरह से जानता है, वह वाञ्छित मनोरथों को ठीक तरह से प्राप्त करता है और प्रतिदिन राजाओं के द्वारा पूजित होता है ॥२२२॥

जिस राजा के भुज-स्तम्भों से प्रतिबद्ध (रोकी गयी) वृत्ति वाला यह सम्पूर्ण द्वादश राज-मण्डल इच्छा से घूमता है तद् धीमान् भुवन में एक ही राम नाम के राजा ने इस यन्त्राध्याय को अपनी बुद्धि से रचित यन्त्र-ग्रन्थों के साथ बनाया है ॥२२३॥

## पंचम पटल

### चित्र-लक्षण

१. चित्रोद्देश
२. चित्र-भूमि-वर्णन (Background)
३. चित्र-कर्माङ्ग—लेख्यादि-कर्म
४. चित्र-प्रमाण :-  
(अ) अण्डक-वर्तन  
(ब) मानादि
५. चित्र-रस तथा चित्र-हृष्टिया

## अथ चित्रोद्देश-लक्षण

अब इसके बाद हम सौग चित्र-कर्म का प्रपंच करते हैं, क्योंकि चित्र ही सब शिल्पो का प्रधान अंग तथा लोक प्रिय-कर्म है ॥१॥

**चित्रोद्देश :-**पट्ट पर अथवा पट पर अथवा मुद्ग्य (दोवाल) पर चित्र-कर्म का जैसा सम्भव है और जिस प्रकार की वर्तिया, कृत-बन्ध और लेखा-मान होते हैं, वरुण का जैसा व्यतिक्रम, जैसा वर्तना-क्रम, मान, उन्मान की विधि, तथा नव-स्थान-विधि, हस्तो का विन्यास—उन सबका प्रतिपादन किया जाता है। स्वर्गियों का, देवादिकों का, मनुष्यों का तथा दिव्य-मानुष-जन्मा व्यक्तियों का, गण, राक्षस, किन्नर, कुब्ज, घामन एवं स्त्रियों का विकल्प आकृति-मान और रूप-संस्थान, वृक्ष, गुल्म, सत्ता, बल्सी, बोरुध, पाप-कर्मा व्यक्ति, दूर, दुर्विदग्ध धनी, राजा, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्रजाति, क्रूर-कर्मा मानी, रंगोपजीवी—इन सब का वर्णन किया जाता है। सतियों का, राज-पत्नियों का रूप, लक्षण, वेष-भूषा (नैपथ्य), दासियों, सन्यासिनियों, राखी, भिक्षुणियों आदि अथवा हाथियों, घोड़ों मकर, व्याल, सिंह तथा द्विजों का भी वर्णन किया जाता है। इसी प्रकार रात दिन का विभाग और ऋतुओं का भी लक्षण तथा योग्यायोग्य-व्यवस्था का भी प्रतिपादन आवश्यक है। देवों का प्रविभाग और रेखाओं का भी लक्षण, पाच भूतों का लक्षण और उनका आरम्भ भी बताया जायेगा। वृक आदि हिंसक जन्तुओं, पक्षियों और सब जल-वासियों के चित्र-न्यास-विधान का अब लक्षण कहता हूँ ॥२-१२॥

**चित्राङ्ग —**जिसे चित्र-कर्म में वर्तता जाता है उसके सब अंगों का सविस्तार वर्णन किया जाता है। पहला अंग वर्तिका, दूसरा भूमि-बन्धन, तीसरा लेख्य, चौथा रेखा-कर्म, पाचवा वर्ण-कर्म, छठा वर्तना-क्रम, सातवा लेखन और आठवा रसावर्तन ॥१३-१५॥

चित्र-कर्म का यह संग्रह भी क्रमशः सूचित करता है वह कभी मोह को नहीं प्राप्त होता है और वह कुशल चित्रकार होता है ॥१६॥

## अथ भूमिबन्धन-लक्षण-

अथ वर्तिका का लक्षण और भूमि-बन्धन का लक्षण वर्णन किया जाता है ॥१॥

गुल्मों के अन्तर में, शुभ क्षेत्र में पट्टिनो में, नदी के तट पर, पर्वतों के वक्षों में, 'वार्पिका' और वनों के अन्तर में और वृक्षों के भूतों में जहाँ पर भौम लक्षण-पिण्ड हो, इन क्षेत्रों में जो मूर्तिका स्थिर, सुस्तिष्ठ (चिक्की) पाण्डर तथा सकंरामयी होने पर मृदु एव चित्र-बन्धोपयोगिनी हो "इस प्रकार क्षेत्रानुसार मूर्तिका घुम बनाई गई है। उसको फूट कर पीसे फिर कलक बनावे। भात का अर्थात् शालिभक्त का पूर्वोक्त भाग बड़ा परा देना चाहिये। ग्रीष्म-ऋतु में सातवा भाग, शीतकाल में पाँचवा, शरद में छटा और वर्षा में चौथा भाग ग्रहण करे। वर्तिका-बन्धन के लिये इस प्रकार की मूर्तिकायें बृहत्ता को प्राप्त होती हैं। पुन कल्क-बन्धन में पूर्ण कोशस की अपेक्षा होती है। रेखा-वर्तन में—शिक्षा-काल में, वर्तिका दो अंगुल के प्रमाण से बनाई जाती है। क्रुद्ध रेखाओं में वर्तिकायें तीन अंगुल की बताई गई हैं। जहाँ तक पट-चित्र में रेखाओं का प्रश्न है, उन में चार अंगुल के प्रमाण से करना चाहिये ॥१-६३॥

**भूमि-बन्धन :-** अथ भूमि-बन्धन-क्रिया का वर्णन करूँगा। भूमि-बन्धन अर्थात् pictorial back-ground में विशेष कर जो आवश्यक एव अनिवार्य सामग्री होती है उसी से भूमि-बन्ध किया जाता है। पूर्ण नक्षत्र-वारों में और मासगत दिवसों में वास करके वर्ता, अर्ता और शिस्तक नाना वर्ण के सुवन्धित कुम्भों से और सुवन्धित धूपों से पूजन करके उसका आरम्भ करें। सर्व-प्रथम मान उन्मान-प्रमाण के अनुरूप भूमि आदि सब सामग्री का निक्षेप एव साधन जुटाकर पहले भूमि का विधान करे पुन-सम्यक् आलोचन करके बुद्धिमान को फिर इस भूमि-क्रिया का आलोचन करके पश्चात् बन्धन-विधान करना चाहिये। कलक के आचरण में गेहूँ व सड़क के सदृश अथवा वादृश मूर्तिका पीसकर कल्क बनाना चाहिये। फिर उसका पिण्ड बनाकर उसको धूप में सुखाना चाहिये। सुखाने के साथ साथ उसे थपण भी करे तथा गोला भी बनाता रहे। इस प्रकार

से चारों कोनो में हमें सौते दिन तक धिगना चाहिये फिर हाथ से उसे मनना चाहिये जिससे यह भूमि सवण निष्ट हो जावे । अथवा शिक्षिका-भूमि पर खर-बन्धन का निर्माण करना चाहिये । तथा पूर्वोक्त बल्क के नियमित में बन्धन को फैलना चाहिये । ग्रीष्म काल में पाच भाग को प्रशस्त कहा गया है शरद् में ३३ अंशों से विधान है । अथवा वर्षा-काल में एक भाग के प्रमाण से देना चाहिये यह निश्चित क्रम है । पाचो भाग के प्रमाण से ग्रीष्म में विधान है । पूर्वोक्त विधान से भूमि में बन्धन करना चाहिये । आर्य रोमकूर्च (गुह्य) में सूखी सूखी का प्रमश-लेप करना चाहिये । इस प्रकार विचक्षणों को जल से हस्त-लाभ देना चाहिये । इस प्रकार से बनाया गया शिक्षिका-भूमि बन्धन श्रेष्ठ कहा जाता है ॥६३-२३॥

११॥ १॥ कृद्ध्य-भूमि-बन्धनम्—अथ कृद्ध्य-भूमि को बन्धन का यथावत् वर्णन करते हैं । स्तुही-वास्तुव, कूर्माण्ड कृद्ध्यो—इन वस्तुओं को लाए, अपामार्ग अथवा गन्ते के रस में अथवा दुग्ध में उनको मान रात तक रखें । शिगपा, सन और तिम्बा तथा त्रिफला और बहेडा इन का यथालाभ समान समान भाग लेकर और कुटज का कपाय-क्षार-युक्त सामुद्रिक नमक से पहले कुड्य (दीवाल) को बराबर बनाकर फिर इन कपायों से सींचे । फिर स्थूल पाषाण वर्जित चिकनी मिट्टी लाकर दृग्ना व्यास करके, बालका-मूदा (बालुकामयी मिट्टी) का जोदन करना चाहिये । फिर ककुम, भाप (उड्ड), दात्मली श्रीफल इनका रस कालानुसार देना चाहिये । पूर्वकालानुसार से जिस प्रकार की भूमि-बन्धन बताया गया है उसी प्रकार का सब बालू से एकत्र करके पहले हाथों के चमड़े की मोटाई के बराबर दीवाल को लेपे । पुनः उसे दर्पण सदृश चिकना एवं प्रस्पष्टित कर देवे । विद्युद्ध, विमल, सिन्ध, पाटुर, मृदुल स्फट-प्रथम प्रतिपादित कट-शर्करा (भुरभुरी मिट्टी) को विधि-पूर्वक कट कर और घिसकर बल्क बनाना चाहिये और पूर्वोक्त प्रकार से भक्त-भाग का लेपन और नियमित करना चाहिए अथवा उसे कटशर्करा के साथ देना चाहिये । इस प्रकार विचक्षण लोग कुड्य का लेपन करते हैं । हल से हस्त-मात्र लेपन कर कट शर्करा देनी चाहिये । इस विधि से कुड्य बन्धन उत्तम सम्पन्न होता है ॥२४-३३॥

पट्ट-भूमि-बन्धन—अथ इस समय पट्ट भूमि का निबन्धन वर्णन करूंगा । नीम के धीजो को इकट्ठा करके उनके मल को त्याग कर इस प्रकार से उनका छिलका निवाल कर अथवा शालि-तडुसों को इन दोनों में से एक को पीराकर वर्तन में पकावे । अथवा से पट्ट को लेपकर पूर्वोक्त विधान समाचरण करे ।

पूर्वोक्त प्रकार से कटशर्करा को निर्यासित करके फिर पानी से पट्ट को भिगोकर पट्ट का आलेखन करे । इस विधि से चित्र-कर्म में बधा प्रशस्त होता है अथवा दूसरी विधि से पट्ट-भूमि-बन्धन करना चाहिये । तालादि-पत्रों के निर्यास-समुचित बनाकर तदनन्तर निर्यासयुक्त कटशर्करा तीन बार देना चाहिये । इस प्रकार से यह पट्ट-भूमि-बन्धन विशेष-रूप से प्रयत्न पूर्वक बनावें ।

**पट्ट-भूमि बन्धन :—**जैसा पट्ट-भूमि-बन्धन में गोमय आदि निर्यास का विधान है उसी प्रकार पट्ट-भूमि-बन्धन भी विहित है

“यथा पट्टे तथैव स्याद् भूमिः बन्धः पट्टेऽपि सः ।

इस प्रकार से हमने चित्राङ्ग विशेष-वर्तिका एवं भूमि-बन्धन के सब साधनों एवं साध्यों का लक्षण-पुरस्सर वर्णन किया । जो शिल्पी इस चित्र-क्रिया में कौशल से कर्म करता है वह विद्याता की इस सृष्टि में बड़ी कीर्ति पाता है ॥३६—४३॥



## लेप्यकर्मदिक-लक्षण

मृत्तिका और लेखा के लक्षण के साथ भव लेप्य-कर्म का वर्णन किया जाता है ॥ ३ ॥

वापी, वृष, तडाग, पयिनी, दीर्घिका, वृक्ष-मूल, नदी-नीर और उसी प्रकार गुल्म-मध्य-यं तत्त्वपूर्वक मृत्तिवापी के दोष बताये गये हैं ॥ ३-२ ॥

उक्त मृद्वियों के रंग विभिन्न प्रकार के होते हैं - मित (सफेद), छीद्र-सदृश गौर और कपिल ये चिकनी मिट्टिया ब्रह्मण आदि वर्णों में प्रमश प्रशस्त मानी जाती हैं ॥ ३ ॥

यथाशस्त्रानुकूल स्थूलपापाण-वर्जिता मृत्तिका लेनी चाहिये ।

शास्त्रमयी (समल), माप (उडद, ककुब, मधूक (महुषा तथा श्रिकला इन वृक्षों का रस उस मिट्टी पर डाल कर और बालू को भी मिला कर छोड़े के सटा-लोम भयवा गोमो के रोम या नारियल का बकला देना चाहिये और मिट्टी में मिल कर फटना चाहिए भयवा उससे दूनी भूसी मिलानी चाहिय और गितनी वा 'का हो उसना ही मिट्टी मिलानी चाहिए। मिट्टी में कपास के दो भाग मिलाने चाहिए। इन सब को एकत्रित करके तीसरा मिट्टी का भाग ऊपर फेंकना चाहिए। तदनन्तर पूर्वोक्त कटशर्करा को रखकर कलक बनाना चाहिए और उसे कपड़े से ढक देना चाहिए।

लेप्य-वर्म मृत्तिका-निर्णय के लिये शिल्प वीक्षण के साथ साथ आवश्यक विधान भी अनिवार्य है। वृक्ष से कट-शर्करा का लिप्पन, मृत्तिका-स्वाधादि भव्य उपादान भी मानादि के साथ २ भी उपादय हैं

शास्त्र प्रतिबन्नाचरण से कर्ता का नाश भी प्राप्त होता है ॥ ४-१२३ ॥

भव लेखा का लक्षण ठीक तरह से बताया जाता है। पहला कूर्च भयवा कूर्चक, दूसरा हस्त-कूर्चक, तीसरा भास-कूर्चक चौथा चल्ल-कूर्चक, पाचवा वर्तना-कूर्चक ये पाँच प्रकार के कूर्चक (वृक्ष) बताये गए हैं।

यैस के शान के रोमों से बना हुआ कूर्चक बुद्धिमान मनुष्य को धारण करना चाहिए।

अथवा उसे वत्कलो से अथवा सरकेशगे से बनाना चाहिए। कूर्चक सिद्ध-हस्त के द्वारा जो बनाया जाता है वह प्रशस्त होता है।

तन्तु से कूर्चक विलेखा-कर्म में श्रेष्ठ होता है। पहला बट-वृक्ष के अंकुर के आकार वाला और दूसरा पीपल-वृक्ष के अंकुर के आकार वाला और तीसरा प्लक्ष के अंकुर के आकार वाला, पुनः चौथा उदुम्बर (गूलर) वृक्ष के अंकुर के आकार वाला बताया गया है। बटाकुर-सदृश आदि कूर्चक से मोटी लेखा नहीं बनाना चाहिए और प्लक्ष के अंकुर के समान छोटी लेखा नहीं होनी चाहिए। पीपल के अंकुर के समान जहा पर विद्वान लोग लेखा करते हैं वहा गूलर (उदुम्बर) के अंकुर के आकार वाला कूर्चक लेप्य-कर्म में प्रशस्त माना जाता है। बांस का कूर्चक भी चित्र-कर्म में प्रशस्त माना गया है। कूर्चक के दण्ड में वास्तव में वेणु (बांस) की ही लकड़ी विशेष श्रेष्ठ मानी गयी है ॥१२३-२२३॥

लेप्य-कर्म संक्षेप से बताया गया। पुनः मिट्टी की संस्कार-विधि बताई गई। अथवा यहा पर ठीक तरह से विलेखनी और कूर्चक की पाच प्रकार की रचना सम्यक् प्रकार से वर्णन की गई है ॥२३॥

## अथाण्डक-प्रमाण-लक्षण

अथ प्रक्रम-प्राप्त अण्डक-वर्तना का वर्णन किया जाता है तथा जातिभाव आदि से सम्बन्धित का प्रमाण भी वर्णित किया जाता है ॥१॥

टि० द्वितीय श्लोक भृष्ट है अतः अनूद्य ।

शास्त्रानुकूल प्रमाण से गोले का प्रमाण उत्तम बताया गया है । उसी के अनुसार मान और उन्मान बनाना चाहिये ॥२—३॥

मुखाण्डक अर्थात् प्रधान अण्डक का विस्तार छे भाग समित विहित है और दो भाग स मित सम्बाई विहित है । सात गोले बनाने च हिये और इसी प्रकार स बाकी का संस्थान इस प्रधान अण्डक के निर्माण से चित्र-कर्म मे उत्तम बताया गया है । तीन कोटि का वृत्त आलखन करके और अण्डक क्रमश बनाने चाहिये । नाना-विध अण्डको का निर्माण चित्र-कर्म मे आवश्यक है । अण्डक का अर्थ है बादामा । बिना पहिले सोच-विचार के चित्र-व्यास असम्भव है । अथे गोले के आयाम से अलसाण्डक बताया गया है और नौ गोले की मोटाई से हास्य ण्डक होता है । पुरुषाण्डक का मान छे गोले मे आयत और पाच गोले मे विस्तृत होता है । वनिताण्डक नारियल के फल-मदश आलेख्य होता है । उसका विस्तार चार गोले से और सम्बाई पाच गोले से होती है । शिशुषो का अण्डक चित्र-कर्म मे निश्चय ही करना चाहिये । हास्याण्डक भी उसी प्रकार अनिवार्य है । इसी प्रकार से आलस्याण्डक तथा रोदनाण्डक करना चाहिये । हास्याण्डक भी शास्त्रानुकूल विनिर्मेय है । दवाण्डक प्रमाण आलस्य के समान बताया गया है । वह छे गोले के विस्तार से और आठ गोले की सम्बाई से सम्पन्न होता है । वृत्तायत समालेख्य दिव्याण्डक बताया गया है ॥४—१३॥

अथ दिव्य और मानुष अण्डको का लक्षण कहता हू । आधे गोले से अधिक मानुषाण्डक के प्रमाण से उसे बनाना चाहिये । पांच गोले से विस्तीर्ण और छे गोले से आयत मुखाण्डक को मानुष-रूप बनाकर उस पूर्ण बनाया जाता है । शिशुकाण्डक-प्रमाण से प्रमथो का मुखाण्डक होता है । राक्षसाण्डक-प्रमाण से वातुधनाण्डक होता है । देवो के मुख-सदृश दानवाण्डक बनाना चाहिय और

उसी के समान गन्धर्वों, नांगों और यक्षों के अण्डक होते हैं । विद्याधरो का दिव्य-मानुष-अण्डक समझना चाहिये ॥१४—१८३॥

कोई लोग शास्त्र जानते हैं, कोई लोग कर्म करते हैं । जो इन दोनों चीजों (शास्त्रायं ज्ञान और कर्म कोशल) को वरामलकवन् नहीं जानते हैं पुनः वे शास्त्रज्ञ होकर भी कर्म को नहीं जानते और कर्मज्ञ होते हुए शास्त्र को नहीं जानते और जो दोनों को जानते हैं वे ही श्रेष्ठ चित्रकार कहलाते हैं ॥१८३-२०३॥

टि० इस अध्याय में कुछ विगलन प्रतीत होना है जैसा हमने मूल में अपने परिभाषित संस्करण में निर्दिष्ट किया है ।

## चित्रकर्म-मानोत्पत्ति-लक्षण

! चित्र-कर्म-मानोत्पत्तिलक्षण — अब परमाणु आदि जो मान-गणना होती है उसका वर्णन करता हूँ ॥१॥

परमाणु, रज, रोम, लिखा, यूना, यव, अगुल क्रमशः षष्ठगुणी वृद्धि से इस प्रकार से मान को अगुल होता है—अर्थात् ८ परमाणु का रज, ८ रज का रोम, ८ रोम की लिखा, ८ लिखा की यूना, ८ यूना का यव और ८ यव का अगुल होता है। दो अगुल वाला गोसक समझना चाहिये। अथवा उसको बना कहा जाता है। दो कस्ताओ अथवा दो गोसको किसी इन दोनों में से, उस प्रमाण एवं भग तथा उमी प्रमाण से एवं आयाम से विस्तार का न तो कम न ज्यादा चित्र निर्माण करना चाहिये ॥२ ४३॥

देवता आदि के शरीर, विस्तार से आठ भाग बाँध होते हैं और उनका यह शरीर चित्र-शास्त्रियों को तीस भाग की लंबाई से बनाना चाहिये। अमुरो का शरीर तो साढ़े सात भागों से विस्तृत और उतीस भाग से लंबा बनाना इष्ट बताया गया है। राक्षसों का शरीर सात भाग से विस्तृत और सत्तईस भाग से व्याप्त होता है और दिव्य मानुष के शरीर तो शास्त्रानुसूल विहित हैं। छह भाग से विस्तृत मनुष्यों का करना चाहिये और उनकी लंबाई साढ़े चौबीस भागों से बनना चाहिये। यह मान हमने उत्तम पुरुष का बताया है। मध्यम पुरुष का तो विस्तार साढ़े पाँच भाग का होता है और उसका आयाम तो २३ भागों का बताया गया है और कनिष्ठ शरीरों का विस्तार पाँच भाग के प्रमाण का होता है और बृहत् शरीर का आयाम बाईस भागों का प्रशस्त माना गया है। कुन्त्रो (कुबड़ो) के शरीर का विस्तार पाँच भाग से और दीर्घ चौह भागों से बनाना चाहिये। यय विकल्प-प्रमाण जैसे वामनादि अथवा वीनो के भी शास्त्रानुसार विनिर्मेय हैं। चित्रों का भी यही प्रमाण बताया गया है। प्रयथो के शरीर का विस्तार तो चार भागों से बताया गया है और लंबाई छह भागों में यह अलग २ हमने देह के प्रमाण को भाग सूत्र बताया। देहों का अमुरो का

## रसदृष्टि-लक्षण

**चित्र-रसः**—अब रसों का और दृष्टियों का यहाँ पर इस वास्तु-शास्त्र में लक्षण कहूँगा । क्योंकि चित्र में रस के आधीन ही भाव-व्यक्ति होती है । शृंगार, हास्य, क्लृप्ति, रोद्र, प्रेय, भयानक, वीर, प्रत्याय (?) और वीभत्स तथा अद्भुत और दान्त—ये आरह रस, चित्र-विशालों के द्वारा बताये गये हैं । अब इन सब रसों का क्रमशः लक्षण कहा जाता है ॥१—३॥

**शृंगार**—भूकम्प-सहित तथा प्रेम-गुणान्वित शृंगार रस बताया गया है और इस रस में अपने प्रिय के प्रति मनोहर (ललित) चेष्टायें होती हैं ॥४॥

**हास्य**—अपाग आदि को ललित एवं विकसित करने वाला तथा अघरो को स्फुरित करने वाला, मृदु लील-सहित जो रस होता है, वह हास्य-रस के नाम से पुकारा जाता है ॥५॥

**क्लृप्ति**—आमुष्मो से अपोल-प्रदेश को विलस कराने वाला, शोक से आसो को सन्तुष्ट करने वाला और चित्त को सताप देने वाला क्लृप्ति-रस कहलाता है ॥६॥

**रोद्र**—जिस रस से सलाह-प्रदेश निर्माजित हो जाता है, आगे लाल हो जाती हैं, अघरोष्ठ दांतों से काटे जाते हैं, उसे रोद्र-रस कहते हैं ॥७॥

**प्रेमा-रसः**—धर्म-साम, पुत्र-उत्पत्ति, प्रिय-जनो का समागम और दर्शन, आत-हर्ष से उत्पन्न होने वाला तथा शरीर को पुलकित करने वाला प्रेमा-रस कहा जाता है ॥८॥

**भयानक**—रात्रु-दर्शन से उत्पन्न आस एवं सम्भ्रम में लोचनों को उद्भ्रान्त करने वाला और हृदय को मधुन्ध करने वाला भयानक रस कहलाता है ॥९॥

**वीर**—धर्म, पराक्रम एवं बल को उत्पन्न करने वाला—वह रस वीर के नाम से प्रसिद्ध होता है ॥१०॥

**टि०**—यहाँ पर वीर के बाद अन्य दो रसों का लोप हो गया है । अन्य भूट एवं गलित है ।

अद्भुत-रसः, दो तारकाग्रो को स्तिमित करने वाला, यह रम-असम्भाव्य वस्तु को देखकर अद्भुत-रस की संज्ञा से प्रसिद्ध होता है ॥११॥

शान्त-रसः—विना विचारो के शान्त एवं प्रसन्न भूनेत्र तथा वदन आदि से एवं विषेय-वैराग्य से यह रम शान्त-रस के नाम से प्रवित होता है ॥२॥

इस प्रकार त्रि-भूयों में सलक्षण इन रसों का प्रतिपादन किया गया है। मानव-सम्बन्ध-पुरस्सर सब सत्वो अर्थात् प्राणियों में इनको नियोजित करना चाहिये ॥१३॥

चित्र-रस-दृष्टियाः अत्र रस-दृष्टियों का वर्णन करता है। ये अठारह बताई गई हैं :-

- (१) ललिता (२) हृष्टा, (३) विकसिता, (४) विकृता, (५) भ्रुकुटि, (६) विभ्रमा, (७) संकुचिता, (८) छविता (९) ऊर्ध्वगता, (१०) योगिनी, (११) दीना, (१२) दुष्टा, (१३) विह्वला, (१४) संकिता, (१५) विविक्षा, (?), (१६) जिम्हा, (१७) मध्यस्था एव, (१८) स्थिरा—ये अठारह दृष्टिया होती हैं। अब इनका क्रमशः लक्षण कहा जाता है ॥१४-१६॥

ललिताः—विकसित-मुलाम्ब, कटाक्ष-विशेष वाली भुंगार रस से उत्पन्न ललिता दृष्टि समझनी चाहिये ॥१७॥

हृष्टाः—प्रिय-दर्शन पर प्रसन्न और पूर्ववत् रोमाञ्च करने वाली तथा अपागो को विकसित करने वाली हृष्टा नाम की दृष्टि प्रसिद्ध होती है ॥१८॥

विकसिताः—नयन-प्रान्तो को विकसित करने वाली तथा अर्पागो, नयनों एवं गण्ड-स्वलो को विकसित करने वाली क्रीडा-चापल्य-मुक्त हास्य-रस में विकसिता दृष्टि होती है ॥१९॥

विकृताः—भय को व्यक्त करने वाली और जिस में तारकायें भ्रान्त होने लगती हैं, उस भयानक रस में इस दृष्टि को विकृता नाम से पुकारा जाता है ॥२०॥

भ्रुकुटिः—दीप्त ऊर्ध्वतारका के रक्त वर्ण होने से भृन्द-दर्शन तथा ऊर्ध्व-निविष्टा दृष्टि को भ्रुकुटि बताया गया है ॥२१॥

विभ्रमाः—मत्त्व-स्था, दुःख-लक्ष्मा, सुन्दर-तारका, सौम्या एव उद्वेलिता इस दृष्टि को विभ्रमा नाम से बताई गई है ॥२२॥

संकुचिताः—मन्मथ-मद से युक्त, स्पर्श-रस से उन्मीलित, दोनों अग्नि-पुटो वाली, सुरतानन्द से युक्त संकुचिता नाम की यह दृष्टि विख्यात होती है ॥२३॥

योगिनो :—निर्विकारा, कही पर नासिका के अग्र भाग को देखने वाली अर्थात् ध्यानावस्थित चित्त के तत्त्व में रममाण योगिनी नाम की दृष्टि होती है ॥२४॥

दीना -अर्ध-अस्तोत्तर-पुटा अर्थात् थोड़ा-बढ़कर अवनत से प्रतीत हो रहे हो, पुनः कुछ सऊँ-तारका, मन्द-सञ्चारिणी, शोक में आसुओं से युक्ता, दीना नाम की दृष्टि बही गई है ॥२५॥

दृष्टा.—जिसकी तारकाएँ स्थिर हो और जिसकी दृष्टि स्थिर एवं विरामित प्रतीत हो रही हो, वह उत्साह से उत्पन्न होने वाली दृष्टा नाम की दृष्टि बताई गई है ॥२६॥

विह्वला :—भ्रू-पुट तथा पक्ष्मों को झुलान करने वाली, क्षिप्रता, मन्द-चारिणी तथा तारकाओं से आभासित यह विह्वला नाम की दृष्टि बताई गई है ॥२७॥

शक्तिता :—कुछ चञ्चल, कुछ स्थिर, कुछ उठी हुई, कुछ टेढ़ी-मेढ़ी और चकित-तारा दृष्टि को शक्तिता नाम से पुकारते हैं २८॥

जिह्वा :—जिसके मुखान्तर सर्वा पुट लम्बित हो रहे हो, दृष्टि उड़ी तथा कषा दिखाई पड़ रही हो, ऐसी निगूँचा और मूढ़-तारों को जिह्वा दृष्टि कहते हैं ॥२९-३०॥

मध्यस्था :—सरल-तारा, सरल-पुटा, प्रसन्ना, राग-रहिता, विषय-पराङ्मुखा ऐसी मध्यस्था दृष्टि कहलाती है ॥३१॥

स्थिरा :—सम-तारा, सम-पुटा तथा सम-भ्रू वाली, अविकारिणी और रागों से विहीन स्थिरा दृष्टि कहलाती है ॥३२॥

हस्त से अर्थ को सूचित करता हुआ तथा दृष्टि से प्रतिपादित करता हुआ सब अभिनय-दर्शन में सजीव सा जो प्रतीत हो अर्थात् जो नाट्य में अनिवार्य एवं आवश्यक अंग है, वही चित्र में भी अनिवार्य है ॥३३-३४॥

इस प्रकार से यहाँ पर रसों का तथा दृष्टियों का संक्षेप से लक्षण कहा गया। लिखने वाला अनुपम चित्र का यथावत् ज्ञान-सम्पादन करके कभी सशय को नहीं प्राप्त होता है ॥३५॥



## षष्ठ पटल

चित्र एवं प्रतिमा—दोनों के सामान्य अङ्ग

१. प्रतिमा एवं चित्र के द्रव्य
२. प्रतिमा एवं चित्र में चित्र्य वेशादिकों के रूप एवं ग्रहण भावि सादृश्य
३. प्रतिमा एवं चित्र के दोष-गुण
४. प्रतिमा एवं चित्र की भावों आकृतियाँ (Models) एवं उनके मान
५. प्रतिमा एवं चित्र में मुद्रायें :—
  - (अ) शरीर-मुद्रायें
  - (ब) पाद-मुद्रायें
  - (स) हस्त मुद्रायें

## प्रतिमा-लक्षण

अथ प्रतिमाग्रो—चित्रो वा लक्षण बहता हूं । उनके सात निर्माण-द्रव्य प्रकीर्तित किये गये हैं—ये हैं मृगण (सोना), रजत (चाँदी), ताम्र (तावा), ध्रुवा (पाषाण पावर), दाह (तकड़ी), लेप्य अर्थात् मृत्तिका तथा अन्य लेप्य जैसे माहिक और ताण्डुल आदि तथा अनेक्य अर्थात् चिन् । ये सब शक्यानुसार विहित एवं निर्माण्य बताया गये हैं । । पूजा-चित्रों में इस प्रकार के ये प्रतिमा-द्रव्य सात प्रकार के बताये गये हैं । सुवर्ण पुष्टि-प्रदायक माना गया है, रजत कीर्ति-वर्धन-कारी, ताम्र प्रजा-वृद्धि-कारक, विलेय अर्थात् पाषाण, मृज या वह क्षय-द्रव्य आयुष्य-काशक और लेप्य तथा अनेक्य ये दोनों धन प्राप्ति-कारक कहे गये हैं ॥ १-३ ॥

विधान ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय स्वपति को विधि-पूर्वक प्रतिमा-निर्माण तथा यह चित्र कर्म-प्रारम्भ करना चाहिये । वह हविष्य-नियताहारी तथा जप-होम-परायण और धरणी अर्थात् पृथ्वी पर सोने वाला होना चाहिये ॥४-५॥

टि० पूर्वाध्याय के अन्तिम वृष्ट पर जो प्रक्षेप बताया गया है वह यहाँ पर लाना प्रासंगिक माना गया है । अतः वह यहाँ पर सयोग्य है :—

“मुख का भाग से विधान है । शीवा मुख से तीन भाग वाली बतायी गयी है । आयामानुरूप वेदान्त पूर्ण मुख द्वादशांगुल विस्तारानुरूप परिकल्प्य है । दोनों भीहो का प्रमाण त्रिभाग से विहित है । नासिका भी त्रिभाग-परिकल्प्य है । उसी प्रकार सलाह का प्रमाण भी विहित है । ऊर्चाई में तीन के बराबर मुख कहा गया है । दोनों आसों दो अंगुल के प्रमाण में होती है । उसका विस्तार आधा कहा गया है । अक्षि-तारका आस के तीन भाग से सुप्रतिष्ठित करणीय है । पुनः इन दोनों तारकाओं के मध्य में ज्योति (आस की ज्योति) तीन अंश से परिकल्प्य है । इसी प्रकार इन अक्षिख मुखों का प्रमाणानुरूप परिकल्पन विहित है ॥५३-६०॥

पाच अक्ष के प्रमाण से ... (१) दोनों का मध्य बनाना चाहिये । नेत्रों और कानों का मध्य पाच अंगुल का होता है । ऊर्चाई से दुगुने

आयत वाले दोनो कान आय के समान समझने चाहिये । कर्ण-पाली तथा उसके अन्य उपाग भी शास्त्रानुकूल निर्मेय हैं । वह खीचे हुए धनुष की आकृति-वाली अरोम-प्रभवा समझनी चाहिये । इसी प्रमाण से इन का वर्ण-मूष्ठाथय भी होना चाहिये ॥१०३—१४॥

ऊर्ध्व-वध से कर्ण-मूल-समाश्रित अधोवध वह होना है । आधे २ से गोलक समझना चाहिये और पीछे में इसी प्रकार विधान है । निष्पाव के सदृश आकार वाली कर्ण-पिप्पली बनानी चाहिये । उसका आयाम एक अंगुल का और विस्तार चार यवों का होना चाहिये । पिप्पली के नीचे लाकर मध्य र्म लकार 'न' इसकी सजा लकार दी गयी है, इसका आयाम आधे अंगुल का और विस्तार पूरे अंगुल का होना चाहिये । बीच में जो लकार है उसका विस्तार चार यवों के निम्न से होता है । पिप्पली के मूल में चार यव के प्रमाण से कर्ण-छिद्र होता है । जो स्तुतिका की सजा पीयूषी गोलाकार बतायी गयी है, वह आधे अंगुल से आयत और दो यवों के विस्तार से बनायी जाती है । लकार और आवर्त (परदा) के मध्य में उसको पीयूषी के नाम से पुकारते हैं । वह दो अंगुल के आयाम वाली और डेढ़ अंगुल के विस्तार वाली होती है । कान की जो बाह्य रेखा होती है उसको भी आवर्त कहते हैं । वह छै अंगुल का प्रमाण वाला वक्र और वृत्तायत होता है । मूल का अर्ध आधे अंगुल का बनाना चाहिये और क्रमशः मध्य में दो यव का । फिर आधे एक यव के प्रमाण के विस्तार से बनाया जाता है । लकार और आवर्त के मध्य को उद्दान के नाम से पुकारा जाता है । ऊपर से गोलक में दो यव से युक्त कर्ण का विस्तार होता है । मध्य में दुगुना नाल और मूल में छै यवों में इन दोनों समुदायों के प्रमाण से आयामादि विहित है । इसी प्रकार अन्य भाग विहित हैं । पश्चिम नाल एक अंगुल के प्रमाण से बनाया जाता है तथा दो मुकोमन् नाल दो कलाओं के आयत से बनाना चाहिए । कान के भाग का इस प्रकार सम्यक् वर्णन कर दिया गया । उसका प्रमाण तो कम और न अधिक होना चाहिये । तब उसका वीक्षण प्रशस्त माना जाता है, अन्यथा दूषित ॥११-२१॥

चिवुक (ठोड़ी) धनुष के आयाम से बनाया जाता है । उसके आधे से कन्धर बनाया गया है, फिर उसके आधे से उत्तरोष्ठ होना है और भाजी आधे अंगुल की उचाई से बनायी जाती है । ओठों के चतुर्थ भाग से दोनो नासा-पुट समझने चाहिये । उनके दोनो प्राण करवीर के समान सुन्दर बनाने

## देवादि-रूप-प्रहरण-संयोग-लक्षण

प्रथम देवताओं के आकार और अस्त्र-सदन का वर्णन करता है और उसी प्रकार हैत्यों के, यक्षों के, गन्धर्वों, नागों और राक्षसों के तथा विद्यावरों और पिशाचों के भी विवरण प्रस्तुत करता है ॥१३॥

ब्रह्मा :- अग्नि की ज्वालाओं के सदृश, महा तेजस्वी बनाने चाहियें और स्थूलांग, श्वेत-पुष्प धारण किये हुए, श्वेत वस्त्र पहने हुए और कृष्ण मृग-चर्म की उत्तरीय (ऊर्ध्व वस्त्र) धोती के रूप में धारण किए हुए सफेद कपड़ों की कुंठ में चार मुख वाले बनाने चाहियें । इनके दोनों वाम हस्तों में दण्ड और कमण्डलु का ध्यास करना चाहिए, उसी प्रकार उन्हे मौञ्जी मेखला और माला धारण किए हुए बनाना चाहिए, और दक्षिण हाथ में समार की वृद्धि करते हुए बनाना चाहिए । इस प्रकार बनाने पर सप्ताह में दोम होता है और ब्राह्मण लोग सब कामनाओं से वकते हैं, इसमें कोई छक नहीं । जब विदग्ग, दीना कृपा, रौद्रा, कृपादरी यदि ब्रह्मा जी की प्रतिमा बनाई जाय तो वह वस्तुपाग-कारक नहीं होती है । रौद्र-मूर्ति, बनवाने वाले को मारती है और दीन-रूपा कारीगर को मारती है । कृपा मूर्ति बनवाने वाले को सदा दिनाश प्रदान करती है और कृपादरी तो दुर्भिक्ष लाती है और कृपा अनपत्यता को प्रदान करती है । इस लिये इन दोषों को छोड़ कर यह प्रतिमा ब्राह्म प्रतिमा-निर्माण-कृत्वा तिलपिण्डों द्वारा सुन्दर बनानी चाहिये ॥१३-१४॥

शिव :- प्रथम यौवन में स्थित, चन्द्रावर्त्त-वृता-धारी श्रीमान्, संयमी, नीलकण्ठ, बिचित्र-मुकुट, निशाकर-चन्द्र-सदृश तेजस्वी भागान् ननु की प्रतिमा बनानी चाहिये । दो हाथों से, चार हाथों से अथवा आठ हाथों में युक्त वह मूर्ति बनायी जानी चाहिए । पट्टित वस्त्र से व्याप्त हस्त, सपौ और मृग-चर्म से युक्त, सर्व-लक्षण सपूर्ण तथा तीन नेत्रों से भूषित इस प्रकार के गुणों से युक्त जहां लोकेश्वर भगवान् शिव बनाये जाते हैं, वहां पर राजा और देश अर्थात् राष्ट्र की परम उन्नति होती है ॥१०-१३॥

जय जयल में अथवा श्मशान में महाेश्वर की प्रतिमा बनायी जानी है तो

वहा भी यह रूप कुछ भिन्न बनाना चाहिये—विशेकर आकृति एवं हस्त-प्रयोग । ऐसा रूप बनाने पर बनवाने वाले का कल्याण होता है । अठारह बाहु वाले अथवा बीस बाहु वाले अथवा अत बाहु वाले अथवा कभी सहस्र बाहु वाले, रौद्र रूप धारण किये हुए, गर्भो से घिरे हुये, सिंह-चर्म से उत्तरीय-वस्त्र के रूप में धारण किये, तीक्ष्ण दंष्ट्रा के समान त्राणे के दाँत वाले, शिरोमालाओं से विभूषित चन्द्र से अति मस्तरु वाले, श्रीमान्, पीनवक्षस्थल तथा भयंकर दर्शन वाले इस प्रकार स्मरान-स्थित भद्र-मूर्ति महेश्वर का निर्माण करना चाहिये ।

॥१३१-१७३॥

दो भुजा वाले राजधानी में और पत्तन (शहर) में चतुर्भुज तथा स्मरान और जंगल के बीच में बीस भुजाओं वाले महेश्वर की प्रतिमा स्थापित करनी चाहिये ॥१७३-१८३॥

यद्यपि भगवान् भद्र (शिव) एक ही हैं, स्थान-वेद से वे भिन्न भिन्न रूप धारते तथा रौद्र और सौम्य स्वभाव वाले विद्वानों के द्वारा निर्मित होते हैं । जिस प्रकार से भगवान् सूर्य उदय-काल में सौम्य-दर्शन होते हुये भी मध्याह्न के समय प्रचण्ड हो जाते हैं, इसी प्रकार अरण्य में स्थित वे भगवान् शकर निरय ही रौद्र हो जाते हैं । वही फिर सौम्य स्थान में व्यवस्थित होने पर सौम्य हो जाते हैं । इन सब स्थानों का जानकर किन्धरूप आदि प्रमथों व सहित लोक-शंकर का निर्माण करना चाहिये । इस प्रकार से त्रिशूल-धनु भगवान् शकर का यह संस्थान सम्यक् प्रकार से वर्णन किया गया है ॥१८३-२२॥

कार्तिकेयः—अथ इमं समय कार्तिकेय भगवान् स्वामि-कार्तिकेय के संस्थान का वर्णन किया गया है । तरुण-सूर्य-गदग, रक्त-वस्त्र धारण किये हुये, अग्नि के समान तेजस्वी, कुछ दाताकृति धारण किये हुए, मुरार, मङ्गल-मूर्ति, प्रिय-दर्शन, प्रमत्त-वदन, श्रीमान्, शीघ्र और तेज से युक्त विषदाहर चित्र-विचित्र मुकुटों और मुक्ता-नणियों से विभूषित छे मृग बाते अथवा एन मृग वाले रोश्मिधो-शक्ति भगवान् अस्त्र को धारण किये हुये कार्तिकेय की प्रतिमा का संस्थान बताया गया है । नगर में बारह भुजाओं से पूर्ण बनानी चाहिये, लेटक में दो भुजाओं से विहित है । कल्याण आठने व तीसरे ग्राम में दो भुजाओं से प्रतिमा का संस्थान करना चाहिये । शक्ति, पर, गदग, मृगच्छी और मुदगर—ये पाँचो आनुष इतर दक्षिण दिशा में दिगाने चाहिये । एक हाथ प्रसारित भी होता चाहिये । इन प्रकार में दूगता छठा हाथ बताया गया है । अनुप, पाताका,

पंटा छेद, और कुक्कुट (जो Improvised object-weapon बोध्य है) - ये पांच आयुध बायें हाथ में बताने गये हैं। तो दया हाथ वहां पर सर्वधनकारी हस्त (हस्त-मुद्रा) वाला होता है। इस प्रकार से आयुधों से सम्पन्न, सशस्त्र-भूमि में स्थित बनाने जाते हैं। अन्य अवसर पर जो उन्हें क्रीडा और लीला से युक्त बनाना चाहिये। दया (बनरा), कुक्कुट (मुर्गा) से युक्त तथा मयूर से युक्त मनोगन्ध भगवान् स्कन्द का लक्षणों पर विजय करने की इच्छा करने वालों को मदा नगरी में बनाना चाहिये। छेदक में तो पशुमुख, ज्वलन प्रभ तथा तीक्ष्ण आयुधों से युक्त और पुष्प-मालाओं से सुशोभित बनाना चाहिए। ग्राम में भी पान्ति और धृति में युक्त उन्हें दो भुजा वाला बनाना चाहिये। दक्षिण हाथ में तो शक्ति होती है और पद्म-हस्त में कुक्कुट। इस प्रकार से विचित्र-पक्ष बड़े महान तथा सुन्दर विनिर्माण है। पुर में, छेदक में और ग्राम में इस प्रकार शास्त्रज्ञ आचार्य, भगवान् मंगलकारी कार्तिकेय की मूर्ति का निर्माण करते हैं। अविश्व कायों में छेद, ग्राम तथा उत्तम पुर में कार्तिकेय का यह संस्थान प्रयत्न-पूर्वक बनाना चाहिये ॥२३-३५॥

बलशालः - बलशाल तो सुन्दर भुजाओं वाले तालकेतु धारण किये हुए महाशक्ति, वन-माला-कुल-वक्षस्त्र वाले, चन्द्र-सदृश-कान्ति वाले, हल और मुसल धारण करने वाले, महान यमही चतुर्भुज, सौम्य-मुग्ध, नीलाम्बर-वस्त्र-धारी, मुकुटों एवं अलंकारों से तथा चक्षुष्य में विभूषित देवती-सहित बलदाक की मूर्ति का निर्माण करना चाहिये ॥३६-३८॥

विष्णु - विष्णु बद्ध-मणि के सहज पीताम्बर धारण किये हुए, लक्ष्मी के साथ, वाराह रूप में, वामन-रूप में अथवा भयानक तृसिंह-रूप में अथवा दाशरथि राम-रूप में, दीर्घायन जामदग्नि के रूप में, दो भुजा वाले अथवा आठ भुजा वाले अथवा चार बाहु वाले अरि-दम, शस्त्र, चक्र, गदा को हाथ में लिये हुये प्रोजस्वी कान्तिमान् नाना-रूप-धारी इस रूप में प्रतिमा में विभाव्य है। इस प्रकार से सुरा और मयूरी से अभिनन्दित भगवान् विष्णु की प्रतिमा का सन्निवेश करना चाहिए ॥३९-४२॥

इन्द्रः - देवाधीश इन्द्र यज्ञ धारण किये हुये, सुन्दर हाथों वाले, बलवान् किरीट-धारी गदा-सहित धीमान् श्वताम्बर-धारी, श्रोणि-सूत्र से मण्डित, दिव्या-भरणों से विभूषित, पुरोहित-सहित, राज-सदमी से युक्त, इन्द्र को बनवाना चाहिये ॥४३-४४॥

**यमः**—वैवस्वत यम-राज (धर्मराज) समझना चाहिये । तेज में सूर्य के सदृश, सुवर्ण-विभूषित सम्पूर्ण चन्द्र के समान मुख वाले पीताम्बर-वस्त्र-धारी और शुभ-दर्शन, विचित्र मुकुट वाले तथा वरागद-विभूषित बनाना चाहिये ॥४४३-४६३॥

**ऋषि-गणः**—तेज से सूर्य के सदृश बलवान एवं शुभ मरद्वाज और धन्वन्तरि बनाने चाहिये । दक्ष आदि भार्य प्रजापति भी इसी प्रकार परिकल्प्य हैं ॥४६३-४७॥

**अग्निः**—ज्वालाधो से युक्त, अग्नि की प्रतिमा बनानी चाहिये । उसकी वैसे तो कान्ति तो सौम्य ही होनी चाहिये ॥४८३॥

**राक्षसादिः**—ये रुद्र-रूप-धारी, रक्त-वस्त्र धारण करने वाले, काले, नाता प्राभूषणो एवं आयुधो से विभूषित सब राक्षस बनाने चाहिये ॥४८३-४९॥

**लक्ष्मी**—पूर्ण चन्द्र के समान मुख वाली, शुभ्रा, त्रिबोली, चारु-हासिनी श्वेत-वस्त्र-धारिणी सुन्दरी, दिव्य अलंकारो से विभूषिता, कटि-देश पर निवेशित वाम-हस्त से सुशोभिता एव पद्म सिये हुये दक्षिण हाथ से सुशोभिता एवं शुचि-स्मिता, प्रसन्न-वदना लक्ष्मी प्रथम पौवन मे स्थिता बनानी चाहिये ॥५०-५२३॥

**कौशिकीः**—शूल, परिघ, पट्टिश पादुका, ध्वजा आदि लक्ष्मो से लाञ्छित कौशिकी का निर्माण करना चाहिये । पुनः उसके हाथो मे सेटक, लघु खड्ग, तथा सौवर्णी घण्टा होनी चाहिये । वह घोर-रूपिणी परिकल्प्य है । उसके वस्त्र पीत एव कौशेय होने चाहिये तथा उसका वाहन भगवती दुर्गा के समान सिंह होना चाहिये ॥५२३-५४३॥

**अष्ट दिग्पाल**—आठो दिग्पाल—शुक्लाम्बर-धारी, मुकुटो से सुशोभित एव नाना रत्नो से मण्डित इन आठो दिग्पालो का निर्माण करना चाहिये ॥५४३-५५३॥

**अश्विनोः**—ससार के कल्याण-कारी दोनो अश्विनियो को एक ही समान बनाना चाहिये । वे शुक्ल माला और शुभ वस्त्र धारण किये हुये स्वर्ण कान्ति वाले निर्मय हैं ॥५५३-५६३॥

**पिशाच एवं भूत-गण** :—इनके दात भयंकर तथा विचित्र होते हैं । इनके बाल मेचक-प्रभ प्रदर्श्य हैं । इनका वर्ण वैदूर्य-मकरास होना चाहिये इनकी मूर्छे हरी परिकल्प्य हैं । रंग रोहित एव अकृति भयावह, लोचन लाल, रूप नाना-विध एवं भयंकर भी प्रदर्श्य हैं । इनके शिरो पर सर्पो का प्रदर्शन भी अनिवार्य है । इनके वस्त्र भी अनेक-वर्ण हो सकते हैं । इनके रूप भयंकर, कद छोटे भी ये

१ परुष, असत्य-वादी, भयकर आदि रूपों में निर्मेय हैं । साथ ही साथ भूतों की प्रतिमाओं में वैशिष्ट्य यह है कि वे भी बड़े भयकर, उग्र-रूप तथा भीम-विक्रम विवृतानन, सघ-रूप में, यज्ञोपवीत धारण किये हुए, कबजों को लिये हुए तथा शार्ङ्गिकाओं में शोभ्य ऐसे भूतों तथा उनके यशों को बनाना चाहिये ॥५६१-६०॥

अब जो सुर और असुर नहीं बताये गये हैं, उनको भी कार्यानुसृत्य बनाना चाहिये और जिस असुर और सुर का लिङ्ग हो, राक्षसों और यक्षों, गन्धर्वों और नागों का जो लिंग हो, विशेषतः लोग उनका निर्माण करें । प्रायः पराक्रमी, क्रूरकर्मा दानव लोग होते हैं, उन्हें किरीट-धारी तथा विविध आयुधों से सुसज्जित बाहु वाले बनाना चाहिये । उनसे भी कुछ छोटे और गुणों से भी छोटे दैत्य लोग बनाने चाहिये । दैत्यों से छोटे मदीकट यक्ष लोगों का निर्माण करना चाहिये । उनसे हीन गन्धर्वों और गन्धर्वों से हीन वन्नगों और उनसे हीन नागों को बनाना चाहिए । राक्षस तथा विद्याधर लोग यशों से हीन देह धारी बताये गये हैं । चित्र-विचित्र माना एवं वस्त्र धारण किये हुये तथा निम्न-विचित्र तलवारों और चमडों को लिये तथा नाना वेष धारण करने वाले भयानक घोर रूप भूत सघ होते हैं । वे पिशाचों में भी अधिक मोटे और तेज से कठोर होते हैं ॥ ६१-६७ ॥

विशेष संकेत यह है कि न तो अधिक न कम प्रमाण, मुख्य वेष इन सुरासुर गणों की प्रतिमाओं में यह परिक्ल्पन आवश्यक है ॥६८३॥

टि० अन्तिम श्लोक प्रथमात्र एव गलित है ।



## पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षण

हंस-प्रभृति पाच पुरुषो और दण्डिनी-प्रभृति पाचो स्त्रियो के देह-वन्धाधिक का वर्णन करता हूँ। हंस, दश, रूचक, भद्र, और मालव्य ये पाच पुरुष बताये गये हैं ॥१॥

हंसः—उनमे हंस-नामक पुरुष का मान बताया जाता है। हंस का आयाम ८८ अंगुलो का बताया गया है। अन्य चार पुरुषो का आयाम क्रमशः दो दो अंगुल की वृद्धि से समझना चाहिए। उसका ललाट ढाई अंगुल के प्रमाण से तथा नासिका और ग्रीवा तथा वक्ष-स्थल ग्यारह अंगुल के आयाम से होता है। इस प्रकार उदर, नाभि, और त्रिष का अन्तर दश अंगुलो के प्रमाण का होता है। ऊरु बीस अंगुल और जंघा तीन अंगुल और जानु पाच अंगुल और दो अंगुल का गिर। केनान्त प्रमाण अपने मानानुसार सबसे अधिक होता है। उसी के बीस अंगुल के प्रमाण से वक्षस्थल का विस्तार होता है। हंस के हाथों का विस्तार बारह अंगुल का होता है। दोनों प्रकोष्ठ दश अंगुल के प्रमाण से विहित हैं। अलग २ श्रोणि नितम्ब आदि प्रदेश मानानुसार विहित होते हैं ॥२-८॥

दशः—हंस के स्वभाव के विपरीत तथा अपने के अनुसार ही यह दश-रूप विहित है। तथैव उसके अंग निर्मेय है। शास्त्रानुकूल तीन अंगुल के प्रमाण से (?) नासिका और मुख होता है। ग्रीवा भी उसी प्रमाण वाली होती है, वक्ष-स्थल तो ग्यारह अंगुल के प्रमाण से होता है तथा उदर और नाभि और भेद का अन्तर दश अंगुल होता है। दोनों ऊरु बीस मात्रा, दश-नामक पुरुष की बतायी गयी है और दोनों जानु बीस अंगुल की और दोनों जंघा बीस मात्रा की। दोनों गुरुफ तीन अंगुल के आयाम वाले और शिर भी उसी प्रमाण का होता है। इस प्रकार से इस दश-नामक पुरुष का आयाम ६० (नव्ये) अंगुल के प्रमाण से होता है। इस का वक्षस्थल ढाईस अंगुल के प्रमाण का बताया गया है। बाहु, प्रबाहु और पाणि, हंस के समान दश के भी होते हैं। समयानुसार एव स्वभावानुरूप वह कृशोदर अर्थात् दुबला बनाना चाहिये ऐसा विचक्षण विद्वानो ने बताया है ॥१४॥

रुचक — रुचक-नामक पुरुष का आयाम साढ़े दश अंगुल के प्रमाण से बताया गया है । इसकी ग्रीवा साढ़े तीन अंगुल के प्रमाण से बतायी गयी है । उसका वक्षस्थल ग्यारह अंगुल वा और उसी प्रकार से उदर । नाभि और मेढू का अन्तर दश अंगुल का बताया गया है । ऊरु बीस अंगुल और जानु तीन अंगुल और उनकी दोनों जघाघ्ने का आयाम बीस अंगुल के प्रमाण से बताया गया है । उसके दोनों गुल्फ और शिर तीन अंगुल के प्रमाण के होते हैं। इस प्रकार से रुचक-नामक पुरुष ६२ अंगुल का बताया गया है । इसके वक्षस्थल का विस्तार बीस अंगुल का और इसकी दोनों भुजाये और प्रकोष्ठ दश अंगुल के प्रमाण से बताये गये हैं। इसके दोनों हाथ ग्यारह अंगुल के विस्तार वाले बताये गये हैं। इस प्रकार से पीन-स्कन्ध, पीन-बाहु, लीला-सहित गति वाला और चेष्टा घाला, दलवान और वृत्त-बाहु, सुन्दर आकृति वाला रुचक पुरुष होता है ॥१५—२१॥

भद्र — भद्र के मस्तक का आयाम तीन अंगुल में होता है।(?) ग्यारह अंगुल से और ग्रीवा साढ़े तीन अंगुल से । इस का वक्षस्थल और जठर पाद सहित ग्यारह अंगुल का होता है । इसकी नाभि और इसके मेढू का अन्तर साढ़े दश अंगुल से समभन्ता चाहिए । दोनों ऊरुओं का आयाम पाद-सहित बीस अंगुल का समभन्ता चाहिए । दोनों जघाघ्ना का भी आयाम उसी प्रकार से, और जानु और गुल्फ त्रिमात्रिक होने हैं । इस प्रकार से भद्र का आयाम ६४ अंगुल का बनाया गया है । वक्ष ७५ आयाम २१ तथा दोनों बाहु ११ अंगुल विभक्त हैं ॥ २११—२५ ॥

टि० —लेखक Scribe not author) के प्रमाद-वश इस अध्याय का अथ दूसरे अध्याय में प्रविष्ट प्राप्त होना है, अतः इस परिमार्जित एवं वैज्ञानिक संस्करण में यथा-स्थान उसको (प्रक्षिप्ताश दे० स० सू० मूल अध्याय ७६ ८४३-६६) यथा पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षण अध्याय (परि० स० ५८. २६ ३८) में लाया गया है । अतएव इसका अथ यथा अनुवाद दिया जा रहा है ।

इस भद्र-पुरुष का वक्ष-स्थान एव ओणि अर्थात् नितम्ब पृथक् पृथक् परिकल्प्य हैं । उसके बाहु गोल एव सुसंस्कृत निर्मये हैं, अतएव वह वास्तव में भद्र (सौम्य) रूप बन जाता है । उसका मुख स्वभावतः गोल ही बनाना चाहिये ॥२६॥

भालव्य — इस भालव्य नामक पाचवें पुरुष का मूर्धा-प्रमाण अंगुल-त्रय बताया गया है । इसी प्रकार इसके ललाट, नासिका, मुख, ग्रीवा, वक्ष, नाभि, मेढू एव ऊपर आदि के अंग भी शास्त्र-मानानुरूप परिकल्प्य हैं । दोनों ऊरु इसकी

प्रक्राह घगुल की हो, जघायें भी उसी प्रमाण की हों। अन्य भग जैसे जानु प्रादि ये चार घगुल से विहित हैं। इस प्रकार इस मातव्य-पुरुष का प्रायाम ६६ घगुल का प्रमाण प्रतिपादित किया गया है। उसके वक्षः-स्थल का विस्तार वास्तव में २६ मात्राओं का होता है। बाहु एवं प्रवाहु इन दोनों का १६ मात्राओं से विहित है। पाष्णिं दोनों द्वादश मात्रा के प्रमाण में परिकल्प्य हैं। इस प्रकार इस मातव्य पुरुष की विशेषता यह है कि वह पीनास (पीन-स्वन्ध), दीर्घ-बाहु (प्राजानु-बाहु), विनालवक्षा एवं वृषोदर हो क्योंकि इस पुरुष-प्रमाण में महा-पुरुषों की प्रतिमा परिचलित की जाती है। इसके ऊरु, कटि, जघा सभी गोल हाने चाहिये। अतएव यह पुरुष पुरुषोत्तम माना गया है २७-३१३॥

हस्तादि पाचो पुरुषों की सब सामान्य समीक्षा की जा रही है, जिसका सम्बन्ध विशेष कर मुक्ताकृति से है। हस्त का टेढ़ा मुख तथा गण्ड-भाग भी कुछ पृथुल सा प्रतीयमान हो रहा हो। छल-नामक द्वितीय पुरुष का ध्यान वृक्ष एवं घायत सा प्रतीत हो रहा हो। विस्तार एवं सम्बाई में भद्र-पुरुष का ध्यान जैसा ऊपर बताया गया है, वह सुन्दर, सुबोल एवं गोल हो। मातव्य की भावृति तो पहले ही पुष्पात्म के रूप में प्रकीर्तित की जा चुकी है, यैसी यहाँ पर भी निर्दिष्ट है ॥३१३-३४॥

अब पञ्च-स्त्री-लक्षण प्रतिपादिन विभा जाता है। हस्तादि के समान इनके नाम हैं : वृक्षा, पौरुषो, बातकी (बलाका), दण्डा... (?)

टि०:—परन्तु यहाँ पर तो केवल तीन ही भेद मिल रहे हैं अतः प्रतिष्ठान भी यह गतिता है।

वृक्षा.—नारी मासल-शरीरा, मासल-घावा मासलायत-शाखा तथा गोल-मटोल बतायी गयी है ॥३५॥

पौरुषो.—नारी पुष्प-वक्षः, कटो-लुस्वा, लुस्व-घावा, पुष्पदरी पुरुष के काण्ड-मुल्या ऐसी पौरुषी बयानाम पुण्यादिति से नाशित होती है ॥३६॥

बलाका—(बातकी).—नारी मल्ल-काया, मल्ल-घोवा, घन-गिरल्ला, मधु-नासा, वृक्षा-जो, मल्ल-वक्ष-मल्ल बजायी गयी है ॥३७॥

दुनः इन ही परिभाषा में स्त्री-वक्ष-विषयन विज्ञानों ने यह भी बताया है कि पुरुष-समक में यह कुमारवस्था में अब प्राप्त-योजना हो जाती है

तो वह दूसरी कोटि की बातको या बजाका नारी के नाम से विख्यात होता है।

॥३८॥

इस प्रकार हंस आदि प्रधान पुरुषों का और स्त्रियों का यहाँ पर द्वादश लक्षण और मान का प्रतिपादन किया। जो इनको समझत जानता है वह राजाओं में महान् प्राप्त करता है ॥३९॥

## दोष-गुण-निरूपण

अथ अर्घ्यं चित्रो-मूर्तियो अर्थात् प्रतिमाभ्यो आदि कर्मों में वर्ज्यं (स्याज्य) — रूपो का वर्णन करता है, और यह वर्णन गो-ब्राह्मण-हितैषियो तथा शास्त्रज्ञो के अनुसार वर्णित किया गया है ॥१॥

बुद्ध-प्रतिमा :—अशास्त्रज्ञ शिल्पी के द्वारा दोष-युक्त निमित्त प्रतिमा सुन्दर होने पर भी ग्राह्य नहीं हो सकती ॥ २ ॥

प्रतिमा-दोष :— अश्लिष्ट-सन्धि, बिभ्रान्ता, बक्रा, भवनता, अस्थिता, उन्नता, काकजंघा, प्रत्यंग-हीना, विकटा, मध्य में अन्धितता— १५ प्रकार की देवता-प्रतिमा को बुद्धिमान पुरुष को कल्याण के लिए कभी नहीं बनवाना चाहिए ॥ ३-४ ॥

अश्लिष्ट-सन्धि वाली देवता-प्रतिमा से मरण, भ्रान्ता से स्थान-विभ्रम, बक्रा से कलह, नता से प्रायु-क्षय, अस्थिता से मनुष्यों का नित्य धन-क्षय निदिष्ट होता है । उन्नता से भय समझना चाहिए और हृद्-रोग । इसमें सशय नहीं । काक-जंघा देवान्तर-गमन और प्रत्यंग-हीना से गृह-स्वामी की नित्य अनपत्यता तथा विकटाकारा प्रतिमा से दारुण भय समझना चाहिये । अधो-मुखा से क्षिर का रोग — इन दोषों से युक्त जो प्रतिमा हो उसको वर्ज्य कहा गया है ॥ ५-६३ ॥

इन दोषों के अतिरिक्त अन्य दोषों से युक्त प्रतिमा का भव वर्णन करता हूँ । उद्ध-पिण्डता ? गृह-स्वामी को दुःख देती है, कुक्षिगता ? कुक्षि और कुब्जा प्रतिमा मनुष्यों को रोग देती है । पाद्वं-हीना प्रतिमा तो राज्य के लिए अनुभ-दर्शनी होती है । जो प्रतिमा नाना काष्ठों में युक्त तथा लोह-पिण्डता और सन्धियों से बंधी, हो वह अनर्थ और भय को देने वाली कही गई है । लोह से अथवा नदानीत् त्रयु से और उसी प्रकार से काष्ठ से प्रतिमा बनाना बताया गया है । पुष्टि की इच्छा रखने वाले को सन्धिया भी मुश्लिष्ट बनानी चाहिए ।

शास्त्र-प्रतिपादित विधान के अनुसार ताम्र, लोह से अथवा सोने और चादी से बाधना चाहिए । इसलिए सब प्रयत्नों से शास्त्रज्ञ स्थापति को यथा-शास्त्र-प्रमाणानुसार भुविभक्ता प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए ॥६३-१७३॥

सुविभक्ता, यथाप्रतिपादित उन्नता, प्रसन्न-वदना, शुभा, निगूढ-संधिकरणा, समाना, ध्यायति वाली, सीधी इस प्रकार की रूपवती एवं प्रमाणों और गुणों से युक्त प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए । जहां तक पुरुष-प्रतिमाओं का सम्बन्ध है वे भी पूर्ण, अविकलांग निर्मेय हैं ॥१७३-१८॥

संपूर्ण गुणों को समझ कर और संपूर्ण दोषों को ध्यान में रख कर जो ऽपति यथाप्रतिपादित गुणों से कल्याण के लिए प्रतिमा का निर्माण करता है उस शिल्पी की ओर लोग शिष्यता स्वीकार कर उस बुद्धिमान शिल्पी की आराधना करते हैं और उसकी बार बार प्रशंसा करते हैं ॥१९॥

## ऋज्वागतादि-स्थान-लक्षण

इस अध्याय में अब इस के बाद भी स्थान-विधि-क्रम का वर्णन करता हूँ । सपात एवं विपात से स्थानक प्रतिमाओं में ये नौ वृत्तियाँ उपकल्पित हो जाती हैं । प्रतिमायें वास्तव में मुद्राओं के द्वारा ही समस्त उपदेश एवं ज्ञान वितरण कर देती हैं । मुद्रायें तीन प्रकार की होती हैं—शरीर-मुद्रा, हस्त-मुद्रा एवं पाद-मुद्रा । इस अध्याय में शरीर-मुद्राओं—नौ मुद्राओं का वर्णन किया जाता है ।

सर्वप्रथम शरीर-मुद्रा ऋज्वागत है, पुनः अर्धज्वागत, उसके बाद साचीकृत फिर अर्धर्षाक्ष—ये चारों शरीर-मुद्रायें ऊर्ध्वागत हैं । अब परावृत्त शरीर-मुद्राओं का कीर्तन करते हैं । उनमें भी ये ही परावृत्त-पदोत्तर ये चारों मुद्रायें बन जाती हैं : ऋज्वागत परावृत्त, अर्धज्वागत परावृत्त, अर्धर्षाक्ष परावृत्त तथा साचीकृत परावृत्त । नवीं शरीर-मुद्रा, यत्परावलम्बी है अतः इसे पादर्वागत के नाम से पुकारते हैं क्योंकि वह भित्ति-विग्रह है ॥१-४॥

स्थान-विधि वैसे तो मुख्यतः चतुर्धा हैं, पुनः परावृत्त-परिक्षेप से इनकी श्रष्ट्या हुई, पुनः नवम पादर्वागत के रूप में वर्णित किया गया है । अब इनके व्यन्तरो की संख्या इकतीस बनती है —

- (I) ऋज्वागत तथा अर्धज्वागत, इन दोनों के मध्य में व्यन्तर चार बनते हैं ;
- (II) अर्धज्वागत तथा साचीकृत इन दोनों के मध्य में तीन बनते हैं ;
- (III) अर्धर्षाक्ष और साचीकृत इन दोनों के मध्य में केवल दो व्यन्तर बनते हैं ;
- (IV) पादर्वागत का व्यन्तर केवल एक बनता है ;
- (V) ऋज्वागत के परावृत्त तथा पादर्वागत इन दोनों के मध्य में दस व्यन्तर बनते हैं ;
- (VI) इसी प्रकार अन्य शरीरावयवों को दृष्टि में रखकर जैसे अर्धापाग,

१ परूप, प्रसत्य-वादी, भयंकर आदि रूपों में निर्भय है । साथ ही साथ भूतों की प्रतिमाओं में वैशिष्ट्य यह है कि वे भी बड़े भयंकर, उग्र-रूप तथा भीम-विक्रम विकृतजनन, सघ-रूप में, यज्ञोपवीत धारण किये हुए, कवचों को लिये हुए तथा घाटिकाओं से शोभ्य ऐसे भूतों तथा उनके गणों को बनाना चाहिये ॥५६३-६०॥

एव जो सुर और असुर नहीं बताये गये हैं, उनको भी कार्यानु रूप बनाना चाहिये और जिस असुर और सुर का लिङ्ग हो, राक्षसों और यक्षों, गन्धर्वों और नागों का जो लिंग हो, विशेषज्ञ लोग उनका निर्माण करें । प्रायः पराक्रमी, क्रूरकर्मा दानव लोग होते हैं, उन्हें किरीट-धारी तथा विविध आयुधों से सुसज्जित बाढ़ वाले बनाना चाहिये । उनसे भी कुछ छोटे और गुणों से भी छोटे दैत्य लोग बनाने चाहिये । दैत्यों से छोटे मदीत्कट यक्ष लोगों का निर्माण करना चाहिये । उनसे हीन गन्धर्वों और गन्धर्वों से हीन पन्नगों और उनमें हीन नागों को बनाना चाहिए । राक्षस तथा विद्याधर लोग यक्षों से हीन देह धारी बताये गये ॥ चित्र-विचित्र माला एवं वस्त्र धारण किये हुये तथा चित्र-विचित्र तलवारों और चमड़ों को लिये तथा नाना वेष धारण करने वाले भयानक और रूप भूत-सघ होते हैं । वे पिशाचों में भी अधिक मोटे और तेज से कठोर होते हैं ॥ ६१-६७ ॥

विशेष सकेत यह है कि न तो अधिक न कम प्रमाण, पुरुष वेष इन सुरासुर गणों की प्रतिमाओं में यह परिकल्पन आवश्यक है ॥६८३॥

टि० अन्तिम श्लोक अर्पमात्र एव गलित है ।



## पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षण

हंस-प्रभृति पाच पुरुषो और दण्डिनी-प्रभृति पाचो स्त्रियो के देह-वन्धाधिक का वर्णन करता हूँ । हंस, शश, रूचक, भद्र, और मालव्य ये पाच पुरुष बताये गये हैं ॥१॥

हंसः—उन्मे हंस-नामक पुरुष का मान बताया जाता है । हंस का आयाम ८८ अंगुलो का बताया गया है । अन्य चार पुरुषो का आयाम क्रमशः दो दो अंगुल की वृद्धि से समझना चाहिए । उसका ललाट ढाई अंगुल के प्रमाण से तथा नासिका और ग्रीवा तथा वक्ष-स्थल ग्यारह अंगुल के आयाम से होता है । इस प्रकार उदर, नाभि, और लिंग का अन्तर दश अंगुलो के प्रमाण का होता है । ऊरु बीस अंगुल और जंघा तीन अंगुल और जानु पाच अंगुल और दो अंगुल का शिर । केनान्त प्रमाण अपने मानानुसार सबमे अधिक होता है । उसी के बीस अंगुल के प्रमाण से वक्षस्थल का विस्तार होता है । हंस के हाथो का विस्तार बारह अंगुल का होता है । दोनो प्रकोष्ठ दश अंगुल के प्रमाण से विहित हैं । अलग २ श्रोणि नितम्ब आदि प्रदेश मानानुसार विहित होते हैं ॥२-८॥

शशः—हंस के स्वभाव के विपरीत तथा अपने के अनुसार ही यह शश-रूप विहित है । तर्पेव उसके अंग निर्मेय हैं । शास्त्रानुसृत तीन अंगुल के प्रमाण से (?) नासिका और मुख होता है । ग्रीवा भी उसी प्रमाण वाली होती है, वक्ष-स्थल तो ग्यारह अंगुल के प्रमाण से होता है तथा उदर और नाभि और मेढू का अन्तर दश अंगुल होता है । दोनो ऊरु बीस मात्रा, शश-नामक पुरुष भी बताया गया है और दोनो जानु बीस अंगुल की और दोनो जंघा बीस मात्रा की । दोनो गुल्फ तीन अंगुल के आयाम वाले और शिर भी उसी प्रमाण का होता है । इस प्रकार से इस शश-नामक पुरुष का आयाम ६० (नब्बे) अंगुल के प्रमाण से होता है । इस का वक्षस्थल बारह अंगुल के प्रमाण का बताया गया है । पाद, प्रवाद और पाणि, हंस के समान शश के भी होते हैं । समयानुसार एवं स्वभावानुरूप वह कृशोदर अर्थात् दुबला बनाना चाहिये ऐसा विशक्षण विद्वानों ने बनाया है ॥१४॥

रुचक — रुचक-नामक पुरुष का मुतायाम माढ़े दस अंगुल के प्रमाण से बताया गया है । इसकी ग्रीवा साढ़े तीन अंगुल के प्रमाण में बतायी गयी है । उसका वक्षस्थल ग्यारह अंगुल का और उसी प्रकार से उदर । नाभि और भेद का अन्तर दस अंगुल का बताया गया है । ऊरु बीस अंगुल और जानु तीन अंगुल और उनकी दोनों जघाघो का आयाम बीस अंगुल के प्रमाण से बताया गया है । उसके दोनों गुल्फ और चिर तीन अंगुल के प्रमाण के होते हैं। इस प्रकार से रुचक-नामक पुरुष ६२ अंगुल का बताया गया है । इसके वक्षस्थल का विस्तार बीस अंगुल का और इसकी दोनों भुजायें और प्रकोष्ठ दस अंगुल के प्रमाण से बताये गये हैं। इसके दोनों हाथ ग्यारह अंगुल के विस्तार वाले बताये गये हैं। इस प्रकार से पीन-स्कन्ध, पीन-बाहु, लीला-सहित गति वाला और खेप्टा वाला, बलवान और वृत्त-बाहु, मुन्दर आकृति वाला रुचक पुरुष होता है ॥१५—२१३॥

भद्रः—भद्र के मस्तक का आयाम तीन अंगुल में होता है।(?) ग्यारह अंगुल से और ग्रीवा साढ़े तीन अंगुल से । इन का वक्षस्थल और जठर पाद-सहित ग्यारह अंगुल का होता है । इसकी नाभि और इसके भेद का अन्तर साढ़े दस अंगुल से समझना चाहिए । दोनों ऊरुओं का आयाम पाद-सहित बीस अंगुल का समझना चाहिए । दोनों जघाघा का भी आयाम उसी प्रकार से, और जानु और गुल्फ प्रामाणिक होने हैं । इस प्रकार से भद्र का आयाम ६४ अंगुल का बताया गया है । वक्ष का आयाम २१ तथा दोनों बाहु ११ अंगुल विहित हैं ॥ २१३—२५ ॥

टि० —नेल्स 'Scriba not author' के प्रवाद-वश इस अध्याय का अर्थ दूसरे अध्याय में प्रक्षिप्त प्राप्त होता है, अतः इस परिमार्जित एवं वैज्ञानिक संस्करण में यथा-स्थान सप्तरी (प्रक्षिप्ताश दे० स० मू० मूल अध्याय ७६ ८४३-६६) यहाँ पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षण अध्याय (परि० स० ५८. २६-३८) में लाया गया है । अतएव इसका अर्थ यहाँ अनुवाद दिया जा रहा है ।

इस भद्र-पुरुष का वक्ष-स्थान एवं शोणि अर्थात् नितम्ब पृथक् पृथक् परिकल्प्य है । उसके बाहु गोल एवं सुसंस्कृत निर्मेय है, अतएव वह वास्तव में भद्र (सीम्य) रूप बन जाता है । उसका मुख स्वभावतः गोल ही बनाना चाहिये ॥२६॥

मालव्यः—इस मालव्य नामक पाचवें पुरुष का मूर्धा-प्रमाण अंगुल-त्रय बताया गया है । इसी प्रकार इसके ललाट, नासिका, मुख, ग्रीवा, वक्ष, नाभि, भेद एवं ऊपर आदि के अंग भी वास्तव-मानानुरूप परिकल्प्य है । दोनों ऊरु इसकी

अठाग्रह अगुल की हो, जघायें भी उसी प्रमाण की हों। अन्य अग जैसे जानु आदि वे चार अगुल से विहित हैं। इस प्रकार इस मालव्य-पुरुष का आयाम १६ अगुल को प्रमाण प्रतिपादित किया गया है। उसके वक्षः-स्थल का विस्तार वास्तव में २६ मात्राओं का होता है। बाहु एव प्रबाहु इन दोनों का १६ मात्राओं से विहित है। पाप्मिणं दोनों द्वादश मात्रा के प्रमाण में परिकल्प्य हैं। इस प्रकार इस मालव्य पुरुष की विशेषता यह है कि वह पीनास (पीन-स्काध), दीर्घ-बाहु (आजानु-बाहु), विनालवक्षा एव कृशोदर हो क्योंकि इस पुरुष-प्रमाण में महा-पुरुषों की प्रतिमा परिकल्पित की जाती है। इसके ऊरु, कटि, जंघा सभी गोल होने चाहिये। अतएव यह पुरुष पुरुषोत्तम माना गया है २७-३१३॥

हसादि पाँचो पुरुषों की अब सामान्य समीक्षा की जा रही है, जिसका सम्बन्ध विशेष कर मुखकृति से है। हंस का टेढ़ा मुख तथा गण्ड-भाग भी कुछ पृथुल सा प्रतीयमान हो रहा हो। शश-नाभक द्वितीय पुरुष का आनन कृश एव आयत सा प्रतीत हो रहा हो। विस्तार एव सम्बाई में भद्र-पुरुष का आनन जैसा ऊपर बताया गया है, वह सुन्दर, सुडील एव गोल हो। मालव्य की भाकृति तो पहले ही पुरुषोत्तम के रूप में प्रकीर्तित की जा चुकी है, वैसे यहा पर भी निर्दिष्ट है ॥३१३-३४॥

अब पञ्च-स्त्री-लक्षण प्रतिपादित किया जाता है। हसादि के समान इनके नाम हैं : वृत्ता, पौरुषी, बालकी (बलाका), दण्डा.... (?)

टि०:—परन्तु यहा पर तो केवल तीन ही भेद मिल रहे हैं अतः प्रक्षिताश भी यह गलिताश है।

वृत्ता:—नारी मासल-क्षरीरा, मासल-ग्रीवा मासलायत-दासा तथा गोल-मटोल बतायी गयी है ॥३५॥

पौरुषी.—नारी पृथु-बन्ध्या, कटी-ह्रस्वा, ह्रस्व-ग्रीवा, पृथुदरी पुरुष के काण्ड-मुल्या ऐसी पौरुषी यथानाम पुरुषाकृति से भासित होती है ॥३६॥

बलाका -(बालकी):—नारी अल्प-काया, अल्प-ग्रीवा, अल्प-शिखरा, लघु-शास्त्रा, कृपाक्षी, अल्प-ब्रह्म-सत्त्वा बतायी गयी है ॥३७॥

पुनः इस की परिभाषा में स्त्री-लक्षण-विचक्षण विद्वानों ने यह भी बताया है कि पुरुष-सपत्न से यह कुमारावस्था में जब प्राप्त-यौवना हो जाती है

तो वह दूसरी कोटि की बालकी या बलाका नारी के नाम से विख्यात होती है ।  
॥३८॥

इस प्रकार हस आदि प्रधान पुरुषों का और स्त्रियों का यहाँ पर यथावत् लक्षण और मान का प्रतिपादन किया । जो इनको यथावत् जानता है वह राजाओं से मान प्राप्त करता है ॥३९॥

## दोष-गुण-निरूपण

यस्य ध्वजं चित्रो-मूर्तिषो ध्वजान् प्रतिमाषो धादि कर्मो ये वज्रं (स्याज्य) — रूपो वा वणं करता ह, और यह ध्वजं वो-प्राज्ञ-हितैषियो तथा शास्त्रज्ञो के अनुसार वज्रित किया गया है ॥१॥

दुष्ट-प्रतिमा :—अस्मिन्निष्ठ-मूर्ति के द्वारा दोष-युक्त निमित्त प्रतिमा मुग्ध होने पर भी प्राज्ञ नहीं हो सकती ॥ २ ॥

प्रतिमा-दोष :— अस्मिन्निष्ठ-मूर्ति, विधाता, वक्ता, ध्वजता, ध्वजता, उन्नता, काव्यता, प्रत्यक्ष-होना, विवृता, यद्यपि ये ध्वजितता— इस प्रकार की देवता-प्रतिमा को बुद्धिमान पुरुष को कल्पान के लिए कभी नहीं बनवाना चाहिए ॥ ३-४ ॥

अस्मिन्निष्ठ-मूर्ति वाली देवता-प्रतिमा से मरण, भ्रान्ति से स्थान-विभ्रम, ध्वज से करुण, नता से धाम-ध्वज, ध्वजितता से मनुष्यों का निरव धन-धन निश्चित होता है । उन्नता से भय समझना चाहिए और दुर्-गोच । इससे समझ नहीं । काव्य-ध्वज देवांतर-गमन और प्रत्यक्ष-होना से मृत-स्थायी भी निरव धनपत्तिता तथा विवृताकारा प्रतिमा से क्षरण भय समझना चाहिए । ध्वज-मुग्ध से ध्वज का गीत — इन दोषों से मुक्त जो प्रतिमा हो उसको ध्वज कहा गया है ॥ ५-६३ ॥

सुविभक्ता, यथाप्रतिपादित उन्नता, प्रसन्न-वदना, शुभा, निगूढ-सधिकरणा, समाना, आयति वाली, सोषी इस प्रकार की रूपवती एक प्रमाणों और गुणों से युक्त प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए । जहाँ तक पुरुष-प्रतिमाओं का सम्बन्ध है व भी पूर्णग, अविक्ताग निर्माण हैं ॥१७३-१८॥

सपूर्ण गुणों को समझ कर और सपूर्ण दोषों को ध्यान में रख कर जो 'धपति' यथाप्रतिपादित गुणों से कल्याण के लिए प्रतिमा का निर्माण करता है उस शिल्पी की और लोग शिष्यता स्वीकार कर उस बुद्धिमान शिल्पी की उपासना करते हैं और उसकी बार बार प्रशंसा करते हैं ॥१९॥

## ऋज्वागतादि-स्थान-लक्षण

इस अध्याय में अब इस के बाद नौ स्थान-विधि-क्रम का वर्णन करता हूँ । सपात एवं विपात से स्थानक प्रसिमाग्नो में ये नौ वृत्तियाँ उपकल्पित हो जाती हैं । प्रतिमायें वास्तव में मुद्राग्नो के द्वारा ही समस्त उपदेश एवं ज्ञान वितरण कर देती हैं । मुद्रायें तीन प्रकार की होती हैं—शरीर-मुद्रा, हस्त-मुद्रा एवं पाद-मुद्रा । इस अध्याय में शरीर-मुद्राग्नो—नौ मुद्राग्नो का वर्णन किया जाता है ।

सर्वप्रथम शरीर मुद्रा ऋज्वागत है, पुनः अर्धज्वागत, उसके बाद साचीकृत फिर मध्यर्धाक्ष—ये चारों शरीर-मुद्रायें ऊर्ध्वगत हैं । अब परावृत्त शरीर-मुद्राग्नो का कीर्तन करते हैं । उनमें भी ये ही परावृत्त-पदोत्तर ये चारों मुद्रायें बन जाती हैं । ऋज्वागत परावृत्त, अर्धज्वागत परावृत्त, मध्यर्धाक्ष परावृत्त तथा साचीकृत परावृत्त । नवी शरीर-मुद्रा, यत्-परावलम्बी है अतः इसे पार्श्वगत के नाम से पुकारते हैं क्योंकि वह भित्तिक-विग्रह है ॥१-४॥

स्थान-विधि वैसे तो मुख्यतः चतुर्धा है, पुनः परावृत्त-परिक्षेप से इनकी अष्टधा हुई, पुनः नवम पार्श्वगत के रूप में वर्णित किया गया है । अब इनके व्यन्तरो की संख्या इकतीस बनती है —

- (I) ऋज्वागत तथा अर्धज्वागत, इन दोनों के मध्य में व्यन्तर चार बनते हैं ;
- (II) अर्धज्वागत तथा साचीकृत इन दोनों के मध्य में तीन बनते हैं ;
- (III) मध्यर्धाक्ष और साचीकृत इन दोनों के मध्य में केवल दो व्यन्तर बनते हैं ;
- (IV) पार्श्वगत का व्यन्तर केवल एक बनता है ;
- (V) ऋज्वागत के परावृत्त तथा पार्श्वगत इन दोनों के मध्य में दस व्यन्तर बनते हैं ;
- (VI) इसी प्रकार अग्नौ लगी-नावयवों को दृष्टि में रखकर जैसे अर्धापाग,

## अथ वैष्णवादि-स्थान-लक्षण

अथ इसके बाद अनेक अर्थ चैष्टा-स्थानों का वर्णन किया जाता है जिनको समझ कर एवं उसी के अनुसार विधान कर चित्र-विचारों को वही प्राप्त होते हैं ॥१॥

**वट-स्थान :-** वैष्णव, समपाद तथा वैशाख और मण्डल, प्रत्यालीढ और आलीढ इन स्थानों का लक्षण करना चाहिए ॥२॥

**वैष्णव स्थान :-** टि० इस तीसरे दसरे का पूर्ण पाद गलित है। दोनों पादों का अन्तर ठाई ताल के प्रमाण से होता है। उन दोनों का एक समन्वित और दूसरा पक्ष-स्थित त्रिकोण होता है और कुछ जघा खिची हुई दिखाई पड़ती है। इस प्रकार का यह वैष्णव स्थान बनता है और यहाँ पर भगवान् विष्णु अभिदेवता परिप्लिप्त किये गये हैं ॥३-५३॥

**समपाद स्थान** समपाद-नामक स्थान में दोनों पाद समान होते हैं और वे ताल-मात्र प्रमाण के अन्तर पर स्थित होते हैं। साथ ही साथ स्वभाव से वे मुन्दर होते हैं और यहाँ पर अभिदेवता ब्रह्मा होते हैं ॥५३-६३॥

**वैशाख स्थान** —दोनों पादों का अन्तर साढ़े तीन ताल का होता है। पञ्चा पाद अथ तथा दूसरा पाद पक्ष-स्थित अकिन करना चाहिए। इस प्रकार से यह वैशाख-तंशा वाला स्थान होता है और इस स्थान की अभिदेवता भगवान् विशाख स्वाभिकार्तिक होते हैं ॥६३-८३॥

**मण्डल-स्थान** —इन्द्र-सम्बन्धी मण्डल नामक स्थान होता है और दोनों पाद चार ताल के अन्तर पर स्थित होते हैं। त्रिकोणी और पक्ष-स्थिति से बट जानु के समान होती है ॥८३-१३॥

**आलीढ** —पाच ताल के अन्तर पर-स्थित दक्षिण पाद का कैलाकर आलीढ नामक स्थान बनाना चाहिए और वहाँ के देवता भगवान् रुद्र होते हैं ॥१३-१०३॥

**प्रत्यालीढ :-** दक्षिण पाद कुंचित करके वाम पाद को प्रसारित करना चाहिए। आलीढ के प्रतिवर्तन से प्रत्यालीढ कहा जाता है ॥१०३-११३॥

**टि०** इन प्रमुख स्थानों के पाद-मुद्राओं के अतिरिक्त अन्य स्थानों के मुद्राओं



का भी कीर्तन किया जाना है। इन में तीन पाद-मुद्रायें विशेष कीर्त्य हैं। वहाँ पर पहली में दक्षिण तो बराबर, दूसरे में अर्थात् वाम में त्रिकोण तथा तीसरी मुद्रा में कटि समुन्नत वाम इस प्रकार यह पहली मुद्रा अवहित्य के नाम में, दूसरी...?, तीसरी चक्रान्त के नाम से पुकारी गई है। समुन्नत कटि वाला वाम पाद जब प्रदर्श्य होता है तो उसकी सजा अवहित्य कही गई है। एक पाद बराबर स्थित तथा दूसरा अग्र-तल से युक्त कहलाता है तो उसकी संज्ञा... ? तीसरी चक्रान्त कही जाती है। ये तीन स्थान स्त्रियों के और कही कही पुरुषों के भी होते हैं ॥१११-१३॥

कटि के पार्श्व-भाग में दो हाथ, मुख, वक्षस्थल, श्रोत्र तथा शिर इन समस्त स्थानों में क्रियानुसार कार्य करना चाहिए। क्रियायें अनन्त हैं। उनका संपूर्ण रूप से वर्णन करना असम्भव है। इस लिए हम लोग यहाँ पर उनका दिङ्मात्र वर्णन करते हैं ॥१४-१५॥

प्रिय के निकट प्रसन्न स्त्री का भयवा प्रिया के निकट पुरुष की जैसी स्थिति भयवा संस्थान हो वह वर-पूत्र ऋज्वागत-स्थान में होता है ॥१६-१७॥  
इन मुद्राओं में अवयव-विभाग भी होता है, उसका क्रमशः सब वर्णन करता हूँ ॥१७॥

नासिका और घघर-पुटों में और अन्य नाना अंगों में जैसे सूचकणों, नाभि आदि तथा पीछे ऊरु के मध्य से और उसी के समान पीछे के गुल्फ के अन्त में त्रिभग-नामक स्थान में सूत्र की गति बताया गयी है। इस त्रिभग-नामक स्थान में एक ताल के अन्तर पर गति दिखानी चाहिए। छतौस अंगुल भागीय स्थान के मध्य में ऐमा निर्माण विहित है ॥१८-२०॥

त्रिविध-गतियों:—दुत्, मध्य, विलम्बित—प्रभेद से तीन प्रकार का गमन होता है।

टि०—इन गमनादि त्रिविध गतियों का अनुवाद असंभव है, यतः पूरा का पूरा ग्रन्थ गलित एवं भ्रष्ट है।

इस प्रकार से इन सब गमन-स्थानों में संस्थान समझना चाहिए। अन्य नृनों की यथोचित स्थिति को बिटान् लोग ठीक तरह से समझ कर करें ॥२१-२४॥

टि० इन मुद्राओं में दृष्टि एवं हस्तादि के विन्यासों का विवेचन अनिवार्य है।

दृष्टियों, हस्तों आदि के विनिर्देश से इन चार स्थानों का सुन्दारकीर्तन होता है ॥३५॥

सूत्र-विन्यास-क्रियाः-घोर भी बहुत सी जो मनुष्यों की क्रियाएँ होती हैं वे श्रुति करने योग्य होती हैं। उनका शिष्यो के ज्ञान के लिए तीन सूत्रों का पाठन करना चाहिए। ब्रह्म-सूत्र-नाम सूत्र में घोर जो पार्श्व से सम्बन्धित वहाँ पर उन स्थानों में ऊपर तीन सूत्र हैं वे पूर्वोक्त से बोध्य हैं। उनमें मध्य में जो बनाया जाता है उसे ब्रह्मसूत्र कहते हैं। भित्ति के फिर मध्य भाग की अपेक्षा से पार्श्व में स्थित जो सूत्र होता है वह मध्यगामी ब्रह्मसूत्र कहलाता है। जो दोनों पार्श्वों पर से मध्य है उसकी भी संज्ञा पार्श्व-सूत्र ही है। प्रवृत्तावयवा की पूर्ण निष्पत्ति के लिये विधान-पूर्वक जो जो प्रतीक्षित कार्य सम्पादित करना है उसमें इन तीनों ऊर्ध्व-सूत्रों का वि-वास अनिवार्य है। इन के मान तिर्यङ्-मानानुसार ही ये ज्ञेय हैं ॥३६-४२॥

संख्याव प्रभृति स्थानों का वर्णन टीका तरह में किया गया। गमनादि तीनों गतिया भी बतायी गयी हैं। सूत्र की पाठन विधि भी यथावत प्रतिपादित की गयी है और इसके ज्ञान से स्वपति विस्मयो मथ्यते विना जाता है ॥४३॥

## अथ पताकादि-चतुष्पष्टि-हस्त-लक्षण

टि० शरीर-मुद्राओं एवं स्थान-मुद्राओं के उपरान्त अब हस्त-मुद्राओं का वर्णन किया जा रहा है।

अब चौंसठ हस्तों के योगयोग-विभाग से लक्षण प्रोक्त, विनियोग का वर्णन किया जाता है ॥१॥

१ पताक	६ कपित्थ	१७ चतुर
२ त्रिपताक	१० छटकासुख	१८ अमर
३ कर्तरीमुख	११ शूच्यास्य	१९ हस्तास्य
४ अर्धचन्द्र	१२ पद्मकोष	२० हृत्पक्ष
५ अराल	१३ अहिशीर्ष	२१ सदश
६ शुकुत्पुण्ड	१४ मृगशीर्ष	२२ मुकुल
७ मुष्टि	१५ काकुल	२३ ऊर्णनाभ
८ शिखर	१६ कालपक्ष	२४ ताम्रचूड

यह चौबीस हस्तों की संख्या होती है और उनका लक्षण और कर्म बताया जाता है ॥२-५॥

पताक-हस्त — जिसकी प्रसारित अग्र-भाग सहित अंगुलिया होती हैं और जिसका अंगुष्ठ कुंचित होता है उसको पताक कहा गया है।

अब इसके विशेषों के सम्बन्ध में यह सूच्य है कि वक्षः स्थल से लगाकर शिर तक उत्क्षिप्त हस्त उठा हुआ और बायें से भुका हुआ और कुछ भुकुटियों को चढाकर और कुछ आखें फाड़कर प्रहार का निर्देश करें। पुनः प्रतापन एवं उग्र रस का दर्शन कराता हुआ एवं अविकृत मुखाकृति से कुछ मस्तक पर हाथ रख कर पताका के समान स्फारित नेत्रों से एवं भुकुटियों को आकुञ्चित भौत्यों के द्वारा यह हस्त साक्षात् पूर्व-प्रतिष्ठा (यै साक्षात् गवै हूँ) चित्र-शास्त्र विचारदो के द्वारा बताया गया है। जो वक्ष्यमाण अर्थ है उनमें उसको समुत्त करे। दूसरा हाथ इसमें विहित है। इस हाथ को ऊपर उठाकर अंगुलियों को चलाता हुआ वर्षाद्वारा-निकर का दर्शन कराव तथा पुण्य-

चिह्न का दृश्य उपस्थित करे। दोनों हाथ टेबे होवें। पुन एक को स्वस्तिक-रूप प्रदान करे। पुनः उसकी विष्णुवि करे और पद्मवाक्यति से दिखावे। इसी प्रकार केन्य सब अङ्गो एव उपायो मे ये मुद्राये प्रसङ्गोच है, इसमे सदैव प्रविकृत मुख रिताना चाहिए। हस्त-गती को गच्छन गत सखत प्रदर्शित कर। तलवो को मधीमुख कर के कुछ भस्तक नीचे झुका कर निविड से निविड, बिना त्रिकार क मुख-रूपी कमल वक्ष-स्वस के धारो तथा ऊपर परवृत्त होने पर मन की शक्ति को प्रयत्न-पूर्वक प्रदर्शन करना चाहिए। मुक्त बाम से गोष्प तथा कुछ विनत भस्तक होकर और कुछ बाई भी को प्राकृचित कर के दिखाना चाहिए। पार्श्वेय पताका से दोनो पाणि-पयो को उससे युक्त करना चाहिये। प्रविकृत मुख से वायु का मा अभिनय करना चाहिए। दायव नाट्य-शास्त्र मे इस हस्त की मुद्रा जिस प्रकार संपुट-धेसा 'वयु' एव सहरो में शोभ्य है, उसी प्रकार बुद्धिमान को इन दोनों हाथो से दिखाना चाहिए। पुर-स्थित बाम और दक्षिण हाथ से तो पहिला कुछ संपन करता हूँ और दूसरा कुछ खिर को हटाता हुआ ऐसा मनुष्य बग वा प्रदर्शन करना ऐसा और नित्य अविकृत मुख धारण करता हुआ प्रवश्य है। दोनों हाथा मे मे अतत हुए दूसरे हाथ से तो और तदनुसार विवृतानन होकर वृह हस्त नाट्य मे निपुण शोभ की अभिनय करे। कुछ मुकुटी को चर्च कर पताका से अभिनय करना चाहिए। पार्श्व मे अवस्थित ऊपर अतली हुई अगली से बाग द्वार बर्धन को मचा कर उल्लाह कराना चाहिये। तिरछ विस्फागति नेत्रो से अभिनीत इस प्रकार दोनो पार्श्वो पर अवस्थित अशुनि मे बड़ा भारी अभिनय करना चाहिए। अन्व एव उत्तानित अविकारी मुख मे पताक नामक पाणि मे हो रूपण करना चाहिए और अथर उधर चलने हुए हाथ से पुनर-ताडन दिखाना चाहिए। पुन अन्ध जगो जैसे मुख आदि से भी नावा अभिनय क्रियाये प्रदर्श्य है। विवृत मुख से नित्य पक्षोत्थ प-क्रिया करणीय है। पुन उत्तानित एव विभूत दूसरे हाथ से भी यह करणीय है। मुकुटि आदि नेत्र-प्रान्त भी महान भयकर एव बोर-गुणा-विवर-रस से प्रदर्श्य है। ऐसा मानो सार्धत शमेन्द्र-पर्वत-राज को उठा रहा हो। धीरे धीरे अ-वृत्तिका को कुछ उपस्थित कर दिखाना चाहिए। परंपरगत एव सम्मुख उसमे संत-धारण दिखाना चाहिए। तदनन्तर बनावटी मुकुटो से दोनो पार्श्वो का मधोभाग प्रविष्ट करार कर, उसी प्रकार संत प्रोत्सादन दिखाना चाहिए। शिर-प्रदेश मे स्थित तथा दूर से उत्तानित कुनो भी से पर्वत को। अद्वरण-क्रिया दिखानी चाहिए ॥६८॥

त्रिपताक-हस्त-मुद्रा:- पताक-हस्त में जब अनामिका अंगुली टेढ़ी होती है, तब उस हस्त को त्रिपताक समझना चाहिए और उसके कम का प्रब वर्णन किया जाता है। इस की विशेषता है कि उसमें अंगुलिया-मध्या, कनिष्ठा आदि चल रही हो। कुछ नत-मस्तक से यह करना चाहिए और इस को ऊपर उठा कर विनत मस्तक से उसी प्रकार अवतरण-क्रिया करनी चाहिए। दास से प्रसर्पण करता हुआ इसी प्रकार से विसर्जन करना चाहिए। पुनः प्राङ्मुख होकर अथवा भुकुटी तान कर पार्श्वस्थित से धारण और नीचे झुके हुए से प्रवेश करना चाहिए। पार्श्वस्थ से धारण तथा अधोनिष्ठ से प्रवेश करते हुए दोनों अंगुलियों के उत्क्षेपण से तथा इसके तानने से और अविकारी मुख से उन्नावन करना चाहिए और पार्श्व में नत मस्तक से प्रणाम करना चाहिए। फैलाये ऊपर अंगुलि उठा कर निदर्शन करना चाहिये? हुये मुख के आगे विविध वचनो का निदर्शन एवं अनामिका आदि अंगुलियों से सूचन-पुस्तक मांगलिक पदार्थों का समाम्भ किया जाता है। पराङ्मुख तथा शिर-प्रदेश में सर्वेण करत हुये इस हाथ से शिर-सन्निवेश दिखाना चाहिए। और यह सब अविकारी मुख से दिखाना चाहिए। दोनों तरफ से केश के निकटवर्ती दोनों हाथों से साफा और मुकुट आदि प्राप्त करता है। यह दिखाना चाहिए। और कान और नाक का दृढ़ करना दिखाना चाहिए। निकट-स्थित पाणि बनावटी भौवों से तथा ऊपर स्थित दो अंगुली वाले उस हाथ से दोनों अंगुलियों से अधोमुख दिखाना चाहिए। इसी हाथ के चलायमान दोनों अंगुलियों से पदपदों को दिखाना चाहिए और कभी २ दोनों हाथों से छोटे २ पक्षियों को दिखाना चाहिए और पवन-प्रभृतियों को भी और अन्य पदार्थों को भी दिखाना चाहिए। चलती हुई अंगुलियों वाले अधोनिष्ठ दोनों हाथों से अथवा अधोमुख से आगे सर्पण करता हुआ स्रोत दिखाना चाहिए। ऊपर स्थित सूत्र-सहस्रकार दूसरे हाथ से गया का स्रोत दिखाना चाहिए। सम्मुख प्रसर्पण करते हुए चलायमान एक हाथ से वह विकृतानन विचक्षण को सर्प का अभिनय करना चाहिए। कनीनिका-देश-सर्पी अधोमुख दूसरी दोनों अंगुलियों से उस विनतानन व्यक्ति का अध्रुप्रमाज्जन दिखाना चाहिए। नीचे २ सर्पण करती हुई भाल-देश तक जाती हुई भुकुटी को घीरे घीरे लचाकर तिलक का रचना करनी चाहिए और फिर उस अनामिका से रोचना-क्रिया करनी चाहिए। यह क्रिया भाल-प्रदेश पर विशेष रूप से विहित है। और उसी से अतर्का का प्रदर्शन करना चाहिये तथा उत्तानित त्रिपताक-हस्त से हास करना चाहिए। मुख के आगे टेढ़ी २ दो अंगुलियों के जालन से और वक्षःस्थल के अग्र-भाग से दो अंगुलियों

के चलाने से मयूर, सारिका, काक और कोकिल को दिखाना चाहिए । इसी प्रकार मानो पूरे तीनों लोकों का अभिनय प्रदर्श्य है ॥४०-६२॥

कलंत्रीमुख-हस्तः—त्रिपताक हस्त में जब मध्यम अंगुली की पृष्ठावलीकर्ना तर्जनी होती है तब यह कलंत्रीमुख नाम से पुकारा जाता है । भुके हुए, नभे हुए पैर से सञ्चरण प्रदर्श्य है तथा अन्य भंगिया भी अवोमुख में इसी भंगी से रण करना चाहिए । मस्तक-वर्ती उन्नत भ्रू-प्रदेश-संयुत उप से श्रृंग दिखाना चाहिए । ऊँची उठी हुई तथा तनी हुई भी दिखाये । पुनः कुछ नीचे भुके हुए उससे अधःपतन अधधा जाते हुए मरण दिखाना चाहिए । चकित विक्षेपण-रहित हस्त से, पुनः कुछ कुञ्चितभ्रू से शिर को झुकते हुए चलते हुए अन्य भंगिया प्रदर्श्य एवं अभिनय है ॥६३-६६॥

अर्धचन्द्र-हस्त-मुद्राः—जिसकी अंगुलिया अंगूठे के साथ अनुप के समान विची हुई होती है उस हाथ को अर्धचन्द्र कहा गया है । अब उसके कर्म का वर्णन किया जाता है । भी को ऊँचा कर के एक हाथ में दक्षि-लेखा का प्रदर्शन करना चाहिए मध्यमा से उपन्यस्त उन्नी प्रकार निर्घटन करना चाहिए । मोटे तथा छोटे पीय, दास्य, कलस कंकण इन सब को सम्युक्त हस्त से दिखाना चाहिए । रसना, कुंडल आदि के तथा तलमन के तद्देशवर्ती उससे कमर और जाघो का भी अभिनय दिखाना चाहिए । इसी से अनुगता दृष्टि अन्य अभिनयों में भी प्रदर्श्य है ॥६६-७३॥

अरास-हस्त-मुद्राः—पहली अंगुली अनुप के समान विनत बनानी चाहिए और अंगूठा कुंचित होना चाहिए और शेष अंगुलिया अरास नामक हस्त में भिन्न एवं ऊर्ध्ववलि अर्थात् उठी हुई बतायी गयी है । आगे से फैलाये हुए तथा कुछ ऊपर उठे हुए इस हस्त से सख (बल), शीवीय (भीर्य), गोभीर्य, धर्म और कान्ति दिखाना चाहिए । और भी जो दिव्य पदार्थ हैं उनको भी अविकृतानन भीहो को उठाये हुए उस नर्तक की इसी भाँति से दिखाना चाहिए एक हाथ से भाषीवर्द दिखाना चाहिए । स्त्रीकेश-ग्रहण जो होता है और अपने सर्वांग कर निर्वञ्ज जो क्रिया जाता है तथा उत्कर्षण भी वह जो सब किया जाता है वह सब भी उठी हुई भ्रू-प्रदर्शन पुरस्सर करना चाहिए और प्रदक्षिण गत हाथों से उसे दिखाना चाहिए । विवाह और सम्प्रयोग तथा धनुत से कौतुक अंगुली के अंगे समायोज से बनाई गई स्वस्तिका वाले परिमण्डल से प्रादक्षिण्य दिखाना चाहिए तथा इसी के द्वारा परिमण्डल-संस्थान, महाजन

और इस पृथ्वी पर जो निर्मित द्रव्य हो उन सबको दिखाना चाहिए। दात्र वारण (निर्घण), आह्वान अर्थात् आवाहन (त्रुलाना), वचन अर्थात् उपदेशदि इस असंयुत एवं चलित हस्त से दिखाना चाहिए। तथा इसी हाथ से पसीने का हटाना और सूघना चाहिए। नृत्य कोविदों के द्वारा उस प्रदेश में प्रवृत्त हस्त से स्त्रियों के विषय में भी वही हाथ प्रायः प्रयोग में लाया जाता है। इन सब कर्मों का यह अराल नामक हस्त निर्पाक के समान करता है। मुख-स्थित इस हस्त से अभिनय उचित नहीं यन्मुद्रा पूर्वोक्त प्रदर्श्य है ॥७४॥ ८५॥

शुक तुण्ड हस्त मुद्रा—अराल नामक हस्त की जब अंगुलिका अंगुली टढी होती है तब उस हाथ को शुक तुण्ड समझना चाहिए और उसके कर्म का ब्यञ्जन अब किया जाता है। तुम इस तिरछे हस्त से अपने को मत दिखाना—यह निर्देश है। पुनः पुरः प्रसारित एवं सामने झुकते हुए आवाहन, तिरछे प्रसारण पुनः विसर्जन आदि व्यावृत्त हस्त मुद्रा में दिखाना चाहिये। इस हस्त से फिर दृष्टि एवं भ्रू आ अनुगत प्रदर्श्य है ॥८५॥—८६॥

मुष्टि हस्त मुद्रा—जिस हाथ के तल-मध्य में अंगुनिया अंग सन्निहित होता है और अंगूठा उनके ऊपर होता है उसको मुष्टि नामक हस्त कहते हैं। यह भुक्कुटि अर्थात् मुँहो सहित इस हस्त द्वारा प्रहार और व्यायाम करना चाहिए और निगम म तो पार्श्व में स्थित दोनों हाथों से बनाया जाता है ॥८६॥ ८७॥

शिखर हस्त मुद्रा—बड़ी तथा तलवार के ग्रहण से स्तब्ध पीडन में, गान-मदन में असंयुत मुद्रा में इस हस्त को करना चाहिए, पुनः इसी हाथ की मुष्टि के ऊपर जब अंगूठा प्रयुक्त होता है तब इस पाथ को प्रयोग करने वालों को शिखर नाम से समझना चाहिए। कृश रश्मि अर्थात् खोरी तथा अनुप के ग्रहण में इसे वाम बनाना चाहिये। जहाँ तक शोषि अर्थात् निवस्त्र-प्रदक्ष के ग्रहण का विषय है वह दोनों हस्तों को व्यष्टि तक करना चाहिये शक्ति, तोमुर आदि साधुओं के धोवन में तो दक्षिण हाथ का प्रयोग किया जाता है। पाद और ओढ़ के रत्न में, चरितागुष्ठक होता है। बाजों के समुत्क्षेपण में इसी प्रदक्ष से स्थित होता है तथा इसकी दृष्टि और दोनों भ्रुओं को अनुगत बनाना चाहिये ॥ ८७—८९ ॥

कपित्थ हस्त मुद्रा—इसी शिखर-नामक हस्त को जब प्रदेशिनी नामक अंगुना दो अंगूठों से निगोदित होती है तब उस हस्त को कपित्थ नाम से पुकारा

जाता है। इसी हाथ से विद्या के चाप, तोमर, पुष्प, शक्ति (तलवार), शक्ति, ध्वज, गदा आदि इन सब वस्तुओं के चताने का अभिनय करना चाहिए। इस प्रकार इन धामों के विशेषावसर दृष्टियों एवं भू-वाचनों का भी उपयोग सुपेक्षित है ॥६७-६८॥

२. सटकामुख हस्त-मुद्रा :—कनिष्ठा अंगुली के सहित इस कपित्थ की अनामिका अंगुली संक्षिप्त एक बना होती है तब यह हाथ सटकामुख समझना चाहिए। इसी नत हस्त से होत्र, हव्य और धन्य बनाया जाता है। दोनों हाथों से छत्र-पद्म तथा छात्राकरण इष्टम्भ है। एक से आदर्श (श्रीघा) पकड़ना और दूसरा चताना, दूसरे से अक्षरोपण करना, उर्ध्वोपण करना, फिर छत्रहन करना, बूमते हुए इससे परिवेषण करना तथा बड़े दण्ड को ग्रहण करना, वस्त्रालम्बन करना, कुछ वेद्य-कलाप आदि के पकड़ने में तथा माला आदि के सग्रह में दृष्टि एवं भी सहित इस हस्त को विवरण के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिए। ॥१००-१०१॥

सूचीमुख-हस्त-मुद्रा —सूचीमुख सटक अक्षक हस्त में जब तर्जनी नामक अंगुली फैला दी जाती है तब उस हस्त को सूचीमुख के नाम से प्रयोग-वाचित्री को समझना चाहिए। इसी प्रदेशिनी-नामक अंगुली का ही प्रायः व्यवहार होता है। यह हस्त सम्मुख से कम्पित, उद्भ्रंशित, लोलक एवं बाह्य विभक्त से आदर्श है। भू-का अभिनय, चालन, एवं जूझन भी अपेक्ष्य है। धूप, दीप, पुष्प, माला, शस्त्र आदि पुष्प-मञ्जरी प्रभृति भी प्रदर्श्य है। इस में दण्ड गमन भी अभिनेय है। नामसर्पों को भी यहाँ दिखाना आवश्यक है। पुनः छोटे मयूरो, मंडल और नयनो (जो ऊपर से बचल हा रहे हो) उनकी खीरकाशों को भी दिखाना चाहिये। तथा नासिका की दण्ड-दृष्टियों को दिखाना चाहिए, मुखाक्षक, प्राण विलत इससे दाढ़ी दिखाना चाहिए और टंके मंडल वाली उससे सब लोक दिखाना चाहिए। सब और बड़े दिवस में इस उग्रत करना चाहिए। अपराद्ध-वेला में भी को भूकती और मुक्त के निष्ठ उसको वृत्ति विनृम्भित करना चाहिए। नृत्य के तत्व को जानने वालों के द्वारा वाक्पात्र के निरूपण में इस प्रकार की उस अंगुली का प्रयोग करना चाहिए, जिस हाथ फैला हुआ हो, अंगुलियाँ कूट रही हों, विशेष कर गुप्ते में पुनः हाथ को बठा कर फैला कर यह अभिनय प्रदर्श्य है। कृतल, अंगद, गच्छ एवं कुण्डला के रूप में लक्ष्य-वर्तिनी, सम अंगुली को बार बार चालना चाहिए। पुनः उस चपट में मयूख एवं उद्भुत रूप 'मुझे इस प्रकार अभिनय में लाओ'—इसे



प्रकार अभिनय में लाये। इस प्रकार की हस्त-मुद्राओं को फिर उसको फेंका कर, सहा कर दिखाना चाहिये। ओष्ठ-कोष्ठ-प्रदेशों से अंगुली से (कोन है) इस मुद्रा से। तिरछे-निकनती हुई तथा, कंठ की हुई प्रदर्श है। पुनः कान, मुखाने में, गुरु मुने में भी यही मुद्रा विहित है। हाथ की दो अंगुलियों को सम्मुख सयुक्त करके, विद्योग में विधित और लड़ाई में स्वस्तिका के आकार वाली करना चाहिए। परस्पर-निरीक्षण में भी इनको ऊपर उठावे हुए एवं ऊर्ध्व चलिता प्रदर्श है। हस्त-याम्य और ताम्य दोनो ओरों को भी हस्ताभ्यां अभिनेय हैं। ॥१०५५-१०५६॥

॥१०५७॥ पञ्चकोश-हस्त-मुद्रा-अभिनय-सूत्र-संग्रह-मांगे के, सहित, विरली, और कुंचित होती हैं और ऊपर उठी हुई और सप्रभाय, संयत, मुद्रा, वे होती हैं तो ऐसी हस्त-पञ्च-सजक, कठनातक है। अथ, इसके द्वारा श्रीकृत, प्रवृत्त। कपित्थ का, प्रवृत्त-लक्षण करना चाहिए। बीजपूरक-प्रवृत्ति, प्रधान फलों का तथा अन्य फलों का भी उन उन फलों के समान रूप बनाकर उस हाथ के समान रूप बनाकर अथ-हाथ के द्वारा ऊर्ध्वगति में रूपण करना चाहिए। मुंह-फैलाने, सत्री क, कुच, (दन्त), निरुण, करना, चाहिए और दृष्टि और भी लो-हस्त-हाथ के अनुगत, ब्रह्मों, चाहिए। ॥१०५८॥

॥१०५९॥ सर्प-हस्त-मुद्रा :- जिस हाथ की सब अंगुलियों, अंगुठ के सहित, संयुक्त प्रवृत्ति, सती होती है, और जिसके तल्ले हिस्से होते हैं, उस हाथ को सर्प-विद-तम से मुकारा जाता है। सीढ़ने और पावों देने में उसे उत्तानित करना चाहिए। सर्प की गति के लिये फिर उसे सयोमुख विचलित करना चाहिए और इस सर्प-हस्त-प्रकार हस्त से स्पष्टोद-क्रिया, कही, गयी है। फिर भी बढ़ाकर इस प्रकार से अथ, तिर करके सम्मुख, सयोमुख से हाथों को कुम्भ-स्फालन, दिशाना चाहिए और तब-सहित, दृष्टि को हस्त की अनुपायिनी बनाना चाहिए। ॥१०६०॥

॥१०६१॥ माछीपुं-हस्त-मुद्रा :- सयोमुख तीनों अंगुलियों की जब समागति होती है तथा कनिष्ठा और अंगुष्ठ जब ऊपर होते हैं, तब यह माछीपुं-क, नाम से पुकारा जाता है। वहा पर इस समय यह है-माछ यहाँ पर है-इस प्रकार हस्त, प्रयोग करना चाहिए। हस्त के आसन्न में, सप्रपात में, और स्वेदाप-निमग्न में, देरी मुद्रा से इस में तत्प्रेय-स्थित सयोमुख करना चाहिए। पुनः उसको ओष्ठ-मुद्रा प्रदर्श है। इसकी अनुपायिनी दृष्टि तथा दोनों ओरों को भी वैसे ही करना चाहिए। ॥१०६२॥

१. कागूल-हस्त-मुद्रा :- त्रैतायि-संस्थिता मध्यमा एवं तजनी के सहित भंगुष्ठ प्रदर्श्य हैं। कागूल-ये-अनायिका नामक भंगुली-टेढी और कनिष्ठा ऊपर की ओर उसमें को उत्तमनित-करके करकबू-प्रभृति प्रकृतियों को दिखाना चाहिए और तदरा जो फल हो तथा और कोई जो कुछ छोटी-बड़ी वस्तु हो, भंगुली नचाकर स्थियों के रोष-बचनो का तथा युवता, मरकत आदि रत्नों के प्रदर्शन का इसी हाथ से प्रदर्शन विहित है। इसी हस्तानुगत भी हो-का दृष्टि-पुरस्सर अभिनय पूर्वक अभिवाच्य है ॥१३४-१३७३॥

२. त्रैलोक्य-हस्त-मुद्रा :- जिसकी भंगुलिया हथेली पर आवृत्तिनी होती है और पास में पार्श्वगता विकीर्ण होती है, उस हाथ को प्रत्यक्ष प्रकीर्ण किया गया है। प्रतिषेधन में यह हाथ सम्मुख टेढ़ा रहना चाहिए। "तुम किस की हो" नहीं है - इस वाक्य के शून्य उत्तर के अदिमान के द्वारा अपने उपद्रव्य तथा क्रियाओं के सन्देश में यह मुद्रा अभिनय है। पुनः दृष्टि एक दोनो ओर उसी प्रकार इस हस्त-मुद्रा की अनुगत प्रदर्श्य हैं ॥१३७३-१४०३॥

३. चतुर-हस्त-मुद्रा :- जहां पर तीन भंगुलिया फँदी हुई हो और कनिष्ठा ऊँची उठी हो और उन चारों के मध्य में भंगुष्ठ-बद्ध हो, उसको चतुर बताया गया है। मध्य में और नभ में यह हाथ अभिनय-शास्त्री के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। नैपुण्य में फिर को अन्वित कर पुनः सत्त्व प्रयत्न बब, ऊँची भी कर के पुनः नियम में इस चतुर हस्त को उतान बनाना चाहिये, किन्तु कुट्टिया भू को विनय के प्रति-ऐसा आचरण नहीं करना चाहिए। प्रथम में उस हाथ से बाल दिखाना चाहिए और इस बाल-प्रदर्शन में भुक्तो से टेढ़ा फिर बनाना चाहिए। पुनः उत्तानित हस्त से बलपूर्वक आतुर नर को दिखाना चाहिए। त्रिषे फँलाकर फिर उत्तानित कर बाहर प्रकृत्यास-मुद्रा से सत्त्व में तथा अनुमिति में भी यह प्रदर्श्य है। इसी प्रकार से युक्त पथ्य में, क्षय में और यम् में इसी प्रकार से हाथ को प्रयुक्त करना चाहिए। दो से बढ़कर एक से थोड़ा मंडलक-स्थित उससे विचार करता हुआ अभिनय करना चाहिए और इसी प्रकार अजित तथा निर्लज्जता मुद्रा करना चाहिए और वहां पर ओहो को अनेक करके अधिकृत (भक्तिकर्म) मुख दिखाना चाहिए। फिर मण्डतावस्थित वक्षस्थल पदः स्थित मधोमुख से वहाँ भी अधिकृत मुख तथा अम्पुन्नत दोनो ओर, प्रदर्श्य हैं और फिर ज्ञान से नव प्रदर्श्य है। दोनो प्रायो से मृग-कर्ण-प्रदर्शन करना चाहिए। विषयों के द्वारा उद्देश्य-दोनों हाथों से भू-सहित-सोपन प्रदर्श्य है। पुनः अज्ञान-मुल-हस्त उससे वदन्तर, पत्राकार-प्रदर्शन करना चाहिए। इस चतुर-

मंत्रक हस्त में भी को-थोड़ा मा नना कर लेना। रति, स्मृति ब्रिद्धि, पूर्णा, मंगल, प्रणय, शीत, माधुर्य, नाव, प्रथम, पृष्टि, सचिव, सोन, पातुर्य, मारुत, मृग, मृग-वार्ता, वेध और मुक्ति तथा दाक्षिण्य मोहन में, विभव और पवित्र तथा कुछ मृग, शाल, मृदु, मृज, प्रमृज, घर स्त्री, नाना-रूप धारण करने वाले वन-में सभी चीजें इस पतुर-हस्त से यथोचित अभिनय के योग्य हैं। कहीं पर प्रभाव कहीं पर मृदुता तथा जिस २ धर्म की जंने जंने प्रभाव हो बुद्धिमानों को उसी उसी प्रकार पूर्णोक्त हस्त से धीरे में अभिनय करना चाहिए। उसी के अनुसार भू और दृष्टि भी अभिनेय हैं। धर्मात् इस मृदा में सब करना चाहिए। मण्डलस्व हस्त में पीठ और रक्त दिगाना चाहिए। कुछ नठभू धार से और परिमंडलित उसके कामा नीला दिखाना चाहिए और स्वाभाविक रूप उग पतुर-हस्त से कनोतादि वनों को रिलाना चाहिए ॥ १४०-१४१ ॥

हो दोनों हाथों से स्तम्भ-दर्शन अभिनेय है। बाएँ हाथ को फैलाकर एक से रोमांच करना चाहिए। स्त्रियो अर्थात् प्रियाओं के सवाहन में और अनुतेपन में तथा स्पर्श में साथ ही साथ विषाद में और विभ्रम में भी स्तनान्तस्थ-रस-स्वाद-पुरस्सर तद्देशवर्ती बनाना चाहिए। और उसे हनुधारण में अथस्थल प्रयोग करना चाहिए। इस हाथ की दृष्टि को अनुयायिनी और भोहो को भी अनुगता बनाना चाहिए ॥११५३-१७२३॥

सम्बन्ध-हस्त-मुद्रा :—जब अराल-हस्त की तर्जनी और अंगुष्ठ का सन्वन्ध-संज्ञक इस हस्त में भी बिहित होता है और जब उसका शल-मध्य भागभुज हो जाता है तब वह हस्त सम्बन्ध बताया गया है। वह अंग, मुख तथा पाद इन तीनों अंशों में तीन प्रकार का होता है और उसको पुष्पावचय तथा पुष्प-पयन में प्रयुक्त करना चाहिए तथा तुषो तथा पयो के ग्रहण में और साथ साथ केश-सूत्र आदि परिग्रह में प्रयुक्त करना चाहिए। धिरूप के एक-देश के ग्रहण में तो अग्रदक्षक को स्थिर करना चाहिए। आकर्षण य तथा लोचने में भी और वृत्त से पुष्प को उल्लङ्घने में और साथ ही साथ शलाकादि-निरूपण में भी ऐसा ही करना चाहिए। रोष में तथा धिक्कार के वाक्य में बाहर के भाग से प्रदर्शण करते हुए इस हस्त-मुद्रा का यह अभिनय बिहित है। इसी प्रकार और अभिनय प्रदर्श्य हैं। गुण-सूत्र के ग्रहण को तथा वाच के लक्ष्य निरूपण ध्यान और योग हृदय-प्रदेश पर इस हस्त को रख कर दिखाना चाहिए और कुछ अभिनय में तो हृदय के सामुख समुत् करना चाहिए। निन्दा, अप्रिया, कोपन और दोषयुक्त वचनों में विवर्तिताय बाय हस्त कुछ स्थिति सा 'सप्रदर्श्य है। श्लाघ की रचना में, वार्तिका के ग्रहण में, नेत्र-रजन में और आलेख्य में तथा ध्यानवृत्त-पीठन में भी इसी हस्त का प्रयोग करना चाहिए। तदनन्तर इसकी भ्रू और दृष्टि अनुगत करना चाहिए ॥१७२३-१८२३॥

मुकुल-हस्त-मुद्रा :—जिस हस्त की हंस-मुख क समान हस्त-मुद्रा ऊर्ध्व होती है और जिसकी अंगुलियाँ समागतावसहित होती हैं, उस हस्त को मुकुल के नाम से पुकारा जाता है। यहाँ पर मुकुलो तथा कमलो आदि में इसे व्यक्त बनाना चाहिए। सामने फैलाकर उज्ज्वलित यह हस्त शिट-बुम्बक होता है ॥१८२३-१८५३॥

ऊर्ध्वनाभ-हस्त-मुद्रा :—पद्मकोश-नाभक हस्त की अंगुनियाँ बंद कुंचित होती हैं तब उस हस्त को ऊर्ध्वनाभ अभिनेय चाहिए और चोरी और केशव

संज्ञक हस्त से भी को थोड़ा सा जना कर लीला, रति, स्मृति बद्धि, मूर्त्ति, संगत, प्रणय, शीघ्र, माधुर्य, भाव, प्रशय, पुष्टि, सचिव, शील, चातुर्य, मार्दव सुर, प्रश्न-वार्ता, वेध और युक्ति तथा दाक्षिण्य यौवन में, विभव और अविभव तथा कुछ सुरत, शङ्खल, मृदु, गुण, अगुण, घर स्त्री, नाना-विध पाश्र्वय वाले वर्ण—ये सभी चीजें इस चतुर-हस्त से यथोचित अभिनय के योग्य हैं। कहीं पर प्रभाव कहीं पर मृदुता तथा जिस २ अर्थ की जैसे जैसे प्रतीति हो बुद्धिमानों को उमी उसी प्रकार पूर्वोक्त हस्त से शीघ्र में अभिनय करना चाहिए। उसी के अनुसार भ्रू और दृष्टि भी अभिनेय हैं। अर्थात् इस मुद्रा में सब करना चाहिए। मध्यमस्थ हस्त से पीठ और रक्त दिखाना चाहिए। कुछ तलभ्रू धिर से और परिमंडलित उससे काला नीला दिखाना चाहिए और स्याभाविक रूप उस चतुर-हस्त से कपोलादि वर्णों को दिखाना चाहिए ॥ १४०-१४६ ॥

भ्रमर-हस्त-मुद्रा :—मध्यमा और अंगुष्ठ संदेशाकृति में और प्रदेशिनी टेढ़ी और ऊपर दोनों अंगुलियां जहाँ पर प्रकीर्ण हों उसको भ्रमर नामक कर कहा गया है। उस हाथ से कुमुद, उत्पल और पद्म का ग्रहण—अभिनय करना चाहिए। कर्ण-देश पर उस हाथ को रख कर बनाना चाहिए। और उनके अभिनय में दृष्टि को और भी वो हस्त का अनुगामी करना चाहिए ॥ १४०-१४२ ॥

हंसवक्त्र-हस्त-मुद्रा :—हंसवक्त्र नामक इस हाथ की दोनों अंगुलियां अर्थात् तर्जनी तथा मध्यमा और अंगुष्ठ भी त्रैलोक्य में स्थित या प्रदर्शन निहित है। तोय दोनों अंगुलियां फैली हुई अभिनेय हैं। कुछ स्पन्द करते हुए अंगुष्ठ वाले इस हाथ से दोनों भीहों को उठा कर निस्तार, अल्प और मृदु तथा मृदुल और तप दिखाना चाहिए और इसके अभिनय में दृष्टि और भी को हस्त का अनुगामी दिखाना चाहिए ॥ १४३-१४४ ॥

हृत्पक्ष-हस्त-मुद्रा :—पहली तीनों अंगुलियां फैली हुई और कनिष्ठा ऊपर उठी हुई तथा अंगुष्ठ जिसमें कुंचित हो उस हाथ को हृत्पक्ष बताया गया है। उस हाथ को उत्तानित कर बाहर टेढ़ा कर निवापाञ्चलि दिखाना चाहिए। उल्लो के गारा गन्ध के रूप का गन्ध-वर्तन और यौवन में तथा प्रतिपद् अर्थात् शशिषा घाटि की स्वीकृति में इसे उशान करना चाहिए और उसी प्रकार आह्वान के प्राचमन घाटि पून काशी में इसे करना चाहिए। दोनों के अन्तरावकाश के नीचे इसे स्वस्तिक-योगी बनाना चाहिए। कुछ धिर को नीचे करके पार्श्व में

ही दोनों हाथों से स्तम्भ-दर्शन अभिनेय है। बाएँ हाथ को फैलाकर एक से रोमांच करना चाहिए। स्त्रियों अर्थात् प्रियाओं के संवाहन में और अनुलेपन में तथा स्पर्श में साथ ही साथ वियाद में और विभ्रम में भी स्तनान्तस्थ-रस-स्वाद-पुरस्सर तद्देशवर्ती बनाना चाहिए। और उसे हनुधारण में अधस्थल प्रयोग करना चाहिए। इस हाथ की दृष्टि को अनुयायिनी और मोहो को भी अनुगता बनाना चाहिए ॥१६५३-१७२३॥

सम्बन्ध-हस्त-मुद्रा :—जब अंगुल-हस्त की तर्जनी और अंगुष्ठ को सम्बन्ध-संज्ञक इस हस्त में भी विहित होता है और जब उसका तल-मध्य अभुज हो जाता है तब वह हस्त सम्बन्ध बताया गया है। वह धर्म, मुख तथा पाद्व इन तीनों भेदों में तीन प्रकार का होता है और उसको पुष्पावचय तथा पुष्प-प्रघन में प्रयुक्त करना चाहिए तथा तृणों तथा पत्रों के ग्रहण में और साथ साथ केश-सूत्र आदि परिग्रह में प्रयुक्त करना चाहिए। शिल्प के एक-देश के ग्रहण में तो भद्रदर्शक को स्थिर करना चाहिए। भाकर्षण में तथा खींचने में भी और दन्त से पुष्प को उखाड़ने में और साथ ही साथ शलाकादि-निरूपण में भी ऐसा ही करना चाहिए। रोष में तथा धिक्कार के वाक्य में बाहर के भाग से प्रसर्पण करते हुए इस हस्त-मुद्रा का यह अभिनय विहित है। इसी प्रकार और अभिनय प्रदर्श्य हैं। गुण-सूत्र के ग्रहण को तथा वाण के लक्ष्य-निरूपण, ध्यान और योग हृदय-प्रदेश पर इस हस्त को रख कर दिखाना चाहिए और कुछ अभिनय में तो हृदय के सम्मुख सवृत करना चाहिए। निन्दा, प्रवृत्ति, क्रोध और दोषयुक्त वचनों में विवर्तिताय वाम हस्त कुछ दिग्गति सा'त प्रदर्श्य है। प्रवाल की रचना में, वतिका के ग्रहण में, नेत्र-रक्षण में और शालेय में तथा घातक-पीडन में भी इसी हस्त का प्रयोग करना चाहिए। तदनन्तर इसकी भी और दृष्टि अनुगत करना चाहिए ॥१७२३-१८२३॥

मुकुत-हस्त-मुद्रा :—जिस हस्त की हस्त-मुख के समान हस्त-मुद्रा ऊर्ध्वा होती है और जिसकी अंगुलियाँ समागताग्रग्रहिता होती हैं, उस हस्त को मुकुत के नाम से पुकारा जाता है। यहाँ पर मुकुलो तथा वमलो आदि में इसे सचत बनाना चाहिए। सामने फैलाकर उच्चावित यह हस्त षट्-चतुष्क होता है ॥१८२३-१८४३॥

ऊर्ध्वनाभ-हस्त-मुद्रा :—पथकोष-नामक हस्त की अंगुनियाँ अब कुंचित होती हैं तब उस हस्त को ऊर्ध्वनाभ समझना चाहिए और बोरी और केशग्रह

में इसे प्रयुक्त किया जाता है। चोरी और शोच-गृह में इस हाथ को प्रधीमुख करना चाहिए। शिर को झुलाने में मस्तक के प्रदेश में बार बार चलता हुआ इसे तिर्यक् वर्णना चाहिए और कुंठ की व्याधि के निरूपण में इसे टेढ़ा बनाना चाहिए। ॥ १६४३-१६८६ ॥

ताम्रचूड-हस्त-मुद्रा :—मध्यम और अंगुष्ठ सन्देश के समान जहाँ पर हों और प्रदेशों में बँटी हो तो दोनों अंगुलियाँ 'तलस्य' कर्तव्य है। मूला, अनामिका के डराने में तथा बाल-सधारण में इस हाथ को भस्त्रना में मूकटी-युक्त वर्णना चाहिए। सिंह एवं व्याधि आदि के योग में विच्युत हो कर देख करता है। दृष्टि एवं भू इस हस्त की सर्वत्र प्रयुक्त विहित है। दूसरों के द्वारा इसकी दृष्टि सजा भी दी गयी है ॥ १६८६-१६९३ ॥

प्रभोक्तक प्रसंयुत चौबीस हस्ती की वर्णन किया गया। अब तेरह संयुत हस्ती के नाम और लक्षण का वर्णन किया जाता है :—प्रजलि, कपोत, कंकट, स्वस्तिक, छटक, वर्धमान, उत्तम, निपद्य, डोल पुष्पपुट, मेकर, गजदन्तक, अवहित्य और दूसरा वर्धमान—ये सद्युत संज्ञक तेरह हाथ वर्णित किए गये हैं ॥ १६९३-१६९३ ॥

प्रजलि-हस्त-मुद्रा :—दो पताक हस्तों के संश्लेष से प्रजलि-नामक हस्त संयुत किया गया है। वहाँ पर विद्वान की कुछे विनत दिग्ग प्रकरना चाहिए। निकटवर्ती मुख से गुह्य को नमस्कार करना चाहिए और वक्षस्थल पर स्थित मित्रों का और स्वामी का प्रवेच्छ विहित है ॥ १६९३-१६९३ ॥

कपोत-हस्त-मुद्रा :—दोनों हाथों से परस्पर पार्श्व-संग्रह में कपोत नाम का हस्त होता है इसके कर्म का वर्णन प्रथम किया जाएगा। शिरीरमन से एवं वक्षः स्थल पर हाथ रख कर उसी से गुह्य-सम्भाषण करना चाहिए तथा उसी से शीत और भय प्रदान करना चाहिए। विनयाभ्युपगम में भी यह विहित है। अंगुलि से संपुष्पमाण भुवन पौण्ड से यह नही करना चाहिए, ऐसा ही करना चाहिए—आदि अभिनेय है ॥ १६९३-२००॥

कंकट-हस्त-मुद्रा :—जिस हस्त की अंगुलियाँ अन्धोन्धाम्यन्तर निःसृत होती हैं, उस को कंकट संज्ञकना चाहिए और उसके कर्म का अब वर्णन किया जाता है। शिर को चटाकर तथा भीहों को नचाकर कात्रातुरों का

जम्भण (जमुहाई लेना) तथा अंग-मर्दन इसी से दिखाना चाहिए ॥२०१-२०२॥

स्वस्तिक-हस्त-मुद्रा :—यौग्यवर्धन में विध्यस्त अंगाल दोनो हस्तो को स्त्रियो के लिये प्रयोजित होते हैं तो उसे स्वस्तिक बताया गया है । अंगाल तरफे ऊपर प्रदर्श्य एवं विस्तोर्ण रूप में बनी, मैथो, गणन आदि प्राकृतिक दृश्य अभिनेय है ॥२०३-२०४॥

खटकावधमान हस्त मुद्रा :—उर्ध्व में खटका उद्यस्त (खटकावधमानक-सूत्रक) सह हस्त बताया जाता है । अंगार आदि रसों के धर्म में इसे प्रयोग करना चाहिए तथा उसी प्रकार इस का परावर्त-प्रभेद भी विहित है ॥२०५-२०६॥

उत्सग-हस्त मुद्रा :—दोनों अंगाल हस्त विपयस्त और ऊंचे उठे हुए बधमानक जब हो तो स्पर्श में एवं ग्रहण में इसकी सजा उत्सङ्ग बताई गयी है । उत्सग नाम वाले ये दोनो हाथ होते हैं । अब उनका काम बताया जाता है । उन दोनो का विषय प्रहरण अथवा हरण में विनियोग करना चाहिए और इन दोनो हाथों को स्त्रियों को इसी के योग्य बनाना चाहिए । दायें अथवा बायें हाथ को कर्ण के मध्य में न्यास करना चाहिए ॥२०६-२०७॥

नियध हस्त मुद्रा :—यह संज्ञा गलित एवं लुप्त है । दोल-हस्त-मुद्रा :—जहाँ दोनो फ्लोक हस्तो का अभिनेयः कहे प्रविष्टि, मुक्त तथा प्रलम्बित दिखाई पड़े रहें ही, ऐसे कर्ण में दोल की सजा हुई ॥२०८॥

पुष्पपुट-हस्त-मुद्रा :—को संपन्निर नामक हस्त बखिया गया है उसका अंगुल समर्त हो तर्पार्जी दूसरा हाथ दावें-संश्लिष्ट हस्त होता तो सब हस्त होता है । इसके काम विभिन्न प्रदर्शन, जल्पान आदि है ॥२०९-२१३॥

मकर-हस्त-मुद्रा :—जब दोनो पंक्त-हस्त के अंगुठा उदात्त, अंगुलि ऊपर ऊपर विन्यमित होती है तब उस हाथ को मकर अथवा मकरध्वज कहते हैं ॥२१२॥

गजदन्त-हस्त-मुद्रा :—ऊपर में दोनो हाथ जब सर्पधर्मिक मधित होते हैं तब उस हाथ को गजदन्त के नाम से समझना चाहिए ॥२१३॥

अवहित-हस्त-मुद्रा :—शुक की चोंच के समान दोनो हाथों को बनाकर वक्ष स्पल पर रख करके फिर धीरे धीरे मुखादिदोभिनय से उसको अवहित कहा जाता है । इस हाथ से उत्कण्ठा-प्रभृति का अभिनय करना चाहिए ॥२१४-२१५॥

वधमान-हस्त-मुद्रा :—दोनों हाथ हस्त पशु की मुद्रा, म-जब हो धीरे वे



एक दूसरे के पराङ्मुख भी हो तो इस को वर्धमान के नाभ से पुकारा जाता है ॥२१५॥

टि० (१) इस मूलाध्याय में आगे के दो श्लोक (२१६-२१७) प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं अतः अनुवादानपेक्ष्य ।

टि० (२) चतुर्विंशति (२४) समुत्त हस्त-मुद्राओं एवं त्रयोदश (१३) असंयुत हस्त-मुद्राओं के वर्णन के उपरान्त अब एकोनविंशद (१९) नृत्य-हस्त-मुद्राओं का वर्णन किया जाता है । इन नृत्य-हस्तों में इस मूल में केवल छठ्ठाईस नृत्य-हस्त प्राप्त हो रहें हैं, उनसे दसुओं के लक्षण भ्रष्ट हैं, गलित भी है तथा अभ्यवस्थित भी है, अतः मुनि की दिशा से अर्थात् नाट्य-शास्त्र-प्रणेतार भरत-मुनि के नाट्य-शास्त्र की दिशा से अब-तब आवश्यक व्यवस्था का भी प्रवर्तन किया गया है ।

ये ही समुत्त-असंयुत दोनों हस्त-मुद्राओं नृत्य-हस्त-मुद्राओं में भी प्रयोग में आई जा सकती हैं । चेष्टा, अंग—जैसे हस्त से, उसी प्रकार शारीरिक विकार जो बड़, मोष्ठ, नासिका, पार्श्व, ऊब, पाद, आदि गतियों एवं आक्षेप-विक्षेपों से जिस प्रकार की अनुकृति अभिव्यक्त हो सकती है, उसी प्रतीति से इनका अनुकरण इन मुद्राओं में विहित है ॥२१८-२१९॥

नृत्य-हस्त :—अब इन नृत्य-हस्तों का वर्णन किया जाता है । पहले इनकी निम्न तानिका प्रस्तुत की जाती है :—

(१) चतुरश्र	(१०) उत्तानवक्रिचत	(२०) ऊर्ध्व-मंडली
(२) बद्धवृत्त	(११) पल्लव-हस्त	(२१) पार्श्व-मंडली
(३) स्वस्तिक	(१२) केय-वन्ध	(२२) उरो मंडली
(४) विप्रकीर्णक	(१३) सता-कर	(२३) उरः पार्श्वार्धमंडल
(५) पद्म-कोश	(१४) करि-हस्त	(२४) मुष्टिक-स्वस्तिक
(६) घराज-स्रटकामुख	(१५) पक्ष-वचित	(२५) नत्तिनी-पद्मकोषक
(७) धाविट-वक्त्र	(१६) पक्ष-प्रद्योतक	(२६) हस्तावलपल्लव-कोत्सव
(८) सूची-मुख	(१७) गवह-पलक	(२७) मञ्जित
(९) रेचित	(१८) दह-पक्ष	(२८) वज्रित
(१०) अर्ध-रेचित ।		

टि० :—संकेत २६ नृत्य-हस्तों का है परन्तु प्रक्षिप्त क्रम से केवल २८ ही हस्ता मिलती है ॥२२०-२२०॥

**चतुरश्र :-** जब वक्षःस्थल के सामने अष्टांगुल-प्रदेश में स्थित, सम्मुख-खटकामुख, पुनः समान कूर्पराश—ऐसी मुद्रा प्रतीत हो रही हो तो नृत्य-हस्त-विशारदों के द्वारा इस नृत्य-हस्त की सज्ञा चतुरश्र दी गई है ॥२२८-२२९॥

**टि० :-** यहाँ पर इस मूल में उद्धृत एव स्वस्तिक इन दोनों नृत्य-हस्त-मुद्राओं का लक्षण गलित है।

**विप्रकीर्ण :-** हंस-पक्ष की आख्या वाले दोनों हस्त जब व्यावृत्ति एवं परिवर्तन से स्वस्तिक-आकृति में लाए जाते हैं, पुनः मणि-बधन में व्यावृत्ति अर्थात् हटा दिए जाते हैं, तो इस मुद्रा को नृत्याभिनय-कोविदों ने विप्रकीर्ण की सज्ञा दी है ॥२२९३-२३०॥

**पञ्चकोश :-** वे ही दोनों हंस-पक्ष-हस्त जैसे विप्रकीर्ण उसी प्रकार इसमें व्यावर्तन-क्रिया का आशय लेकर, मल-पल्लवता की आकृति में परिवर्तित कर इन दोनों हस्तों को जब ऊर्ध्व-मुख किया जाता है तो इस की सज्ञा पञ्चकोश बनती है ॥२३१-२३२॥

**अराल-खटकामुख :-** विवर्तन एवं परावर्तन इन दोनों प्रक्रियाओं में दक्षिण को अराल और बायें को खटकामुख में स्थित कर जब यह मुद्रा बनती है तो इसको अराल-खटकामुख-नृत्य-हस्त कहते हैं ॥२३२३-२३३॥

**आविद्धवक्त्रक :-** भुजाएँ, कर्ण और कूर्परो के साथ सब बाएँ और दाएँ ये दोनों हाथ कुटिलावर्तन-क्रिया में अधोमुख-तल, आविद्ध, उद्धत एवं विनत इन क्रियाओं से जो मुद्रा प्रतीत होती है वहाँ इस मुद्रा की आविद्ध-वक्त्रक-नृत्य-हस्त-मुद्रा-सज्ञा होती है। इसकी विशेषता यह भी है कि इस मुद्रा में गदा-बेष्टन-योग भी विहित है ॥२३४-२३५॥

**सूची-मुख :-** जब सर्प-शिर की मुद्रा में तलस्थ अंगुष्ठक वाले दोनों हाथ तिरछे स्थित हो कर और आगे प्रसारित कर जो आकृति प्रतीत होती है, उसमें इस नृत्य-हस्त की सज्ञा सूची-मुख से कीर्तित की गई है ॥२३६॥

**रेचित :-** मणिबधन से विज्युति प्रदान कर सूचीमुख की ही आकृति इनको पहले देकर पुनः बाद में व्यावृत्ति और परिवृत्ति से हृत्पक्ष का मुद्रा में लाकर कमल-वर्तिता करनी चाहिए, पुनः इनको द्रुत-भ्रम की गति में लाकर दोनों बगलों में धीरे धीरे रेचित करना चाहिए, तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा को विशारदों ने रेचित कहा है ॥२३७-२३८॥

**मन्दरेचित :-** पूर्व-व्यावर्तित-क्रिया का आशय लेकर बाहु-वर्तना से चतुरश्रक और परिवृत्ति इन दोनों मुद्राओं से जब दक्षिण हाथ चतुरश्र की मुद्रा

म घ्रा जाना है । पुनः बाबा हाथ रेखित मुद्रा मे घ्रा जाता है । तो विद्वानो ने इसे प्रद्वरेखित की संज्ञा दी है ॥२३६३-२४१३॥

उत्तान-वञ्चित - दोनो हाथो को चतुरश्र के समान व्यावृत्ति एवं परिवृत्ति से वन्तित कर पुन कूर्पर ग्व घम मे घचित कर जब इस प्रक्रिया मे ये दोनो हाथ त्रिपताकाकृति प्रतीत होने लगते हैं और कुछ ये दोनो हाथ श्रथस्थिति (निकोनी) मे आश्रित होते हैं तो इनकी संज्ञा उत्तानव वञ्चितनृत्य-हस्त हो जाती है ॥२४१३-२४२३॥

पल्लव-हस्त : इस मुद्रा मे या तो बाहु-वर्तन घयवा दीर्घ एवं बाहु दोनो क वर्तन से, इस क्रिया से अभ्यर्णागत दोनो हाथ जब पताका के समान निर्दिष्ट हो जाने हैं तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा की पल्लव-संज्ञा कही गयी है ॥२४२३-२४४३॥

केश-घण्य :-मस्तक पर दोनो हाथ जब उद्वेष्टित-वर्तना-गति एव सरणि मे शिर के दोनो बगलो पर जब पल्लव-संस्थानाकृति मे दोनो हाथ दिखाई पड़ते हैं । तो इन नृत्य-हस्त की संज्ञा केश-घण्य दी गई है ॥२४४३-२४५३॥

तता-हस्त :-... . ? जब ये दोनो हाथ अभिमुख निविष्ट हो जाते हैं तथा दोनो बगलो पर पल्लव-हस्त की आकृति मे दिखाई पड़ते हैं तो इन नृत्य-हस्त की मुद्रा की संज्ञा तता-हस्त दी गई है ॥२४५३-२४६३॥

करि-हस्त -इस करि-हस्त की विशेषता यह है कि व्यवर्तन से दक्षिण हस्त तता-हस्त के समान तथा वाम हस्त उन्नत विलोमित होकर त्रिपताक-हस्त की आकृति मे परिणत हो जाते हैं तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा की संज्ञा करि-हस्त दी गई है ॥२४६३-२४७३॥

पक्ष-वञ्चितक :-उद्वेष्टित वर्तना से जब दोनो हाथ त्रिपताक के समान अभिमुख घटित हो जाते हैं पुनः करि-हस्त सन्निविष्ट भी प्रतीत होने लगते हैं तो इस नृत्य-हस्त की संज्ञा पक्ष-वञ्चितक दी गई है ॥२४७३-२४८३॥

पक्ष-प्रघोतक :-जब ये दोनो हाथ त्रिपताक हाथो के समान कटिघोर्ध्व-सन्निविष्टाए दिखाई पड़ते हैं; पुन विवर्तन एवं परावर्तन से यह पक्ष-प्रघोतक मुद्रा बन जाती है ॥२४८३-२४९३॥

गड-पक्षक :-घोर्ध्व-तलाविष्ट ये दोनो हस्त प्रदर्श्य हैं, पुनः इन दोनो हस्त-मुद्राओं को त्रिपताकाकार-वैशिष्ट्य विहित है ॥२४९३॥

वज्र-पक्षक :-व्यावृत्ति एवं परावर्तन मुद्रा से दोनो हाथों को फैलाकर दिखाना चाहिए ॥२५०॥

ऊर्ध्व-मण्डलिन :- इस नृत्य-मुद्रा में हाथों का ऊर्ध्वदेश-विवर्तन से दर्शनीय होता है ॥२५१३॥

पार्श्व-मण्डलिन :- इसकी विशेषता यथानाम पार्श्व-विन्यास विहित है ॥२५१४॥

ऊरोर्मण्डलिन :- दोनों हाथों में से एक तो उद्वेष्टित तथा दूसरा अपवेष्टित प्रदर्श्य है, पुनः वक्ष स्थल-स्थान में उन्हें अमित प्रदर्श्य है ॥२५१५॥

टि० यथा-निदिष्ट शेष नृत्य-हस्त-मुद्राओं — उरणाश्वोर्ध्वमण्डलिन, मुण्डिन-स्वस्तिक, नलिनी-पद्मकोपक, हस्ताबलपत्तन-कोल्बण, ललित तथा वायव्य-इन छहों के लक्षण गवित हैं ।

इति शुभम्  
अनुवाद खण्ड  
समाप्त

अक्षरपत्र	११३	आनुष-गृह	१३
अक्षरपत्र-चिह्न	११०	आनुष	३५
अक्षरपत्र	६४	आनुष्याष्टक	७१
अक्षरपत्र	१२	आनुष्य	८१, ११७
अक्षर-दोहर	१६	आनुष	४६, ८०
अक्षरपत्र	१८	आनुष	११२
अक्षरपत्र	१०६	आनुष-वचन	१२०
अक्षरपत्र	११५	आनुष	३६, ४१
अक्षरपत्र	११६	आनुष-पट्टक	२२
अक्षर-स्थान	२८	आनुषोदन-विद्या	११४
अक्षर-शाला	२३, २८	आनुषान	७४
अक्षरपत्र	८८		इ
अक्षरपत्र-साध	६४	इ-इ-वद	१२
अक्षरपत्र-यन	१३		ई
अक्षरपत्र-भाव	४६	ईसी-तोरण-गुणत	५६
अक्षर-दिग्गज	८८	ईसा-दण्ड	४०
अक्षरपत्र	४८		उ
अक्षर-धारा	११३	उच्छ्राय	५३
अक्षरपत्र	६४	उच्छ्राय-समपात	५३
अक्षरपत्र	१०८	उच्छ्राय	१११
अक्षर-मान	६५	उच्छ्राय	११०, ११३
अक्षर-कोण	३४	उच्छ्रायक	१५
अक्षर-दिशाभिमुख	३२	उच्छ्राय	३६
अक्षर-यन्त्र	५१	उत्तम (पीठ)	७
अक्षरमाता	२०	उत्तम-गुरुप	७३
अक्षरपत्र	४८	उत्तरीय-वस्त्र	८६
अक्षरपत्र-वद	१३	उत्तानित	१०६, ११५
अक्षर	४६	उत्तान-वञ्चित	१२०
अक्षरसारक	६	उत्तीर्णक	७४
अक्षरतन	३४	उदर-लेखा	१०१
अक्षरतन-निवेश	२४	उदर-पिण्डिता	६४
अक्षर-सूत्र	१०४	उदाल	३०

कर्ण-प्रासादिका	२६	कुक्कुट	७४, ८७
कर्ण-पिप्पली	८२	कटिनावर्तन क्रिया	१२१
कर्ण-पृष्ठाथय	८२	कुञ्चित-भ्रू	१११
कर्ण-मूल	८२	कुञ्ज	६७
कर्ण-भिनि	२५	कुड्य-भूमि-वन्धन	६७
कर्ण-मूत्र	१०१	कुड्यकरण भूत्र	४६
कर्णिका	५६	कुड्य पट्ट	२२
कर्तरी-मुख	१०८	कुण्डल	५१, १११, ११३
कर्वाट	७४	कुहाल	३०
करि-हस्त	१२०	कुतल	११३
करुण	७५	कुन्त-हस्त	५३
करक-बंधन	६६	कुकुम	२६
कला	७३, ६७, ६८	कुहासी	६७
कलश	५, १६, १११	कुञ्ज	६५, ७३
कपाय-शार	६७	कुवेर	१६
काक-जघा	६४	कुम्भक	७४
काक-पक्ष	१०८	कुम्भ-स्फालन	११४
कागूल	१०८	कुम्भिका	१५, ५८
काति	१११	कुमार	३४
काम-सदन	५१	कुमारो-भवन	१२
कार्तिकेय	८६	कुर्वट	७४
कालक	४१	कुश	३०, ११२, ११३
काश	७४	कुड्य	४०
कास्य-ताल	४८	कुटागार	२२
काह्ला	५१	कूप	६६
किन्नर	६५, ७४	कुचंक	६६
किम्पुरुष	८६	कूपर	२६
किरीट-धारी	८७, ८६	कूर्म	७४
किष्कु	२६	कूप्याण्ड	६७, ७४
कीर्ति-गताक	२०	केश-वन्ध	१२०
क्रीडा एव दोला गृह	१२	केशात-लेखा	१००

: च :

कोला	२२	गन्धर्व-सजक-पद	२८
कोलदूक	४१	गर्भ कोष्ठ	३५
कोप	८३	गर्भ-सूत्र	१०४
कोष्ठागार	१२, १३	गरुड-पक्षक	१२०
कोष्ठिका	३५	ग्रहण-प्रभिनय	११६
क्रोड-नयन	४१	गवाक्ष	२६
कौतुक	१११	गाढ ग्राहक	४७
कोशेय	८८	गान स्वान	११
कोशिकी	८८	ग्राहक	४७
कृत-बन्ध	६५	गात्र-मर्दन	११२
कृपा	८५	गुटक	३०
कृषोदरी	८५	गुरु-सम्भाषण	११८
		गुप्ति-कोष्ठागार	१२
ख		गुप्ति	६५
खटक	११८	गुल्म	७४
खटकामुख	१०८, १२०	गुल्माश्रय	७३
खर-बन्धन	६७	गोलक	४६
खुर	३०	गोलक-भ्रमण-यत्र	६६, १०१
खुर-घरण्डिका	१६	गोजी	११
खेट	८७	गोपुर	११
खेटक	८६, ८८	गोपुङ्ग-द्वार	१३
		गो-स्वान	११
ग		गृहक्षत	७४
गज-तुण्डिका	२२	गृध्रुक	७४
गज-दन्तक	११८		
गज-शाला	१४, २३, २६	घ	१६, ६०, ८७
गज-कर्णादिक	४७	घण्टा	४८
गज-दीपिका	५८	घटा-ताडन	२६
गण्ड-वर्तन	११६	घातकी	
गंडकी	७४		६१
गदा	७८, ११३	घक्र-भ्रम	१०६
गन्धर्व	१२, ८५, ८६	घक्रान्त	५
ग्रन्थि-नता	६४	चतुरथा	

: छ :

चतुरथायता	६०	ज	
चतुष्क	१७, १८, २०	जघन	८४
चतुष्किका	५८	जंघा	१६, १८, २०, ८३
चन्द्र-शाला	१६	जठर-मर्ष	१०४
चरक-पद	१३	जया	२५
चल-रुचंक	६६	जयन्त (पद)	१२, १३
चाप-चय	६६	जयन्ती	१५
चामर-छत्र-गृह	१३	जयाभिध-पद	१४
चिरकाल-सहस्र	४८	जलीय बीज	४६
चिबुक	८२, ६६	जल-भवर	४७
चिबुक-मूत्र	१०२	जल-भार	४७
चित्र-कार	६५	जल-भग्न	५, ५६
चित्र-क्रिया	६८	जल-पन्द	४७
चित्र-वैश्वोपयोगी	६६	जानु-कपालक	८३
चित्र-रस-दृष्टि	७६	जानु-पाश्व	१०४
चित्र-भाला	१३	जामदग्नि	८७
चित्राग	६५	जिह्वा	७६
चित्रोद्देश	६५	ज्योतिषी-बृह	१४
चित्र-कर्म-मानोत्पत्ति-वधाण	७३	जुम्भन	११३
चलिका	१६	ट	
चंत्थ	२६	टिविल	५१
छ		ढ	
छविता	७६	टमर	५१
छत्र-पहण	११३	त	
छत्रावर्षण	११३	तर्जनी	१११
छाग	८७	तल-धन्व	२०
छाद्यक	२२	तल-पत्र	१११
छाद्य	६	तल-ग्रन्थ	५८
छाद्य-पिण्ड	१६	तल-भूमि	१६
छाद्य-उच्छ्राय-निर्गम	२२	ताडव	४६
छिद्र	४१	ताद्रूप्य	४८



: ज :

नाथ	४७, ४३	द्वार-द्रव्य	३५
तार	४६	द्वारपाल-यत्र	५२
तारा	६७	द्वार-वेध	३५
ताम्र	८१	दिग्भाग	३४
ताम्र-चूड	१०८	दिव्याण्डक	७१
ताम्रवेतु	८७	दिव्या-मानुष	६५, ७३
तिन्दुक	३६	द्विज-मुख्य	६५
तिनिश	३६	दीना	७६, ८५
तिथेक्	७४	दीप	३०, ११३
तिलक	११०	दीप्य-वाहुं	६२
तुम्बिनी	२२	दीपिका	६६
तुला	५८	द्रुत-भ्रम	१२१
तोमर	११२, ११३	दुर्वर	७४
तोरण-द्वार	५७	दुष्ट-प्रतिमा	६४
तुणाभ्रम	७४	दृग्स्थ	४५
तुमिला	४८	देवादि	६५
		देव-कुल	१४
दक्षा	२५	देव-दारु	३६
दण्ड	४१, ८५	देवता-दोता	६१
दण्ड-पक्ष	१२०	देवाण्डक	७१
दण्डा	६२	देव-पीठ	७
दण्डका	७४	देशी	४६
दण्डिनी-प्रभृति	६०	देह-वन्धादिक	६०
धि-पर्ण	३६	दैरय	८५
वी	३०	दोला-यन्त्र	५८
नवाण्डक	७१	दोला-यम	६१
रु-बलुप्त-पुरुष	५३	द्रोणी	५३
रुमय-हस्ति	५३	दृष्टा	७६
रु-विमान	५२	द्रव्यत्व	४५
रारिषि	८७		
रादि-परिजन-यत्र	५२	धन्वन्तरि	८८

धर्माधिकरण-व्यवहार-निरीक्षण	१२	निष्कुट	४८
धारा	४७	निष्कृष्य	११८
धारा-गृह	१३, ४६, ५२	निषय	४७
धान्यदुखल	२८	नीरुघ्नता	५
न		नीराजन	८५
नद्याधम	७४	नीलकण्ठ	८७
नन्दा	२५	नीताम्बर	६५
नदिनी	२६	नेपथ्य	११२
नन्दावर्त	५३, ५७	नृत्य-कोविद	१२०
नर-सिंह	५२	नृत-हस्त-मुद्रा	२२
नलक	६८	नृपायतन	११
नलिनी-पद्मकोपक	१२०	नृप-मन्दिर	४६
नव-स्थान-विधि	६५	नृसिंह	८७
नव-कोष्ठक प्रामाद	१६	नृसिंह-रूप	
नागदन्त	१६	पक्ष-द्वार	१२
नाट्य-शास्त्र	१०६	पक्ष-प्रद्योतक	१२०
नाट्य-शाला	१३	पक्ष-पाप्रीव	२६
नाडी-प्रबोधन-यन्त्र	४६	पक्ष-वञ्चित	१२०
नादी	३०	पक्षोत्क्षेप-क्रिया	१०६
नारद	१६	प्रजापति	८८
नाल	२२, ८२	पट-चित्र	६६
नासा पुट	८२, ६६	पट-भूमि-बन्धन	६८
निगूढ-सधिकरणा	६५	पट-भूमि-बन्धन	६७
निम्बा	६७	पट्टि-श	८५, ८८
निर्घाटन	१११	पट्टि	४८, ५१
निर्घास	६७	प्रणाल	५३, ५६
निर्गूह	११, २६	पञ्च-शास्त्र-द्वार	११
निबन्धन	४८	पञ्चाङ्गी-निग्रह	३१
निवात-मवन	२१	पताक-हस्त	१०१
निवाताञ्जलि	११६	पद-समूह	१
नि श्रेणी	३०		

: जा :

पद्मक	३६, ७४	प्रवर्पण	५३
पद्म-कोश	१०८, १२०	प्रवग	२५
पद्मिनी	६६	प्रायण-वापी	५६
परम्परागत-कोशल	५१	पाठ-शाला	१३
परमाणु	७३	पाण्डर	६६
पराक्षि-मध्य-गामी	१००	पातन-विधि	१०७
परावृत्त	६६, १०३	पात-यन्त्र	५३
परावृत्त-परिक्षेप	६६	पात-समुद्भाय	५३
पर्वताश्रय	७४	पाद-मुद्रा	७६, ६६
परिक्षा	११	पादिका	२०
परिध	८८	पादिका	४२, ८८
परिमण्डल	१११	पादिका	१३
परिवृत्ति	१२०	पान-गृह	५२
परिवर्तक	२०	पारद	७४
परिवेपण	११३	पारस	४६
पल्लव-हस्त	१२०	पारा	४५
पल्लवाकृति	१०६	पाथिव	४६
पुष्पदन्त	११	पाथिव-बीज	२१
प्रत्यग-हीना	६४	पाथिव-भद्र	१२०
प्रत्याय	७५	पाथिव-मङ्गली	६६, १०२
प्रतापन	१०८	पादवर्णित	६४
प्रताप-वर्धन	१८, २१	पाथिव-हीना	१०७
प्रति-नोदित	४७	पाथिव-सूत्र	६२, ६८, १००
प्रतिमा	८१	पाणि	६६
प्रतिसद	२५	पासी	२०
प्रतीहार	३४	पिटक	८५, ८८
प्रत्येक	४७	पिशाच	१०४
प्रदक्षिण-भ्रम	१२	पीठ-मान	८७
प्रदेशिनी	८३	पीताम्बर	६१
प्रवाह	८४, ६२	पीन-बाहु	६१
प्रमारिका	२६	पीन-स्कन्ध	६२
		पीन-पृष्ठ	

पीयूषी	८२	प्रोत्साहन	१०६
पुन्नाग	२६	फ	
पुर-निवेश	११	फलक	१५, ३०, ४१
पुष्कर	४१	त्र	
पुष्करावतंकादि	५५	बधन-विधान	६६
पुष्प-ग्रयन	११७	बन्दि-गण	१२
पुष्पदन्त-संज्ञक-पद	२८	बलराम	८७
पुष्पावचय	११७	बलाका	७४
पुष्प-पुट	११८	बालकी	६२
पुष्प-बीयी	१३	बाल-सधारण	११८
पुष्प-यष्टि	१०८	बाहक-यन्त्र	४८
पुष्पक-भूमिका	५६	बाह्य-लेखा	६८
पुत्रिका-नाडी-प्रबोधन-यन्त्र	४६	बीज	४५
पुष्प-मञ्जरी	११३	बीज-पूरक	११४
पुष्प-वेश्म	१३	बीज-योग	५१
पुरुषाण्डक	७१	ब्रह्मा	१, ८५
पुरुषोत्तम	६२	ब्रह्म-लेखा	६७
पुरोहित-स्थान	१३	ब्रह्म-स्थान	१४
पूग	२५	ब्रह्म-सूत्र	६७, ६८, १००
पौरुषी	७४, ६२	ब्राह्मी-दिशाभिमुख	३२
पृथ्वी-जय	१२, १६	भ	
पृथिवी-तिलक	१८, २०	भद्र	१५, १७, १६, ७४, ६०
प्राकार	११	भद्र-मूर्ति	८६
प्राग्ग्रीव	१७, २६, ३५	भद्रिका	२६
प्राग्ग्रीवक	१८	भद्र-कल्पना	२१
प्रासाद	११	भयानक	७५
प्रेक्षा-संगीत	१२	भर्ता	६६
प्रेम	७५	भरद्वाज	८८
प्रेरक	४७	भल्लाट-पद-वर्ती	११
प्रेरण	४७	भवन-विच्छिन्ति	११
प्रेरित	४७	भाण्डागार	१३

	: ४ ।		६६
भार-गोलक-पीठन	४६	मधुक	६७
भाव व्यक्ति	७५	मध्यम-सूत्र	७३
भावित	२५	मध्यम-पुरुष	७६
भास-कूर्चक	६६	मध्यस्था	२२
भिधुली	६५	मनोरमा	७४
भित्ति-सूत्रक	१०३	मन्द	७
भुवन-सिलक	१६	मन्दिर	१३
भुवन-मण्डन	२०	मन्त्र-योग	३४
भूत-भाष	८८	मन्त्रो	७४, ८७, १११
भूधर	११	मयूर	७४
भूमि-संघन	६५, ६६	मकंद	३५
भूमि-मान	२०	मर्म-वेध-प्रदेशस्थित	२२
भूमि-लेखा	६८	मत्स्य-नामक-छाया	४५
भूलव-द्वन्द्व	४१	महाभूत	१६
भैषज-मन्दिर	३२	महाभोगी	११
भैषजागार	३३, ३५	महीधर-योग-नाम	११
भोजनस्थान	१२	महन्त्र-द्वार	७, ८६
भूग	१२	महेश्वर	६६
भ्रम-चक्र	५८	मान-उन्मान-प्रमाण	७१
भ्रम-भाग	६१	मानुषाण्डक	४६
भ्रमरावली	१६	मास्त-बीज	७४, ६०
भ्रमरक	४६	मासव्य	७४
भ्रू-लतिका	१०६	मिथ	१२, १७
भ्रू-लेखा	६८, १००	मुक्तबोध	१५
		मुख-भद्र	६७
		मुख-लेखा	७१
		मुखाण्डक	१२
मकर	६५, ११५	मुख्य-पद	१६
मण्डल	६६, १०५	मुष्ट	१७
मणि-वन्दन	११६	मुद्र-रेखा-प्रतिदि	५३
मत्तवारण	१५, १६, २२	मुद्गर-हस्त,	५१, ७४
मत्स्यानन्तकरण	२२	मुरज	
मदन-निवास	५८, ६६		
मदला	२२, ५८		

मुष्टिक-स्वस्तिक	१२०	रज	७३
मुसन	८७	रजत	८१
मुष्टण्ठी	८६	रत्न	११५
भेखला	८५	रति-गृह	४६
मचक-प्रभ	८८	रति-केलि-निकेतन	५१
मंदू	८३	रथ-शाला	१२
मंष	७४	रथिका	५२, ६०
मेघ-शृ गिका	४२	रथिका-भ्रमर	५८
मंत्र	३६	रथिका-पट्टि-भ्रम	६०
मौञ्जी	८५	रथना	१११
मृग-चर्म	८५	रश्मि	११२
मृग-कर्ण-प्रदर्शन	११५	रसाम्वाद	११७
मृग-शीर्ष	१०८	रसावर्तन	६५
य		रसोत्तास	५१
यक्ष	८५, ८६	राक्षस	८८
यन्त्राध्याय	४५	राक्षसाण्डक	७१
यन्त्र गुण	४३	राज-गृह	१५
यन्त्र-घटना	४३	राज-भार्ग	११
यन्त्र-चक्र-समूह	५६	राजितासनक	२२
यन्त्र-प्रकार	४३	राज्याभिषेक	५
यन्त्र-बीज	४३	राजधानी	८६
यन्त्र-भ्रमणक-कर्म	५८	राज-निवेश	११
यन्त्र-विधान	४५	राजनिवेश-उपकरण	२३
यन्त्र-शास्त्राधिकार	११	राज-वत्नी	६५
यन्त्र-शुक	५०	राज-पुत्र-गृह	१३
यम	८८, ११५	राज भवन	२५
यव	७३	राज-भाता	३४
यातुधानाण्डक	७१	राज-पासाद	५८
यूका	७३	राज-लक्ष्मी	८७
योगिनी	७६	राज-वेश्म	१५
योज्यायोज्य-व्यवस्था	६५	रुचक	७४, ६०
योध-यन्त्र	५३	रूप-संस्थान	६५
र		रेखा	१७
रगोपजीवी	६५	रेखा-नक्षत्र	६५

	: ४ :		११६
रेखा-कर्म	६५	लीला	२२
रेखा-वर्तन	६६	लुमा-मूल	२२
रेखा-मूष	६६	लुम्बिनी	६५
रेचित	१२०	लेखन	६६, ६८
रेवती	८७	लेखा	८५
रोचना-क्रिया	११०	लेखा-लक्षण	६५
रोचिष्मती-शक्ति	८६	लेखा-मान	६५
रोदनाण्डक	७१	लेख्य	८१
रोम-कूर्च	६७	लेप्य	६६
रोमाङ्ग	११७	लेप्य-कर्म	६६
रोद्र	७५	लेप्य-कर्मादिक	६६
रोद्रा	८५	लेप्य-कर्म-मृत्तिका-निर्माण	७
रोद्र-मूर्ति	८५	लोक-पाल	८६
	८८	लोक-शकर	११३
लक्ष्मी	१८, २१	लोलन	४
लक्ष्मी-विलास	११७	लोल-पिण्डिता	६५
लक्ष्म-निरूपण	८८	वक्रा	८७, ११३
लघु-खड्ग	५७	वज्र	५५
लटभ	६५	वज्रलेपादि	४१
लता	१२०	वत्सनाभक	८७
लता-कर	१३	वन-माला	७१
ल १-मण्डप	६७	वनिताण्डक	५१
लम्ब	४६	विपंची	४८
लम्बन	१००	वरा	८८
लम्ब-भूमि	४६	वरागद	६५
लम्बाकार	४८	वर्ण-कर्म	६५
लभ्यतालानुगामित्व	८१, ६८	वर्तना-क्रम	६६
ललाट	१२०	वर्तना-कूर्चक	३२, ६५
ललित	७६	वर्ति	६५, ११७
ललिता	६६, ६७	वर्तिका	६६
लवण-पिण्ड	५५	वर्तिका-वन्धन	११८
लाक्षा-रस	४६	वर्धमान	१०८
लास्य	७३	वर्धद्वारा-निकर	
लिक्षा			

		: त :		२२
वृक	६५, ७४	शान्ता		७४
विकृता	७६	शादूल		१९
वृत्तक	७४	शाला	६७, ६९	६६
वृत्त-बाहु	६१	शात्मली		१४
वृत्ता	७४, ६२	शालि-भक्त		६६
वृषण	८३	शास्त्र-भवन		६६
व्यन्तर	८६	शिक्षक		६७
व्यस्त-मार्ग	६७	शिक्षा-काल		१०८
व्याधित-भवन	३३	शिक्षिका-भूमि		७४
व्याल	७४, ६५, ११८	शिलर		१०१
व्यायाम-शाला	११	शिलराभय		११०
व्यावत्त	११२	शिरः-पृष्ठ-नेत्रा		३९
व्यावृत्ति	६९, १२२	शिरः-सन्निवेश		३०
श		शिरीष		१३
शकट	७४	शिला		६९
शकिता	७६	शिलायन्त्र-भवन		६८
शक्र-ध्वज	५	शिल्प-कोशल		८५
शक्र-ध्वज-उत्थान	५	शिल्पी		६७
शम्बुक	१६	शिव		७१
शम्या	३९	शिशपा		१०८
शम्या-प्रसर्पण-ध्वज	४९	शिशु-ग्रन्थक		८८
शयनासन-लक्षण	३९	शुक-तुण्ड		४९
शकंरा-मयी	६६	शूल		८७
शरीर-मुद्रा	७९, ६६	शेष-नाग		१११
शस्त्र-कर्मन्ति	१४	श्वेताम्बर-धारी		११
श्लक्षणाता	४८	शोणडोयं		१११
शलाका	२२	शोयं		७५
शशक	७४	शृंग		४६
शशि-लेखा	१११	शृंगार		१०८
शक्र-मर्दन	१८	शृंगारली		४२
शालोट	४२	श्वणु-पाली		३९, ४२
शाटिका	८९	श्रीखण्ड		६७, ११४
शाङ्गल	११६	श्रीपर्णी		
शान्त	७५	श्रीफल		



: ध :

श्रीधरी	५	साची-सूत्र	१००
श्री-निवास	१८, २०, २१	सामन्त	३५
श्रीवत्स	१७	सारदारु	२०
श्रीवृक्ष	१२	सावित्र्य	१२
श्रोणी	१०१	सिंह-वर्ण	३५
		सिंह-चर्म	८६
प		सिंहनाद-यन्त्र	५२
पट्-पद	११०	सीमासिन्द	२५
पट्-स्थान	१०५	मुक्त-योग	३०
पण्मुख	८७	मुषीव (पद)	१२, १३
पड-दारुक	१६	सुभद्रा	२६
स		सुभोगदा	२६
सकुम्भिक-स्तम्भ	२२	सुर-भवन	३५
सकृत्प्रेयं	४५	सुर-मन्दिर	५२
सटालोम	६६	सूची-मुल	१२०
सच्छाद्य	१६	सूत	४५
सन्नाह	३०	सूद-हस्त	४१
सन्निवेश	२१	सूत्र-धार	५१
सभा	१४, ४६	सूत्र-परिमडल	६६
सभाजनाश्रय	१२	सूत्र-विन्यास-क्रिया	१०७
सभा-भवन	२५	सूप-लिप्त	२६
सभाष्टक	२३, २५	सेनाध्यक्ष	३४
सम्बरण	१७	सेवक-यन्त्र	४६
सम-हर्म्यं	३५	सोवर्णी-घण्टा	८८
सम-याद	१०५	सोविलिप्त्य	४८
समुच्छ्राम	५३	संकुचिता	७६
समुद्र-बेला	१०६	संग्रहीत	४७
सरण	४८	सप्राहक	४७
सर्पण	१०६	सप्राम-यन्त्र	५३
सर्वतोभद्र	१२, १७	संच-रूप	८६
सर्व-भद्रा	५	सद्य	१०८
साक	३६	सयुत-हस्त-मुद्रा	१२०
साचीकृत	६६	सम्बित्	४६

दि० शेषांश पृ० ४ पर देखें ।